# सैद्धान्तिकी

समय–समाज के संदर्भों की शोध–पत्रिका

*संपादक*

*डॉ॰ व्रज कुमार पाण्डेय*

*डॉ॰ दीपक कुमार राय*

अलका पब्लिकेशन्स

448, पॉकेट–5, मयूर विहार, फेज–I

दिल्ली–110091

**वर्ष :** 8 **अंक :** 4 ❑ अक्टूबर–दिसम्बर, 2015

# सैद्धान्तिकी

**सैद्धान्तिकी भारत में समाचार पत्रों के निबंधक (आर.एन.आई.) द्वारा अनुमोदित है।**

**संरक्षक:** डॉ० नवल किशोर
डॉ० पी. एन. सिंह
डॉ० एस. त्रिपाठी

**परामर्श:** डॉ० गिरीश मिश्र
डॉ० आर. एन. कुमार
डॉ० जी. पी. ओझा

**संपादक मंडल:** डॉ० शशिकांत राय
डॉ० कृष्ण कुमार सिंह
डॉ० अनिल कुमार सिंह
डॉ० अमर कान्त सिंह

**प्रबंध संपादक:** डॉ० साद बिन हामिद

**साज–सज्जा :** पंकज कुमार झा

**संपादकीय सम्पर्क:**

448, पॉकेट–5, मयूर विहार, फेज–1,
दिल्ली–110091
फोन : 011–22753916, 47541851
e-mail : editorialindia@gmail.com

**मूल्य :** ₹ 1500.00

मुद्रक एवं प्रकाशक शैलेन्द्र सेंगर द्वारा 448, पॉकेट–5, मयूर विहार, फेज–I, दिल्ली–110091 से प्रकाशित तथा शिव शक्ति प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा दिल्ली–32 से मुद्रित

---

**नोट :**

पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

# Editorial

The Government of India (GOI) has expressed its readiness to allow educational traders from all over the world i.e. 160 member-nations of World Trade Organisation (WTO) to establish colleges, universities and other technical or professional institutions in India as commercial ventures. This is done in form of submitting 'offers' to WTO. Once India's education sector comes under this regime, the people's right to education, for which the GOI should be democratically accountable, will be completely dismantled. The unbridled privatization and commercialization demanded by the WTO-GATS regime would not only deny access to the poor but also to those who may afford to purchase it in the market since even they would not get it worth the name. This is because thorough commercialization will result in degradation of education, course content and pedagogical practices. The academic autonomy, independent research and democratic spaces in our educational institutions will be eroded. The WTO regime considers education as a tradable service and a commodity and student as a customer in clear legal terms.

Once the global commitment for market access in education comes into force, essentially speaking, the GOI would be bound to protect the interests of foreign and domestic corporate houses who pursue trade in education against the interests of the students and teachers of the country. If the people of India, particularly students and teachers, fail to bring pressure on the government to withdraw the 'offers' given to WTO in higher education sector immediately, our education system will be entangled with the WTO regime forever and be doomed.

Technically speaking, the GOI had submitted its 'offers' for 'Market Access' in 'Higher Education Sub-Sector' to WTO way back in August 2005 as a part of Doha Round Trade Negotiations which started in 2001 in Doha, Qatar. However, they have not yet become 'commitments' as the trade negotiations could not be concluded for the last 10 years. But now there is a fresh momentum in the negotiations. Plans are on to expedite the process of the ongoing trade negotiations in WTO from the coming July and successfully conclude them in the ensuing Tenth Ministerial Conference to be held at Nairobi, Kenya from December 15 to 18 this very year. This Conference aims at significantly widening the jurisdiction and scope of WTO. If the Indian government does not withdraw its 'offers' given to WTO in Higher Education Sector well in advance of the Conference, these would automatically become irrevocable 'commitments' on the part of the nation, with far-reaching implications.

***—Editor***

# इस अंक में

## इतिहास


प्राचीन भारत में व्यावसायिक शिक्षा–*शुभेश कुमार मिश्र* 7

औपनिवेशिक बिहार में शिक्षा का वित्त प्रबंधन–*सुजाता कुमारी सिंह* 12

अंग्रेजों से पूर्व भारत में शिक्षा व्यवस्था: एक ऐतिहासिक विश्लेषण–*डॉ० अर्चना कुमारी साह* 15

चम्पारण सत्याग्रह और नीलहा आन्दोलन–*रवि रंजन कुमार* 26

चम्पारण-आन्दोलन–*रीना कुमारी* 29

मुगलकालीन चित्रकला–*मोनिका कुमारी* 32

मौर्य शासन काल में सामाजिक व्यवस्था–*प्रशांत शंकर सिंह* 36

भारत में ब्रिटिश राज्य की आरंभिक संरचना–*सोनी शर्मा* 39

स्वतंत्रता आंदोलन और बिहार के किसान–*डॉ० मीना सिन्हा* 43

वैदिक काल के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन–*पंकज कुमार पाण्डेय* 46


## राजनीति विज्ञान


प्लेटो का न्याय सिद्धान्त–*नीतू शर्मा* 50

लोकनायक जयप्रकाश नारायण और सम्पूर्ण क्रान्ति–*डॉ० नीतू कुमारी* 53


## संस्कृत


महाभारतीयराजनीतेरपेक्षया भारविनीतेर्वैशिष्ट्यम्–*डॉ० चिन्मय चट्टोपाध्याय* 56

'वाल्मीकि रामायण में ज्योर्तिविज्ञान एक अनुशीलन'–*डॉ० प्रसून दत्त सिंह* 60

वेदों में विश्वबंधुत्व की भावना–*डॉ० उमेश प्रसाद* 64


## हिन्दी


'उर्वशी' में सौन्दर्य-भावना के विभिन्न आयाम–*शिल्पी कुमारी* 67

प्रेमचन्द्र की परम्परा का मतलब–*चन्द्रशेखर कुशवाहा* 72

तुलसी-रामायण और पम्प-रामायण में साम्य-वैषम्य–*स्वाति कुमारी* 74

## पत्रकारिता

हिन्दी पत्रकारिता में गिरते भाषायी स्तर की प्रवृत्तियों का अध्ययन–*शशि प्रकाश राय* 76

काम के दौरान पत्रकारों में तनाव का अध्ययन
(दिल्ली एवं एनसीआर से प्रकाशित प्रमुख अखबार एवं चौनलों के विशेष संदर्भ में)–*अनिल निगम* 79

समाचार पत्रिकाओं का अंतर्वस्तु विश्लेषण
(इंडिया टुडे, शुक्रवार, आउटलुक हिंदी के विशेष संदर्भ में)–*ओमशंकर गुप्ता* 84

## समाज कार्य

94

विकलांग कल्याण हेतु उपाय एवं सुझाव–*हर्षुल ब्रजेश देशमुख* 94

## समाज विज्ञान

वाल्मीकिकालीन शासन एवं प्रशासन–*डॉ० पवन कुमार शर्मा* 101

## समाज शास्त्र

भारत में बढ़ती बेरोजगारी एक सामाजिक समस्या–*डॉ० प्रेमलता* 115

## दर्शन शास्त्र

कैवल्य की अवधारणा: सांख्य-योग के विशेष संदर्भ में–*डॉ० साधना मंडल* 119

## शिक्षा शास्त्र

"लोकतंत्र में सूचना का अधिकार"–*मुकुन्द प्रसाद सिंह* 122

## मनोविज्ञान

आधुनिक शिक्षा पद्धति में नवाचार–*डॉ० मनीषा बासल* 127

बाल पोषण पर महिला आधुनिकता का प्रभाव–*सीमा पाण्डेय* 130

## अर्थशास्त्र

बिहार की कृषि: प्रगति, समस्याएँ एवं प्राथमिकता–*विमलेश कुमार पाण्डेय* 133

## HISTORY

The Religious Culture of the Old Jaipur—*Vikas kumar* 137
Dr. Ambedkar on Buddhist Conversion—*Tej Pratap Azad* 141

## PSYCHOLOGY

Parent Child Relationship as Related to Achievement Level, Gender and Religion
—*Prof. Bharati Roy & Dr. Anita Arora.* 143

## FMS

Child Labor in Indian Carpet Industry and Effectiveness of Labeling Scheme
—*M. Rashid Malik & Dr Rekha Prasad* 147

## ECONOMICS

Emerging Market Economics—*Rakesh Kumar* 155

## COMMERCE

Emerging Business Models in E-Commerce—*Prashant Saurabh* 157

## ENGLISH

Historic Aspects of Stenography—*Praveen Bhardwaj* 163
Inter-Semiotic Translation: Shakespeare on Screen—*Yashodhara Prasad* 166

# प्राचीन भारत में व्यावसायिक शिक्षा

**शुभेश कुमार मिश्र**

प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से प्राचीन भारत में प्रचलित कतिपय व्यावसायिक शिक्षाओं के स्वरूप पर विमर्श उपस्थापित किया जा रहा है।

**सारांश**- भारत का प्राचीन काल अपने व्यावसायिक शिक्षण के क्षेत्र में अत्यन्त समुन्नत रहा है। चिकित्सा के क्षेत्र मे चरक, सुश्रुत, जीवक, वाग्भट्ट आदि आचार्यों ने न केवल भैषज्य के क्षेत्र में अपितु शल्य चिकित्सा के क्षेत्र में आश्चर्यजनक उपलब्धियाँ प्राप्त की थीं। धनुर्वेद की शिक्षा के अन्तर्गत सैन्य-प्रशिक्षण, अस्त्र-शस्त्र का निर्माण एवं उनके प्रयोग की शिक्षा सम्मिलित थी। व्यापार से सम्बद्ध शिक्षा का भी स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर समुचित प्रबन्ध था। मूर्त्तिकला, वास्तुकला, चित्रकला, काष्ठकला, कृषि, नौकाकला, विमानकला आदि व्यावसायिक शिक्षा का भी समुन्नत रूप दृष्टिगोचर होता है। नृत्य-गीतादि ललित कलाओं तथा शिल्पविद्या के प्रगत-रूप प्रामाणिकता से प्राप्त होते हैं। इन व्यावसायिक शिक्षाओं के कुशलता पूर्वक प्रयोग एवं व्यवहार से पूर्व व्यावहारिक प्रशिक्षण भी प्रशिक्षुवृत्ति द्वारा प्रदान किया जाता था। इन विषयों का वर्तमान सन्दर्भ में प्रस्तुतीकरण उपयोगी प्रतीत होता है।

**महत्वपूर्ण पद**- प्रशिक्षुवृत्ति, व्यावसायिक शिक्षा, भैषज्य, धनुर्वेद, शल्यचिकित्सा।

प्राचीन भारतीय शिक्षा-व्यवस्था को समझने के लिए यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम मानव और मानवधर्म के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझ लिया जाए। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समन्वित रूप मानव है और ''यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः सो धर्मः'' अर्थात् जिससे सांसारिक अभ्युदय, विकास, समुन्नति और निश्रेयस्- अनासक्ति भाव रखते हुए ब्रह्म साक्षात्कार या ज्ञान हो जाए, वही धर्म है।[1] अतः प्राचीन भरतीय शिक्षा का शुभारंभ ही संसार की लोक यात्रा को सुगम, सुखद और वैभवपूर्ण बनाने हेतु सर्वप्रथम ''शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्''[2]-धर्म के साधन रूप शरीर को ठीक करने के लिए आष्टांगिक योग की शिक्षा दी जाती थी। विदुरनीति में महाराज धृतराष्ट्र द्वारा पूछे गये प्रश्न का विदुर ने उत्तर दिया था- हे राजन्! इस लोक में छः सुख हैं- (1) नित्य धन का आगमन (2) उत्तम स्वास्थ्य (3) प्रिया भार्या (4) मधुर भाषिणी भार्या (5) नियन्त्रित सन्तति और (6) अर्थकरी विद्या।[3] यहाँ अर्थकरी विद्या निश्चित रूप से व्यावसायिक शिक्षा की ओर संकेत करती है। वैदिक काल से ही शिक्षा का मूल तात्पर्य प्रकाश के उस स्रोत से है जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों का मार्ग प्रशस्त करता है।[4] विद्या को तृतीय नेत्र भी कहा गया है।[5] शिक्षा का व्यापक क्षेत्र था। शिक्षा की महत्ता अनेक प्रकार से सिद्ध की गई है। भर्तृहरि अपने नीतिशतक में कहते हैं- ''विद्या मनुष्य का साफ-सुथरा निखरा सुन्दर रूप है, छिपा हुआ गुप्त धन है। प्रवास का साथी है, सबसे बड़ा सौभाग्य है, राजाओं के बीच विद्या की ही पूजा होती है। अतः विद्या के बिना मनुष्य पशु है।''[6] प्राचीन भारतीय शिक्षा; ईश्वर भक्ति, चरित्र निर्माण, धर्म में विश्वास, व्यक्तित्व विकास, नागरिक एवं सामाजिक कर्त्तव्य ज्ञान, राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण आदि उद्देश्यों से संबलित थी। विद्याध्ययन का समय सामान्यतः 25 वर्ष के अन्दर निर्धारित था। सौ वर्षों की आयु प्रमाण मानकर ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम की व्यवस्था थी। प्रथम में विद्या का और द्वितीय में धन अर्जन का महत्व था।[7] पहले जो कहा गया कि जिस विधि से वैयक्तिक एवं सामाजिक अभ्युदय, प्रगति या विकास हो, उस विधि को सत्य निष्ठा से जानना धर्म का प्राथमिक अंग था। अतः ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में जिस क्षेत्र में जो आजीविका अपनाना चाहता था उसके अनुसार व्यावसायिक शिक्षा चयन कर अपना अध्ययन पूर्ण करता था। क्योंकि प्राचीन भारतीय शिक्षा का एक महान उद्देश्य सामाजिक योग्यता एवं सुख की वृद्धि के रूप में था। विभिन्न शास्त्रों में व्यवसायों और उद्योगों की शिक्षा के द्वारा इसकी पूर्त्ति की योजना की गई थी। शिक्षा का उद्देश्य केवल संस्कृति ज्ञान या मानसिक बौद्धिक बल की वृद्धि ही नहीं था, अपितु प्रत्येक ब्रह्मचारी को उस व्यवसाय की शिक्षा देना भी था जो अपने जीवन में वह अपनाता था। समाज ने कार्य विभाजन का सिद्धान्त मान लिया था जो उत्तर काल में प्रधान रूप से पैतृक आधार पर रूढ हो गया। असाधारण प्रतिभा वाले व्यक्ति सदा

**एम.ए. (इतिहास), 515, ए-ब्लाक, पश्चिमाबाद, जे०एन०यू०, नई दिल्ली**

उसी व्यवसाय को अपनाते थे, जिसमें उनकी रूचि होती थी। भारतीय इतिहास में हमें उदाहरण प्राप्त होते हैं जब ब्राह्मण और वैश्य राज्य करते थे और क्षत्रिय तथा शूद्र दार्शनिक एवं धार्मिक आचार्य होते थे। कुछ जातकों में वर्णित है कि जोतीपाल जो कि बनारस के राजा के पुरोहित का पुत्र था; तक्षशिला से सैन्य शास्त्र में अत्यंत निपुण होकर वापस आया था।[8] कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी विद्याओं को चार वर्गों में बाँटा गया है- त्रयी, आन्वीक्षिकी, वार्त्ता और दण्डनीति।[9] इनमें वार्त्ता में उन सब विद्याओं का समावेश हो जाता था जिनका संबंध धन के उपार्जन या आर्थिक उत्पादन से था।[10]

बौद्ध साहित्य में भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिससे सिद्ध होता है कि व्यावसायिक और औद्योगिक शिक्षा की उपेक्षा नहीं की गई थी। बौद्धकालीन विहार, स्तूप और चैत्य उस युग की भवन निर्माण कला के प्रतीक हैं जो इस बात को प्रमाणित करते हैं कि इस कला में उच्च कोटि के प्रशिक्षण की व्यवस्था थी। हालांकि प्राचीन संस्कृत और बौद्ध साहित्य में इससे संबन्धित जो सामग्री मिलती है वह इतनी पर्याप्त नहीं है कि अलग-अलग कालों में व्यावसायिक शिक्षा के प्रबंध और प्रगति का निरूपण किया जा सके। अत: शोध पत्र की सीमा को ध्यान में रखते हुए यहाँ मोटे तौर पर प्राचीन भारत में व्यावसायिक शिक्षा के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

## व्यावसायिक शिक्षा का स्वरूप:-

**चिकित्साशास्त्र:** चिकित्साशास्त्र के क्षेत्र में भारत ने बहुत पूर्व ही उन्नति प्राप्त कर ली थी। सर्पदंश की चिकित्सा में भारतीयों की विशिष्ट प्रतिभा की प्रशंसा सिकंदर के साथियों ने भी की है। इससे ज्ञात होता है कि ई.पू. चतुर्थ शताब्दी में ही चिकित्साशास्त्र का विकास हो चुका था। तक्षाशिला में चिकित्साशास्त्र की विशिष्ट शिक्षा दी जाती थी। प्रख्यात चिकित्सक जीवक ने यही शिक्षा पाई थी। यहाँ के चिकित्सक निदान के साथ ही शल्य चिकित्सा भी करते थे। उसमें इनकी ख्याति बहुत अधिक थी। इसका मूल कारण उनका उपयुक्त प्रशिक्षण था। चरक संहिता और सुश्रुत संहिता प्राचीन भारतीय चिकित्सा शास्त्र के दो प्रामाणिक ग्रंथ हैं। चरक के काल में चिकित्सकीय पेशे को हर वर्ण के लोग अपना सकते थे। इसी उदारवादी दृष्टिकोण के कारण आयुर्वेद का समुचित विकास हुआ था।

चिकित्सा शास्त्र का अध्यापन आचार्य अपने दायित्व से किया करते थे। आयुर्वेद के विद्यार्थी को गुरूकुल में प्रवेश से पूर्व विशेष उपनयन संस्कार से संपन्न होना पड़ता था। इसमें शारीरिक और नैतिक योग्यताओं पर बल दिया जाता था। छात्रों के लिए संस्कृत का ज्ञान अनिवार्य था। आयुर्वेदशास्त्र के 8 अंग थे -शल्य, शालाक्य, काय, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतंत्र, रसायन और वाजीकरण।[11] छात्र विभिन्न अंगों के विशेषज्ञ आचार्यों से शिक्षा ग्रहण करते थे। भारत के प्राचीन शल्य चिकित्सक नाक, कान और होठों के पुनर्निर्माण में सक्षम थे। इस दृष्टि से भारतीय शल्य चिकित्सा यूरोपीय शल्य चिकित्सा से 18वीं सदी तक आगे रही।[12] छात्रों को क्रियात्मक तथा सैद्धांतिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। चिकित्सा विज्ञान में वनस्पतियों का क्रियात्मक ज्ञान कराने के अतिरिक्त प्रकृति का अध्ययन भी विशेष रूप से कराया जाता था। कठिन विषयों पर विशेष चर्चा कराई जाती थी। शल्य चिकित्सा में नौसिखुओं को तरबूज, खीरे, लौकी जैसी वस्तुओं पर शल्य उपकरणों का प्रयोग कराया जाता था। मृत पशुओं के शवों पर धमनियों में छेद करने का प्रशिक्षण दिया जाता था। जख्म की सिलाई पहले चमड़े की सिलाई के साथ सिखाई जाती थी। घास-फूस के मानव पुतले पर पट्टी देने का अभ्यास कराया जाता था।[13] शरीर में धंसे बाण को निकालने की विधि, वमन, शौच, बस्ती, शवच्छेदन, मांसपेशियों, हड्डियों का ज्ञान तथा सम्पूर्ण शरीर रचना विज्ञान की जानकारी बड़ी प्रामाणिकता से दी जाती थी।

शल्य चिकित्सा तथा औषधि प्रदान की व्यावहारिक शिक्षा छात्र अपने आचार्य के साथ-साथ चिकित्सालय से जुड़ कर प्राप्त करते थे। पाटलिपुत्र सदृश नगरों में बड़े-बड़े चिकित्सालय थे। 8वीं सदी में अब्बासी खलीफाओं ने अपने देश के चिकित्सालयों के संघटन के लिए भारतीय चिकित्सकों को बुलाया था। चीनी यात्री फाहियान तथा युवाङ्च्वाङ् ने औषधालयों की सुचारू व्यवस्था देखी थी। किन्तु दु:ख की बात है कि इसके बारे में कोई विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है।

यह विज्ञान इतना विकसित था कि लंबी अवधि तक इसकी शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी। डॉ. अल्तेकर का मानना है कि 7-8 वर्ष कम से कम जरूर लगते होंगे।[14] चरक ओर सुश्रुत का आग्रह है कि अयोग्य चिकित्सकों को चिकित्सा कार्य हेतु अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। इससे प्रतीत होता है कि पाठ्यक्रम समाप्त होने पर दक्षता परीक्षा होती रही होगी।

उस समय शिक्षण का कोई शुल्क नहीं होता था। गुरू या आचार्य का संबंध शिष्य के साथ पिता-पुत्र का था। तक्षशिला में कुछ शुल्क लेने की प्रथा थी जो स्वर्ण के रूप में था। किंतु जो नहीं दे सकते थे, गुरू उनको भी पढ़ाते थे। ऐसे छात्र गुरु के घर सेवा करके विद्याध्ययन करते थे। अध्यापक प्राय: ब्राह्मण, भिक्षु और वानप्रस्थ होते थे। नालंदा और विक्रमशिला में अध्यापक

भिक्षु ही होते थे। इनके निर्वाह का प्रबंध विद्यालय की ओर से ही रहता था। विद्यालय की आय राजा के दान से ही हुआ करती थी।

समावर्तन के समय छात्रों को दिए जाने वाले उद्‌बोधन का महत्वपूर्ण भाग निम्न है–[15]

**''पूर्वगर्वेर्थोपाहरणे यथाशक्ति प्रयतितव्यं कर्म सिद्धिमर्थसिद्धि यशोलाभाञ्च प्रेत्य च स्वर्गमिच्छता भिषजा। ..... अहरहरुत्तिष्ठवाचोपवशिता च सर्वात्मना चातुराणामारोग्ये प्रयतितव्यम्..... अनुप्रविश्य च वाङ्‌मनो बुद्धिन्द्रियाणि क्वचित प्रणिधातव्यानि अन्यत्रातुरोपकारार्थादातुरगतेषु अन्येषु भावेषु न चातुर-कुल प्रवृत्यो बहिर्निश्चारयितव्याः**

अर्थात्–तुम्हें अपने तन–मन–धन से रोगी के स्वास्थ्य के लिए प्रयत्न करना चाहिए। स्वयं के जीवन के मूल्य पर भी रोगी को धोखा नहीं देना चाहिए... विचारपूर्ण होना चाहिए तथा सर्वदा अपने ज्ञान की संवृद्धि में तत्पर रहना चाहिए... रोगी के घर में अपने मन–बुद्धि और इन्द्रियों को रोगी की चिकित्सा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं लगाना चाहिए... रोगी के घर की बातों की चर्चा बाहर नहीं करनी चाहिए तथा उसकी अवस्था का परिचय उसे बिल्कुल नहीं देना चाहिए जो उसे हानि पहुँचा सकता हो।

पशु आयुर्वेद का भी समाज में प्रचार था। शालिहोत्र इस चिकित्सा के आचार्य माने जाते हैं। ई.पू. तीसरी शताब्दी में अशोक ने पशु चिकित्सालय खोले थे जिनमें पर्याप्त संख्या में पशु चिकित्सक थे। सैनिक अधिकारी इन्हें हाथी और घोड़ों की चिकित्सा के लिए नियुक्त करते थे।[16] इन विषयों पर पुस्तकें भी थीं। किन्तु इसके लिए किसी विद्यालय का कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ है, न ही यह ज्ञात है कि इसके चिकित्सकों को कैसे शिक्षा दी जाती थीं। संभवत: इसकी शिक्षा व्यक्तिगत रूप से वंशगत होती रही होगी।

आयुर्वेद की शिक्षा 10वीं शताब्दी तक तो भारत में पर्याप्त समृद्ध रही, किंतु उसके बाद संकीर्ण शुद्धि की भावना मजबूत होने से शव स्पर्श को त्याज्य समझा जाने लगा तथा शवच्छेद क्रमश: बंद हो गया। चिकित्सक को गंदी बीमारियों से ग्रस्त तथा मृतप्राय रोगियों को स्पर्श करना पड़ता था। अत: उनका व्यवसाय हेय समझा जाने लगा जिससे इसकी प्रगति पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा।

**सैनिक शिक्षा:–** वैदिक आर्य दस्युओं से युद्ध करते थे। अत: सैनिक व्यवसाय लोकप्रिय था। अश्वारोहण तथा रथ परिचालन में आर्यों की श्रेष्ठता ही उनकी विजय का मूल–मंत्र थी। धनुर्वेद यजुर्वेद का उपवेद है। अत: धनुर्वेद के अध्यापन की व्यवस्था अवश्य रही होगी, किंतु प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं होता।

अर्थशास्त्र में यह विवरण मिलता है कि प्रत्येक ग्रामवासी को अपने जान–माल की रक्षा के लिए हर विधि से सक्षम और प्रशिक्षित होना पड़ता था। वे गाँव के अनुभवी लोगों से धनुष–बाण, लाठी, बर्छा आदि चलाने की कला सीखते थे। यवन इतिहासकारों ने विवरण दिया है कि सिकंदर के आक्रमण के समय राजकीय सेना की अपेक्षा ग्रामीणों का सैनिक अभ्यास अच्छा था। पंजाब के जनपदों में वयस्कों को उच्च सैनिक शिक्षा दी जाती थी। तक्षाशिला सैनिक शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। ब्राह्मण भी सैन्य शिक्षा लेते थे। सुतसोम जातक के अनुसार धनुर्विद्या के एक विद्यालय में देश के विभिन्न भागों से 103 राजकुमार शिक्षा प्राप्त कर रहे थे।[17] वस्तुत: यहाँ देश के प्रत्येक भाग से ब्राह्मण और क्षत्रिय सैन्य प्रशिक्षण लेने आया करते थे। वशिष्ठकृत धनुर्वेद संहिता के अनुसार सैन्य प्रशिक्षण हेतु प्रवेश से पूर्व भी उपनयन संस्कार कराया जाता था। शिक्षक के लिए यह आवश्यक था कि वह धनुष, गदा, खड्‌ग, चक्र, भाला, मल्लयुद्ध, खड़िका के प्रयोग में सिद्धहस्त हो। हालांकि तक्षाशिला में सैन्य प्रशिक्षण के लिए शुल्क भी लिया जाता था जो सामान्यतया चाँदी या तांबे के 1000 सिक्के होते थे। अत: यह शिक्षा सभी वर्गों के लिए न होकर सम्पन्न वर्गों के लिए ही सुलभ थी।[18]

सैनिक शिक्षा के संबन्ध में प्रथम सहस्राब्दी के भारतीय साहित्य और उत्कीर्ण लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि गाँवों में पंचायतें ही प्रारंभिक सैनिक शिक्षा देती थीं। राजा की सेना के कुछ विशेषज्ञ गाँव में ही सैनिक विद्यालय खोल लेते थे जिसमें अधिकांश इच्छुक युवक भर्ती हो जाते थे तथा उच्चतर शिक्षा वे आचार्य देते थे, जिनका यही व्यवसाय था। आदिकाल में सामान्य जनों की भाँति राजकुमार तक्षशिला जाते रहे किंतु ई.पू. तीसरी शताब्दी में उनके लिए विशेष पाठशालाएँ खुलने लगीं जिसमें उनके साथ मंत्रियों और अन्य राजकीय कर्मचारियों के बच्चे भी पढ़ते थे।

**व्यापारिक शिक्षा:–** भारत के सामाजिक उत्कर्ष में प्रधान आर्थिक तत्व वाणिज्य का सर्वाधिक महत्व था। वार्ता के अन्तर्गत कृषि और व्यवसाय के साथ वाणिज्य का भी योग था, जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने आर्थिक जीवन को सबल और सशक्त बनाता था।

प्राचीन भारत में मनुस्मृति[19] में वैश्यों के लिए जिस शिक्षा का स्वरूप बताया गया है और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पण्याध्यक्ष की जो योग्यता निर्दिष्ट है,[20] उससे तत्कालीन व्यापारिक शिक्षा का

सहज अनुमान होता है। व्यापार शिक्षा के छात्रों को सबसे पहले व्यापार योग्य वस्तुओं का उत्पादन कहाँ होता है? उनके कितने भेद प्रभेद होते हैं आदि का ज्ञान कराया जाता था। व्यापारिक भूगोल की जानकारी दी जाती थी। वस्तुओं को ले आने और ले जाने के यातायात के सुगम मार्ग की शिक्षा दी जाती थी। कर की बचत के विभिन्न उपाय बताये जाते थे। वस्तुओं के विक्रय का क्षेत्र या बाजार की जानकारी दी जाती थी। बाजार के क्षेत्रों में निवासियों की आवश्यकता के अनुरूप वस्तुओं की आपूर्ति जन्य जानकारी और विशेषज्ञता प्रदान की जाती थी। तत्कालीन व्यापारिक शिक्षा में मेलों, उत्सवों तथा तीर्थयात्राओं को ध्यान में रखकर तत्संबंधित जानकारी दी जाती थी। छात्रों को विभिन्न जनपदों में क्रय-विक्रय के नियमों और स्थिति-परिस्थिति का तुलनात्मक अध्ययन कराया जाता था। विभिन्न स्थानों के वस्तु विनिमय के मूल्यों का भी ज्ञान कराया जाता था। व्यावहारिक व्यापार आदि के प्रशिक्षण के लिए गणित का ज्ञान होना आवश्यक था। जिन छात्रों को अंत: प्रांतीय व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शिक्षा लेनी होती थी, उन्हें उन प्रांतों और राष्ट्रों की भाषा का बोध कराया जाता रहा होगा। उनके पाठ्यक्रम में बैंकिंग के सिद्धांत भी थे। वैश्यों का कितना प्रतिशत छात्र समूह व्यापारिक शिक्षा लेता था इसका सही विवरण प्राप्त नहीं होता है। किंतु यह तय है कि प्रतिष्ठित उच्च वैश्य वर्ग के लोग अपनी सुविधानुसार इस प्रकार की शिक्षा लेते थे। सामान्य वैश्यों को अपने परिवारों से इस प्रकार कि शिक्षा मिल जाती रही होगी।

कृषि विज्ञान एवं पशुपालन की व्यावहारिक शिक्षा ऋषि आश्रमों और गुरूकुलों में दी जाती थी। कृषि शिक्षा का उल्लेख तक्षशिला की शिक्षा व्यवस्था में भी मिलता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि इन दोनो विषयों की शिक्षा नई पीढ़ी को परिवारों में वंशगत और व्यक्तिगत रूप से प्राप्त होती थी।

**कला, शिल्प और कारीगरी की शिक्षा:-** प्राचीन भारत में मूर्ति, चित्र, काष्ठकला, नौकाकला आदि कलाओं की व्यावसायिक शिक्षा का प्रबंध था। मिलिंदपञ्हो में 75 व्यवसायों की सूची का उल्लेख है जिनमें प्राय: 60 व्यवसाय अनके प्रकार के हस्तशिल्पों से जुड़े हुए थे।[21] प्राचीन भारत में श्रेणियाँ विभिन्न प्रकार के शिल्पों के प्रशिक्षण हेतु औद्योगिक प्रशिक्षण केन्द्र के रूप में कार्य करते थीं।[22] एक ही पेशे से जुड़े कारीगर जब अपने व्यवसायगत संगठन की स्थापना करते थे तो वह संगठन ही श्रेणी कहलाता था। संगठन वंशानुगत पेशों को महत्व देता था। संगठन के माध्यम से अनेक स्थितियों में पिता के अधीन पुत्र प्रशिक्षण पाता था। प्रत्येक वृत्ति या पेशे में स्थानीय रूप शुद्धता और कुशलता का भी विकास होता था। लाभकारी होने के कारण अधिकांश व्यवसायों के शिल्पियों ने अपनी श्रेणियाँ बना ली थीं। प्रमुख श्रेणियाँ कुंभकारों, धातुकारों और काष्ठकारों की थीं। उनके आकार का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि सद्दलपुत्त नामक एक धनी कुंभकार, मिट्टी के बर्तन बनाने की 500 कार्यशालाओं का स्वामी था, उसकी अपनी वितरण व्यवस्था थी और उसके पास बहुत सी नौकाएँ थीं जो तैयार मिट्टी के बर्तनों को कार्यशालाओं से गंगा पर स्थित विभिन्न बंदरगाहों तक ले जाती थीं।[23] प्राचीन काल में जाति प्रथा के कई अवगुणों के बावजूद भी इसने कार्य की गुणवत्ता को बरकरार रखा। कुशलता और योग्यता वंशानुगत तरीके से पुत्र को पिता से प्राप्त हो जाया करती थी। प्रत्येक कारीगर और प्रत्येक जाति अपने कार्य के लिए समाज के प्रति कर्त्तव्यबद्ध थी।[24]

प्राचीन भारत में प्रशिक्षुवृत्ति के द्वारा विभिन्न शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत छात्र को निश्चित वर्षों तक अपने आचार्य के साथ कार्य करने की स्वीकृति देनी पड़ती थी। यह एक प्रकार का बन्ध होता था। इस नियम का कड़ाई से पालन होता था। आचार्य अपने शिष्य के भोजन और आवास की चिन्ता करते थे। वे छात्र को पुत्रवत् मानते थे। विभिन्न शिल्पों के लिए अलग-अलग काल निर्धारण रहा होगा। शिक्षा सम्पन्न होने पर भी यह काल समाप्त नहीं होता था क्योंकि आचार्य छात्र की शिक्षा में जो श्रम और भोजन-वस्त्र आवासादि में व्यय करते थे उनकी पूर्ति के लिए कुछ वर्षों तक प्रशिक्षित छात्र को अपने शिल्प का व्यापारिक लाभ आचार्य को अर्पित करना पड़ता था। यदि बिना समुचित कारण के छात्र आचार्य को छोड़ने की इच्छा करे तो उसे शर्त की अवधि तक आचार्य के साथ रहने को बाध्य किया जा सकता था। यदि आचार्य शिक्षा देने में आलस्य या प्रमाद करे तो शिष्य दूसरे आचार्य के पास जाने के लिए स्वतन्त्र था।[25]

मूर्तिकला, चित्रकला तथा वास्तुकला में भी भारतीयों ने अच्छी प्रगति की थी। अजन्ता के चित्र, विभिन्न स्तूप तथा विहार, देवी-देवताओं की सुंदर प्रतिमाएँ, दक्षिण भारत तथा उड़ीसा के विशाल मंदिर आदि इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। अत: इनके प्रशिक्षण का उचित प्रबन्ध अवश्य रहा होगा। इन कलाओं के सिद्धहस्त कारीगरों को संस्कृत का भी पर्याप्त ज्ञान कराया जाता था। पुराण एवं मूर्तिशास्त्र के ग्रंथ पढ़ाए जाते थे क्योंकि उनमें मूर्तियों का यथार्थ वर्णन आता था। वास्तुकारों को गणित की शिक्षा भी दी जाती थी। 8वीं, 9वीं शताब्दी तक तो उच्च वर्ग के कलाकारों को पर्याप्त

साहित्यिक शिक्षा मिलती रही, किन्तु बाद में कला और शिल्प का समाज में मान गिर जाने से कलाकारों की अवनति होने लगी।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में व्यावसायिक शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी। व्यवसाय की शिक्षा जीवन की व्यावहारिक और वास्तविक समस्याओं की पृष्ठभूमि में ही दी जाती थी। उत्तम कारीगर साहित्यिक और व्यावसायिक दोनों शिक्षाएँ प्राप्त करते थे। ब्राह्मण खनिजशास्त्र, धातु विज्ञान, आयुर्वेद और सैनिक विज्ञान आदि विषयों में कुशल होते थे। तन्तुवाय साहित्य, लोकगीत, ज्योतिष और धनुर्विद्या शौक से पढ़ते थे। बाद में कार्य विभाजन के द्वारा विभिन्न शिल्पों और व्यवसायों में लोग निपुणता प्राप्त करने लगे जिससे सामाजिक प्रगति को बल मिला तथा समाज में संतुलन भी बना रहा। किंतु 9वीं शताब्दी से औद्योगिक वर्गों में जब से अपने पेशे की शिक्षा ही सबकुछ हो गई, उनका मानसिक स्तर भी क्रमश: नीचे होने लगा। इसके अनिवार्य परिणाम स्वरूप 9वीं शताब्दी के बाद भारत में साहित्य, संगीत, उपयोगी और औद्योगिक कलाओं का विकास अवरूद्ध हो गया। इस काल के पश्चात् भारतीय मूर्ति-कला, चित्रकला, आकार-विज्ञान और शल्य चिकित्सा आदि किसी क्षेत्र में किसी प्रकार की विशेष प्रगति के दर्शन नहीं होते। संकीर्ण रूढ़िवादी सोंच का समाज में प्रभाव बढ़ गया, जिसमें इस प्रकार कि विद्याओं को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। परिणामत: इन सब का पतन प्रारम्भ हो गया।

## संदर्भ सूची:


1. वैशेषिक सूत्रम् - 1/1/2 संपादक-मुनिश्री जम्बूविजय जी, ओरियेण्टल इंस्ट्टीट्यूट, बड़ौदा, 1961, पृष्ठ-1
2. कुमारसंभवम् - 5/33 अनुवादक-आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 2006, पृष्ठ 21
3. विदुरनीति, -1/87 गीताप्रेस, गोरखपुर, 2011, पृष्ठ-18
4. सुभाषित रत्न सन्दोह, जैन संस्कृति संरक्षण संघ प्रकाशन, शोलापुर, 1980, पृष्ठ-194
5. शांति पर्व-277/35 महाभारत सूक्ति सुधा, संपादक- सुभाष विद्यालंकार, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृष्ठ-579
6. भर्तृहरिनीति शतकम-20 (पूर्वार्द्ध) प्रधान संपादक-राधावल्लभ त्रिपाठी, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली-2009, पृष्ठ-139
7. प्रथमेनार्जिता विद्या द्वितीयेनार्जितं धनम्-पंचतंत्रम् (सं) रामचन्द्र झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1982, पृष्ठ-173
8. चैटर्जी, मिताली एजुकेशन इन एंशियेंट इंडिया, डी.के. प्रिंटवर्ल्ड (प्रा.) लिमिटेड, 1999, पृष्ठ-169
9. कौटिलीय अर्थशास्त्र 1/1 व्याख्याकार-वाचस्पति गैरोला, चौरवम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2013, पृष्ठ-8
10. विद्यालंकार, सत्यकेतु, प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन, सरस्वती सदन, नई दिल्ली, 2011, पृष्ठ-270
11. विद्यालंकार, अत्रिदेव, आयुर्वेद का बृहत् इतिहास, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, 1960, पृष्ठ. 538
12. बाशम, ए.एल, द वंडर दैट वॉज इंडिया, पिकाडोर, लंदन, 2004, पृष्ठ-502
13. सुश्रुत संहिता-सूत्रास्थान, अ.-9, आयुर्वेद ग्रंथावली (1), संपादक-राजेन्द्र नाथ शर्मा, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 2001, पृष्ठ-444
14. अल्तेकर, ए.एस., एजुकेशन इन एंशियेंट इंडिया, ईशा बुक्स, दिल्ली 2010, पृष्ठ-179
15. चरक संहिता-विमान स्थान 8/13 (संपादक)-ब्रह्मानंद त्रिपाठी, चौखंबा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1995, पृष्ठ-728
16. कौटिलीय अर्थशास्त्र, 2/30/31/32, गैरोला, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ-222-235
17. जैन, कैलाशचंद्र, प्राचीन भारतीय सामाजिक और आर्थिक संस्थाएँ, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 2000, पृष्ठ-120
18. घोष, सुरेशचंद्र, द हिस्ट्री ऑफ एजुकेशन इन एंशियेंट इंडिया-मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2001, पृष्ठ-96
19. मनुस्मृति- 9/331, द्वितीय खण्ड, संपादक-महामहोपाध्याय पं. गंगानाथ झा, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, 1992, पृष्ठ-326
20. कौटिलीय अर्थशास्त्र, 2/16, गैरोला, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ-164-66
21. शर्मा, रामशरण, प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2011, पृष्ठ-207
22. मुखर्जी, राधाकुमुद, एंशियेंट इंडियन एजुकेशन, मैकमिलन, लंदन, 1951, पृष्ठ-353
23. थापर, रोमिला, द पेंग्विन हिस्ट्री ऑफ अर्ली इंडिया, पेंग्विन बुक्स, दिल्ली, 2003, पृष्ठ-248
24. की, एफ.ई., एंशियेंट इंडियन एजुकेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1918, पृष्ठ-78
25. नारद स्मृति, अभ्युपेत्याशुश्रूषा प्रकरण, महर्षि यूनिवर्सिटी ऑफ मैनेजमेंट, वैदिक लिटरेचर कलेक्शन, is 1.mum.edu/vedic reserve/smriti/upasmriti/narada_smriti.pdf, पृष्ठ-41-42

# औपनिवेशिक बिहार में शिक्षा का वित्त प्रबंधन

सुजाता कुमारी सिंह

व्यापारिक कम्पनी के रूप में भारत में प्रवेश करने वाली ब्रिटिश इस्ट इंडिया कम्पनी का राजनीतिकशक्ति के रूप में रूपांतरण एवं उनके शासन की स्थापना ने भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्र में अनेक परिवर्तनों का मार्ग प्रशस्त किया। शिक्षा के क्षेत्र में कम्पनी शासन तथा 1858 के बाद ब्रिटिश सरकार के औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत एक नवीन ढाँचा सामने आया। क्रमशः स्थापित होते हुऐ, शिक्षा अपने जटिल स्वरूप में कतिपय विदेशज एवं देशज तत्वों का सम्मिश्रण थी। हालांकि इसमें देशज तत्वों की भागीदारी भी रही, जो कि लगातार कमतर होती गई। शिक्षा के इस नवीन ढाँचे में मुख्यतः जिन नये तत्वों का समावेश था, उनमें नया पाठ्यक्रम, मुद्रित पाठ्य पुस्तकें, अंग्रेजी के रूप में नई भाषा, नियमित विद्यालयों की व्यवस्था, विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों की श्रृंखला, कक्षा का निर्धारित वर्गीकरण, पुस्तकीय ज्ञान पर आधारित परीक्षा प्रणाली प्रत्यक्ष रूप से शामिल थे। परोक्षतः इस नई शिक्षा व्यवस्था को बदलते सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों ने स्थापित होने में सहयोग दिया, जिसके कारण देशज तत्वों व संस्थाओं की संख्या एवं मांग गिरती गई।

इस सभी तत्वों को जिस व्यवस्थागत प्रणाली में समेटा गया था, निःसंदेह उसके लिये वित्त प्रबंधन की गैर-परम्परागत एवं ज्यादा सहज स्रोतों की अनिवार्य आवश्यकता थी। अतएव, औपनिवेशिक बिहार समेत पूरे भारत में नये स्रोतों द्वारा, नये प्रकार से शिक्षा के पोषण हेतु वित्त प्रबंध किया गया।

परम्परागत रूप से भारत में शिक्षा की वित्तीय आवश्यकता मुख्यतः उदार दानों, विद्यार्थियों के द्वारा दिया जाने वाला स्वैच्छिक शुल्क तथा अस्थाई एवं अनिश्चित राजकीय सहायता पर निर्भर था। परन्तु औपनिवेशिक काल में शिक्षा के बढ़ते व्यय को पूरा करने के लिये नये साधन उपलब्ध किये गये। शिक्षा में अपनायी गयी धार्मिक तटस्थता की नीति ने इसको धर्म की रक्षा व धार्मिक संरक्षकता से वंचित कर दिया तो दूसरी ओर अनिश्चित राजकीय अथवा सरकारी सहायता अब स्थायी हो गई और शिक्षा हेतु वित्त प्रबंध का सबसे प्रमुख स्रोत बन गई।

शिक्षा शुल्क, जो पहले ऐच्छिक था, अब निश्चित और अनिवार्य बना दिया गया। शिक्षा के क्षेत्र में आय के मुख्य साधन के रूप में सरकारी अनुदान के बाद अन्य स्रोतों की खोज शुरू हुई और शैक्षिक उपकर लगाया गया। स्वायत्त-शासन की स्थापना हो जाने पर म्युनिसिपल तथा स्थानीय संस्थाएँ राज्य के अतिरिक्त शिक्षा की आय के दूसरे साधन बन गयी। उपहार तथा दान रूप में प्राप्त होने वाली आय अब अत्यंत सीमित हो गई और यह निजी साधन बन कर उभरा।

इस प्रकार, शैक्षिक आय के साधनों को दो भागों में विभाजित किया गया- एक सार्वजनिक निधि और दूसरी निजी निधि। राज्य की ओर से आर्थिक सहायता और म्यूनिसिपालिटी तथा स्थानीय संस्थाओं की नियत राशि सार्वजनिक निधि कहलाती थी तथा शेष साधन निजी निधि में सम्मिलित कर दिये गये थे।

सार्वजनिक निधि के अंतर्गत शिक्षा हेतु आय का प्रधान स्रोत सरकारी सहयोग था। वस्तुतः कुछेक कम्पनी अधिकारियों के व्यक्तिगत प्रयास तथा इसाई मिशनरियों के आरम्भिक प्रयासों को यदि छोड़ दे, तो कम्पनी सरकार ने 1813 तक भारत में शिक्षा के क्षेत्र में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं किया, स्पष्ट है कि ऐसे में किसी प्रकार के अधिकारिक वित्तीय साधन की उपस्थिति नहीं थी। अधिकारिक रूप से 1813 के चार्टर ऐक्ट द्वारा, धारा-43 के तहत, कम्पनी सरकार को भारत में शिक्षा पर एक लाख खर्च करने का निर्देश दिया गया। यह रकम आवश्यकतानुसार समय-समय पर बढ़ती रही, 20 साल बाद (1833) में यह रकम 10 लाख हो गई। 1854 में वुड डिस्पैच के अनुसार शिक्षा का व्यापक और व्यवस्थित मॉडल तैयार किया गया, प्राथमिक शिक्षा से विश्वविद्यालय तक की शिक्षा का संगठित ढाँचा सामने आया। इसी के साथ अनुदान-व्यवस्था का नियमित रूप में आरम्भ हुआ और नई शिक्षा व्यवस्था के वित्त प्रबंधन की वास्तविक पृष्ठभूमि तैयार हुई।[1]

शिक्षा पर नियुक्त आयोगों की सिफारिशें तथा भारत में बदलते राजनीतिक, सामाजिक पारीदृश्य में शिक्षा के विस्तार की मांग तथा मांगों की पूर्ति हेतु (यद्यपी यह पूर्ति मांगों की तुलना में सीमित ही रही), विद्यालय भवनों का निर्माण, शिक्षकों तथा शैक्षिक प्रशासकों की नियुक्ति, पुस्तकों का प्रसार आदि जैसे कदम उठाते हुऐ शिक्षा व्यय में लगातार वृद्धि होती रही। स्थानीय संस्थाओं के विकास, तथा क्रमश: प्रांतों में भारतीय को सत्ता हस्तांतरित करने जैसे कार्यों के परिणामस्वरूप शिक्षा के वित्तीय प्रबंधन में भी विकेन्द्रीकरण हुआ और केन्द्रीय सरकार पर शिक्षा व्यय का दबाव कम हुआ। बाद के वर्षों में दोनों विश्वयुद्धों और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन (यद्यपी इस आंदोलन के स्वेदशी शिक्षा स्वरूप और शिक्षा के प्रसार हेतु सकारात्मक भूमिका निभाई) के कारण सरकार द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में वित्तीय आपूर्ति में बाधाऐं उत्पन्न हुई।

कतिपय बाधाओं के बाद भी सरकार का शिक्षा व्यय प्राय: बढ़ता ही रहा, यह तथ्य निम्न तालिका[2] से स्पष्ट हो जाता है। परंतु विकेन्द्रीकरण के कारण इसके स्वरुप में छिटपुट अतंर आया।

***सरकारी अनुदान***

| | ***पुनरावृत्त (Recurring)*** | ***गैर-पुनरावृत्त (Non- Recurring)*** |
|---|---|---|
| 1911 | 90,17,000.00 | – |
| 1912 | 65,00,000.00 | 60,00,000.00 |
| 1913 | 3,19,00,000.00 | 55,00,000.00 |
| 1914 | – | 9,00,000.00 |
| Total | 4,74,17,000 | 1,24,00,000.00 |

1929-30 में बिहार-उड़ीसा सरकार द्वारा शिक्षा पर 1,85,16,071 रूपये खर्च किये गयें।[3]

यद्यपि आगे के वर्षों में भी सरकारी अनुदान शिक्षा के वित्त प्रबंध का प्रधान स्रोत बना रहा। किन्तु 1919 में द्वैध शासन में शिक्षा से संबंधित अधिक अधिकार भारतीय प्रतिनिधियों को मिलने, पर भी उन्हें धन का अधिकार नहीं मिला ओर इस 'राजनीतिक अवसर का पर्याप्त लाभ नहीं उठाया जा सका। इसके बाद 1935 के प्रांतीय स्वायत्तता का अधिकार भी शिक्षा के कोई महत्वपूर्ण कार्य ना कर सका। द्वितीय विश्वयुद्ध और भारतीय नेताओं के त्यागपत्र ने शिक्षा के क्षेत्र में एक अपरिवर्तनीय स्थिति पुन: खड़ी कर दी। 1940 के दशक में शिक्षा पर सरकारी व्यय लगभग 25 करोड़ था।

सरकारी अनुदान के बाद शिक्षा शुल्क शिक्षा का दूसरा प्रमुख वित्तीय स्रोत थी। विद्यार्थियों से शुल्क लेना 1822 के आस-पास शुरू किया गया, क्योंकि उसी वर्ष टॉमस मुनरो की 'सर्वे ऑफ स्टेट ऑफ एजुकेशन अन्डर मद्रास गवर्नमेंट'[4] में लिखा गया है, ''अधिकतर विद्यालय शुल्क से चलाये जाते हैं, जो एक आने से लेकर चार रूपये प्रतिमास तक है....।''

1844 में बंगाल सरकार ने शिक्षा शुल्क देना अनिवार्य कर दिया।[5] फिर 1854 के वुड डिस्पैच ने भी शुल्क की पद्धति को औपचारिक रूप से आवश्यक बताया और इसी के साथ इस डिस्पैच में बिना शुल्क वाले विद्यालयों के प्रति आम जनों में महत्वहीनता के भाव का होना शिक्षा के क्षेत्र में बड़ी समस्या भी बताया गया।[6]

शुल्क से शिक्षा को निरंतर बढ़ती हुई राशि प्राप्त होती रही। इस स्रोत से प्राप्त आय का एक सकारात्मक पक्ष इसकी निरंतरता तथा राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लगातार हो रहे घटनाओं से इसका अपेक्षाकृत कम प्रभावित होना है। उदाहरणार्थ, 1870-71 में शुल्क से प्राप्त आय 8.1 लाख रूपये थी, जो 1881-82 में 83.7 लाख, 1901-02 में 1.27 करोड़ रूपये हो गई। बिहार-उड़ीसा सरकार द्वारा 1917-18 में सामान्य सरकारी विद्यालयों पर होने वाले खर्च में शुल्क द्वारा प्राप्त राशि 194000 रूपये थी।[7] वस्तुत: भारत की आजादी की पूर्व संध्या तक संपूर्ण शैक्षिक व्यय में शुल्क प्राप्त आय प्राय: कुल आय के एक तिहाई से पांच तिहाई बनी रही।

उपुर्यक्त स्रोतों के अतिरिक्त जो स्रोत धीरे-धीरे विकसित हुआ वह स्थानीय संस्थाओं एवं नगरपालिकाओं के विकास से जुड़ा था। 1882 के शिक्षा पर हंटर आयोग ने अधिकारिक रूप से प्राथमिक शिक्षा प्रबंधन स्थानीय स्वशासन संस्थाओं की सिफारिश की तथा माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में इसके महत्वपूर्ण भागीदारी को सुनिश्चित किया। साथ ही शिक्षा संबंधी आम एवं संचालन में निजी भागीदारी महत्व भी हंटर आयोग ने स्वीकार किया। आयोग का यह निर्णय शिक्षा संबंधी आय एवं उसके प्रबंधन के विकेन्द्रीकरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण निर्णय था। भारतीयों के हाथ धीरे-धीरे सत्ता हस्तांतरण (जो आरंभ में मात्र दिखावा ही रहा) तथा अनिवार्य और नि:शुल्क प्राथमिक शिक्षा की मांग ने शिक्षा संबंधी क्षेत्र में स्थानीय स्वशासन संस्थाओं की भूमिका को और भी ज्यादा दुरूस्त किया। 1882 से पहले शिक्षा के नाम पर लिये जा रहे करों एवं उपकरों से प्राप्त आम, अब स्थानीय संस्थाओं के शैक्षिक कोष में एकत्र होने लगी, दूसरी ओर सरकार द्वारा शिक्षा व्यय के नाम पर स्थानीय संस्थाओं को कोष उपलब्ध कराया जाता था। आजादी से पूर्व तक सम्पूर्ण शिक्षा व्यय में

स्थानीय संस्थाओं द्वारा व्यय का प्रतिशत लगभग 15: से 10: तक बना रहा।

किन्तु खेदजनक बात यह है कि स्थानीय संस्थाओं का व्यय इस क्षेत्र में बढ़ने की जगह घटता रहा और प्राय: यह संस्थाऐं सरकारी अनुदान की अनुकंपा पर आश्रित रहें। इसके अतिरिक्त इन संस्थाओं ने भी कुछेक अपवादों का छोड़कर प्राथमिक शिक्षा के विकास व प्रसार में विशेष रूची नहीं दिखाई।

अंग्रेजों के आगमन से पहले शैक्षिक आय के प्रधान साधन धर्मस्व, चंदा और उपहार थें। लेकिन इस काल में राजकीय सहायता, शुल्क तथा स्थानीय निकायों द्वारा नियत राशि इनती महत्वपूर्ण हो गई कि पहले का यह महत्वपूर्ण साधन महत्वहीन हो गयें। इन साधनों को सामूहिक रूप से ''निजी अथवा अन्य साधन'' का नाम दे दिया गया, जो कि धनी आश्रित थी। धर्म के भारतीय निहितार्थों में शिक्षा का जो परंपरागत स्वरूप था, उसके बदलने से, पुराने आधार पर मिलने वाले उदार दान, उपहार अत्यंत संबंधी का साधन बना रहा।

उपर्युक्त साधनों से वित्त पोषित शिक्षा के व्यय यदि विश्लेषण करें, तो स्पष्ट होता है, कि सार्वाधिक व्यय निर्देशन और परीक्षण (Direction and Inspection) तथा अनुदान पर खर्च होता था। बिहार-उड़ीसा सरकार की एक रिर्पोट के अनुसार[8] 1930 में शिक्षा पर होने वाले कुल खर्च 1,85,16,071 रू0 में से निर्देशन तथा परीक्षण पर 10,23,793 रूपये खर्च किये गयें। इनके अतिरिक्त अन्य प्रमुख व्यय का मद विद्यालय भवन, पुस्तकों की व्यवस्था एवं परीक्षा और अन्य प्रबंधीक कार्य तथा शिक्षकों की नियुक्ति, वेतन आदि होते थें।

परन्तु शिक्षा हेतु प्राप्त होने वाली आय तथा व्यय के मद प्राय: मांग के अनुपात में कम बने रहें। साथ ही व्यय के मदों में लचीलेपन का अभाव भी बना रहा। आरम्भ के वर्षों में भारतीय राजवाड़ों व प्रबुद्ध जमींदारों तथा समाज सुधारकों ने अंग्रेजों के साथ मिलकर और कई बार स्वतंत्र रूप से शिक्षा व्यय में अपनी व्यापक भागीदारी निभाई। इस तथ्य का सर्वप्रमुख उदाहरण मिथिला राज के शासकों से मिलता है।[9] किन्तु बाद के वर्षों में भागीदारी सीमित होती गई। राजनीतिक घटनाक्रम ने भारतीयों के अंगेजों के साथ किये जाने वाले एकजुट प्रयास के स्थान पर, स्वदेशी शिक्षा के रूप में स्वतंत्र प्रयासों को ज्यादा तरजीह दी, यद्यपी कुछेक प्रयास एकजुट भी चलते रहें। अतएव, औपनिवेशिक बिहार सहित पूरे भारत में शिक्षा हेतु वित्त प्रबंध चरण बद्ध रूप से विकसित होता रहा, जिसके साधनों में समय-समय पर उतार-चढ़ाव भी होते रहें।

## संदर्भ:


1. Mishra, Atmanand, Educational Finance in India,Asia Publishing House,Bombay,1962.
2. Report on Indian Education in 1913-14,Bureau of Education,Govt. of India,Calcutta,1914.
3. "Report on the Progress of Education for the year, 1929-30", govt. Printing, Bihar and Orissa, Patna, 1930, p. 3.
4. ''टॉमस मुनरो, सर्वे ऑफ स्टेट ऑफ एजुकेशन अन्डर मद्रास गर्वनमेंट, 1822, पृ0 73-76'' शार्प, हेनरी,जे.ए.रिचे,सुपरिटेंडेंट गवर्नमेंट प्रिंटिंग,कलकत्ता,1920।
5. "Government of Bengal, order 18 Dec., 1844, p. 85" Riche, J.A., Selections from Educational records, Vol. 2, CalcuttaGov. Printing, 1922.
6. "The Educational Despatch of 1854, Para. 54, p. 379," Riche, J.A., Selection from Education Records, Vol. 2, Calcutta Gov. Printing, 1922.
7. Budget Estimate of the Educational Department for the year 1917-18, No. Bt. 45/G, 3B-22-16, Govt. of Bihar and Orissa, Ranchi, 1916, p.3.
8. Report on the Progress of Education for the year, 1929-30, Govt. Printing, Patna, 1930, p. 3.
9. Jha,Jata Shankar,"Beginnings of Modern Education in Methila: Selections from Educational Records Darbhanga Raj, 1860-1930", K.P. Joyswal Institute, Patna, 1972, p. 2.


❖❖❖

# अंग्रेजों से पूर्व भारत में शिक्षा व्यवस्था: एक ऐतिहासिक विश्लेषण

**डॉ० अर्चना कुमारी साह**

भारतीय समाज में प्राचीन काल से शिक्षा अथवा विद्या का स्वरूप अत्यंत ज्ञानप्रद, सुव्यवस्थित और सुनियोजित था, जिसमें व्यक्ति के लौकिक और पारलौकिक जीवन के लिए विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाती थी। भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के निर्माण तथा विभिन्न उत्तरदायित्वों का निष्पादन करने के लिए शिक्षा की नितांत आवश्यकता थी। मनुष्य और समाज का आध्यात्मिक और भौतिक उत्कर्ष शिक्षा के ही माध्यम से संभव माना जाता रहा है। सही बात तो यह है कि शास्त्र और विवेक से शिक्षा सम्पन्न होती है और शिक्षा से मनुष्य में ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान अथवा विद्या से मुक्ति प्राप्त होती है तथा मनुष्य शील में निपुणता प्राप्त करता है।[1]

इस तरह ज्ञान के आलोक से मनुष्य का जीवन आलोकित होता है, क्योंकि किसी भी कार्य को करने वाले दो प्रकार के लोग होते हैं, एक तो वे जो उसको समझ अथवा ज्ञान से करते हैं, दूसरे वे जो बिना समझे अथवा अज्ञान से करते हैं। विद्या और सच्ची लगन के साथ जो व्यक्ति कर्म करता है वही अधिक शक्तिशाली होता है।[2] वस्तुत: ज्ञान अथवा विद्या से व्यक्ति का कर्म और आचरण परिष्कृत और दिव्य हो जाता है और वह ज्ञान सम्पन्न होकर देवतुल्य हो जाता है। वैदिक युग में ऐसे ज्ञानी व्यक्ति का सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त थी। स्पष्ट है मनुष्य के जीवन में विद्या का अनुपम योग रहा है।

मनुष्य के जीवन में विद्या अथवा ज्ञान का अत्यंत विशिष्ट स्थान है। विद्या के बिना मनुष्य का जीवन संकुचित है और जीवन बोझिल है। अज्ञानता अंधकार के समान है।[3] अत: अज्ञानी मनुष्य का जीवन अंधकारमय है। उसके कर्मों की कोई महत्ता नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है कि अक्षर को जानने और न जानने वाले दोनों कर्म करते हैं, किन्तु विद्या और अविद्या दोनों भिन्न-भिन्न फल देने वाली है। जो कर्म विद्या श्रद्धा और योग्य से संयुक्त होकर किया जाता है, वही प्रबलतर होता है।[4] अत: ज्ञान से ही उसका जीवन अलौकिक होता है। ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है, जो उसे समस्त तथ्यों से मूल को समझने में समर्थ करता तथा उसे सही कार्यों की ओर प्रवृत्त करता है।[5]

अक्षर और वर्णमाला की शिक्षा का प्रारम्भ विद्यारम्भ के अन्तगर्त आता है। यह संस्कार शिक्षा प्रारम्भ करने के पहले ही सम्पन्न किया जाता था। प्राय: पाँच वर्ष की अवस्था से विद्या का आरम्भ माना जाता था। उपनयन संस्कार के पूर्व विद्यारम्भ संस्कार सम्पन्न कर लिया जाता था। विद्यारम्भ के लिए कोई भी शुभ दिन स्थिर कर लिया जाता था और उसी दिन बालक का विद्यारम्भ करा दिया जाता था। अपरार्क स्मृति चन्द्रिका ने मार्कण्डेय पुराण को उद्धृत करते हुए संतान के विद्यारम्भ की अवस्था पाँच वर्ष निर्देशित की है।[6] संस्कार प्रकाश और संस्कार रत्नमाला में भी विद्या का आरम्भ उपनयन के पहले पाँच वर्ष की अवस्था से माना गया है।[7]

विद्यारम्भ संस्कार के समय बालक गुरू की वंदना करता और उनके प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करता था। संभवत: यह संस्कार प्रारम्भ में चौलकर्म के साथ सम्बद्ध था, जैसा कि कौटिल्य के उल्लेख से विदित होता है कि चौलकर्म के साथ लिपि का ज्ञान कराया जाता था।[8] कालिदास ने भी चौलक्रिया के साथ-साथ लिपि ज्ञान का निर्देश किया है।[9]

लव और कुश के चौलकर्म के साथ ही उनका विद्यारम्भ हो गया था।[10]

चीनी यात्री श्वानयांग ने बच्चों की आरम्भिक शिक्षा का 'सिद्धमचंग' से प्रारम्भ बताया। 'सिद्ध' सफलता का द्योतक था। 'सिद्धम' की समाप्ति के पश्चात् सातवें वर्ष 5 विद्याओं का अध्ययन कराया जाता था।[11]

**एसोशिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, टी०एन०बी० कॉलेज, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर**

बालक की सुव्यवस्थित और सुनियोजित शिक्षा का प्रारम्भ ब्रह्मचर्य आश्रम में उपनयन संस्कार के पश्चात् होता था, जिसमें आचार्य ब्रह्मचारी को एक नये जीवन में दीक्षित करता था जिसे द्वितीय जन्म कहा गया और ब्रह्मचारी को द्विज। उपयन संस्कार से ब्रह्मचारी को विद्यामय शरीर और ज्ञानयुक्त मस्तिष्क प्राप्त होता था, जो माता पिता से प्राप्त स्थूल शरीर से भिन्न था। यह संस्कार पूर्ण रूपेण शिक्षा से सम्बद्ध था और बालक की शिक्षा इसके बाद से ही अविलम्ब गुरू के सान्निध्य में प्रारम्भ हो जाता था। शूद्रों के अतिरिक्त अन्य तीनों वर्णों के उपनयन संस्कार सम्पन्न करने की अवस्था भिन्न-भिन्न थी। ब्राह्मण पुत्र के लिए आठ से लेकर दस वर्ष के भीतर, क्षत्रिय पुत्र के लिए ग्यारह वर्ष और वैश्य पुत्र के लिए बारह वर्ष की आयु शिक्षा प्रारम्भ करने के लिए निर्धारित की गयी थी।[12]

प्राय: तीनों वर्णों के बालक अपने कुटुम्ब से गुरू के यहाँ ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत शिक्षा ग्रहण करने के लिए जाते थे। ब्राह्मण बालक श्वेतकेतु का उपनयन इसी अवस्था मे सम्पन्न हुआ था।[13]

अध्ययनरत ब्राह्मण परिवारों में नैतिक शिक्षा का प्रारम्भ सात वर्ष से ही प्रारम्भ कर दिया जाता था।[14]

प्राचीन काल में छात्रों को वेदों के अतिरिक्त अनेक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। विद्या के अध्ययन में पहले तीन वदों को समाविष्ट किया गया था और बाद में अथर्व वेद को जोड़कर चार वेद पूर्ण किये गये थे। वेदों के मंत्रों के अध्ययन में ऐतिहासिक काव्य, पौराणिक गाथाएँ और काव्य समाविष्ट थे।[15]

वेद से ही सभी ज्ञान का नि:सरण हुआ था। समस्त विषयों का उद्गम स्थल वेद ही माना जाता था। वेद के छ: षट्अंग थे- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छंद और ज्योतिष। पूर्ववैदिक युग में केवल ऋग्वेद के रहने के कारण उसी में सूक्तों की मनन होता था। ऋग्वेद एक साहित्यिक ग्रंथ है, जिसका अध्ययन, अध्यापन और मनन प्रारम्भिक काल से ही होता रहा है। ऋषि साधक के रूप में योगों के अर्थवाक्य की रचना करता था और रचयिता के रूप में माना जाता था। उसके मुख से नि:सृत वाणी, मंत्र और सूक्त कही गयी। मंत्रों या सूक्तों को कंठस्थ करने का चलन तत्कालीन समाज में था। जो शिष्य परम्परा में मौखिक ज्ञान प्रदान करने के आधार पर योग्य शिष्यों को स्मरण कराया जाता था। ऐसे असंख्य सूक्त विद्वानों को स्मरण रहते थे, जिनमें से अधिकांश समय के साथ-साथ विस्मृत हो गये और जो बचे रह गये थे वे संहिताओं में संकलित कर दिये गये। ऋग्वेद संहिता का अध्ययन कई शाखाओं के रूप में किया जाता था। प्रत्येक शाखा का अध्ययन करने वाला चरण (अथवा विद्यालय) अपने शाखा के प्रति आस्था रखता था। प्रत्येक चरण या विद्यालय में शाखा या मंत्रापाठ, कर्मकाण्ड में मंत्रों का विनियोग तथा ब्रह्मचारी और आचार्य वर्ग के व्यवहार और अनुशासन के नियम भिन्न-भिन्न थे। चरणों के माध्यम से वैदिक शाखाओं के पाठ-परम्परा सुरक्षित रहती थी। उत्तर वैदिक काल में तीनों वेदों के अतिरिक्त उपनिषद साहित्य का विकास हुआ। वेदांगों (शिक्षा, कल्प, निरूक्त, छंद, व्याकरण और ज्योतिष) का भी महत्व बढ़ा। समाज में यज्ञ और कर्मकाण्ड के साथ अनेक गूढ़ और दुरूह विषय भी पढ़ाये जाने लगे। मौखिक विद्या अध्ययन का प्रचलन बहुत पहले से प्रारम्भ हो गया था। वेदज्ञ आचार्य छात्रों को मंत्र स्मरण ही नहीं कराते थे बल्कि उनके अर्थ भी समझाते थे। कालान्तर में दो प्रकार के आचार्य हो गए - एक तो वे जो वेदों को कंठस्थ कर लेते थे और दूसरे वे जो उनके भाष्य लेखन में लगे थे। ऐसे आचार्यों की शिष्य परम्परा पृथक रूप में विकसित हुई। इस समय तक ज्ञान के लिए नये विषयों का प्रारम्भ हो चुका था। दर्शन, न्याय, महाकाव्य, व्याकरण, ज्योतिष, भाषा-विज्ञान आदि अनेकानेक विषय प्रचलित हो गये थे। धर्म और बह्म का ज्ञान वेदों के माध्यम से ही संभव था।[16] मौखिक पाठ परायन और अर्थग्रहण के माध्यम से वेद का अध्ययन होता था। परायन (पाठ) पर प्राय: अधिक बल दिया जाता था। ऋक् से अर्थ का बोध नहीं होता था। इसी प्रकार ऋगअध्ययन से अर्थग्रहण भी नहीं हो पाता था। मात्र समपाठ का ही बोध होता था। यह सम्भव था कि समपाठ करने वाला कभी अर्थ से अनभिज्ञ होता था और अर्थतत्व जानने वाला समपाठ से। दो या तीन बार पारायण करने वाला 'द्वैष पारायणिक' या 'त्रैपारायणिक' कहा जाता था।[17]

किन्तु अध्ययन में ऋचाओं के वाक् और अर्थ की प्रतिष्ठा थी। सुन्दरतम् शब्दों के चयन और उसके संयोजन से उत्तम अर्थ की अभिव्यक्ति की जाती थी। प्रकृति के मनोरम और एकांत वातावरण में सूक्तों का प्रणयन होता था, जिनमें उच्च कोटि का दर्शन सन्निहित रहता था।

प्राचीन काल से ब्राह्मण को ही वेद पढ़ाने और उसके शिक्षा देने का अधिकार था। अलबरूनी लिखता है कि ''ब्राह्मण वर्ण का ही व्यक्ति वेद पढ़ा सकता था और किसी वर्ग का नहीं। केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय वेद का अध्ययन कर सकते थे, अन्य कोई वर्ण नहीं।"[18]

स्मृति चन्द्रिका[19] और कृत्यकल्पतरू[20] के अनुसार एक वेद का अध्ययन करना ही यथेष्ठ था जो बारह वर्ष में सम्यक् रूप से पूर्ण होता था। लक्ष्मीधर ने जीवन पर्यन्त छात्र रहने वाले 'नैषधरिक ब्रह्मचारी' का भी उल्लेख किया है।[21]

जो लोग वेद पूरी तरह नहीं पढ़ सकते थे, उनलोगों के लिए हलायुन के चार सौ मंत्रों को इकट्ठा कर 'ब्राह्मण सर्वस्व' का प्रणयन किया तथा लोगों को उसका अध्ययन करने के लिए निर्देशित किया। उसने अपनी कृति के विषय में स्वयं लिखा है कि इस संग्रह को उसने वाजसनेयी, राढ़ीय वारेन्द्र ब्राह्मणों के लिए रचा था। इस ग्रंथ की रचना सम्भवत: उसने इसलिए की कि लोगों के लिए सम्पूर्ण वेदग्रंथ का स्मरण करना श्रमसाध्य और कठिन था। अत: कम मंत्रों का ग्रंथ अध्येताओं के लिए स्मरण कर पाना सरल समझा गया। लगता है वेदों का अध्ययन-क्रम समय के प्रवाह में मन्द पड़ने लगा था। पूर्व मध्य-युगीन लेखकों के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में सभी वेदों का अध्ययन-मनन कम होने लगा था, लोग बहुत अधिक समय लगाकर वेद का ज्ञान प्राप्त करना हितकर नहीं मानते थे, इसलिए वेदज्ञ आचार्यों ने वेदों के अंशों को ही शिक्षार्थियों को पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था। यह भी सत्य है कि वेदों के कुछ ही मंत्र छात्रों को कंठस्थ हो पाते थे, यद्यपि बाण के उल्लेख से विदित होता है कि उसने षड्ग शिक्षा, कल्प, निरूक्त छंद व्याकरण और ज्योतिष सहित वेदों का सम्यक् अध्ययन किया था।[22] श्वानच्वांग ने लिखा है कि ब्राह्मण चारों वेदों को पढ़ते थे।

प्राचीनकाल में, विशेषकर वैदिक और सूत्र-युग में, वेद का ज्ञान स्मरण शक्ति पर ही आधारित था और वेद के मंत्रों को कंठस्थ कर लिया जाता था। इसका अध्ययन और अध्यापन दोनों मौखिक था और वेद के मंत्रों की व्याख्या और अर्थ का विकास संवाद पर आश्रित था। तैतरेय ब्राह्मण में उल्लिखित है कि ऐसे संवाद में प्रश्निन् (प्रश्नकर्त्ता), अभिप्रश्निन् (प्रतिप्रश्नकर्त्ता) और प्रश्नावाचक (उत्तरदाता) सम्मिलित होते थे। अथर्ववेद में प्रावाचिक भी कहा गया है। अलबरूनी के अनुसार हिन्दू लोग वेद लिखने की स्वीकृति नहीं देते, क्योंकि इसका प्रणयन स्वर में निश्चित आरोह-अवरोह के आधार पर होता है। अत: वे इसी कारण से लेखनी का उपयोग नहीं करते थे कि उसके लेखन में कुछ त्रुटि और लिखित अंशों में कुछ न्यूनाधिक न हो जाय। फलत: उनमें से अनेक लोगों ने वेदों को भूला दिया।[23]

वेदों के मौखिक ज्ञान का प्रचलन बहुत बाद तक बना रहा।[24] वेदों के लिखित स्वरूप का वर्णन अलबरूनी ने किया है। उसके अनुसार उसके समय से कुछ पहले कश्मीर निवासी प्रसिद्ध ब्राह्मण वसुक्त ने अपनी इच्छा से वेद लिखने और व्याख्या करने का कार्य किया। यह एक ऐसा कठिन कार्य था जिसे करने मे प्रत्येक व्यक्ति पीछे हटता था, लेकिन उसने यह कार्य पूर्ण किया। वह आशांकित था कि लोग वेद को भूल न जाय और मनुष्य की स्मृति से इसका पूर्णत: लोप न हो जाय, क्योंकि उसने देखा और परखा कि लोगों के चरित्र गिरते जा रहे थे तथा वे सप्तधर्म और सत्कर्म से च्युत होते जा रहे हैं।[25]

प्राचीनकाल में अनेकानेक विषयों की शिक्षा छात्रों को दी जाती थी। द्विजों के लिए वेद का अध्ययन आवश्यक तो था ही, साथ ही वैदिक संहिताओं और वेदांगों का अध्ययन भी अपेक्षित था। प्राचीन काल से यज्ञ विद्या का अध्ययन अध्यापन अधिक होता था। इसमें ज्ञान-विज्ञान की सहायता ली जाती थी। उपनिषद युग में वैदिक संहिताओं, वेदांगों, याज्ञिक विद्याओं आदि के अतिरिक्त पराविद्या और ब्रह्मविद्या का भी अध्ययन किया जाता था। ब्रह्म विद्या के सर्वोच्च आचार्य यम थे। वेद (चार), इतिहास, पुराण, व्याकरण, भूत विद्या, क्षात्र विद्या, वाकोवाक्यम्, तर्कशास्त्र शिक्षा, निरूक्त, छनद, नक्षत्र विद्या, जयोतिष, राशि, एकायन आदि विभिन्न विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती थी।[26]

उपनिषदों में माया, कर्म, पुनर्जन्म, मुक्ति और आत्मा सम्बन्धी अनेक विचार किए गए हैं। सत्य ज्ञान का अन्वेषण तथा उसका अनुपालन उपनिषद युग में किया जाता था।[27] छान्दोग्य उपनिषद में वर्णित है कि सनत कुमार को अनेक विद्याओं का ज्ञान था। नारद ने सनत कुमार से कहा था "मुझे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद याद है। इतिहास-पुराण रूप पाँचवां वेद, वेदों का वेद (व्याकरण), श्रद्धकल्प, गणित, उत्थान ज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देव विद्या, ब्रह्मविद्या, भूत विद्या, क्षात्र विद्या, नक्षत्र विद्या, सर्प विद्या और देवजन विद्या (नृत्य-संगीत) आदि मैं जानता हूँ।"[28]

आत्मा से सम्बन्धित विद्या आत्म विद्या कही जाती थी, जो उपनिषद काल के छात्रों का प्रधान विषय होता था।[29]

पराविद्या शब्द सर्वोच्च ज्ञान या आत्मज्ञान के लिए था। महाभारत में विवृत है कि महिर्ष च्यवण के पुत्र भार्गव से आस्तिक ने वेद-वेदांग की शिक्षा प्राप्त की थी। बौद्ध युग में अनेकानेक विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती थी। इनमें वेद, वैदिक साहित्य, ब्राह्मण, संहिता, उपनिषद, शिक्षा, अर्थशास्त्र, शिल्प, वार्त्ता, व्याकरण, दर्शन, धर्म, इतिहास आदि प्रमुख थे।[30]

कौटिल्य ने अन्वीक्षकी (तर्क और दर्शन), त्रिची (तीन वेद - ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और उनके ब्रह्म ब्रह्मणादि), वार्ता (कृषि, पशुपालन, चारा भूमि, वाणिज्य-व्यापार) और दण्ड-नीति (राजशास्त्र और शासन) का उल्लेख किया है।[31]

कालिदास ने चौदह विधाओं का उल्लेख किया है - सांगोपांग वेद (चारों वेद और छः वेदांग), मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र। वेदांगों में छनद (पिंगलादि), मंत्र, निरूक्त (शब्दों का अर्थ), ज्योतिष (गणित और फलति), व्याकरण और शिक्षा (उच्चारण) गृहित किये जाते थे। इकसे अतिरिक्त उपवेदों (धनुर्वेद, आयुर्वेद और गंधर्व वेद) का भी अध्ययन किया जाता था।[32]

वात्स्यायन ने 64 विद्याओं का उल्लेख किया है। उस समय पुराण इतिहास के साथ महाकाव्यों का पारायण किया जाता था। श्वानच्वांग ने व्याकरण, शिल्प, आयुर्वेद, तर्क, आत्मविद्या आदि का उल्लेख विद्यार्जन के अन्तर्गत किया जाता था।[33] सम्राट चन्द्रगुप्त अनेकानेक विषयों में गुरू तथा वीणा वादन में तुम्बरू और नारद जैसे देवताओं से भी अधिक पारंगत था।[34] उसकी उपाधि कविराज की थी। स्कन्दगुप्त भी विद्वान और गुणी सम्राट था।[35]

राजाओं के लिए कालिदास का कथन "शास्त्र को नेत्र बनाकर ही वे अपने प्रयत्नों के सूक्ष्म परिणाम को उसके चरितार्थ होने के पूर्व ही देख सकते थे।"[36]

दण्डि ने पाठ्य विषयों की सूची इस प्रकार दी है- सभी लिपियाँ, भाषाएँ, वेद, वेदांग, उपवेद, काव्य, नाट्यशाला, धर्मशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, तर्कशास्त्र, मीमांसा, राजनीति, संगीत छनद, रसशास्त्र, युद्धविद्या, द्युत, चौर्यविद्या आदि।[37]

बाण के अनुसार ब्राह्मण गुरू अपने शिष्यों को नियमित रूप से वेद, व्याकरण, मीमांसा आदि की शिक्षा देता था। गुरूकुल में वेदों का निरन्तर पाठ हुआ करता था। यज्ञ की अग्नि जला करती थी। विश्वदेव को बलि दी जाती थी। विधिपूर्वक यज्ञ का सम्पादन होता था। ब्राह्मण उपाध्याय ब्रह्मचारियों को पढ़ाने में संलग्न रहते थे।[38]

ज्योतिष, गणित, भूगोल, रसायन, भौतिक, दर्शन, नीति, इतिहास, साहित्य, संस्कृत आदि विषयों का भारत में असीम भण्डार रहा है। विपुल ग्रंथों का प्रणयन होता रहा है। सभी विषयों पर इतनी प्रचूर सामग्री थी कि उनका अध्ययन कर पाना सम्भव नहीं था। इस सम्बन्ध में अलबरूनी लिखता है "विज्ञान और साहित्य की अन्य अनेक शाखाओं का विस्तार हिन्दू करते हैं तथा उनका साहित्य सामान्यतः अपरिसीम है। इस प्रकार मैं अपने ज्ञान के अनुसार उनके साहित्य को न समझ सका।"[39]

निश्चय ही किसी एक व्यक्ति के लिए विभिन्न विषयों के विभिन्न ग्रंथों को समझा पाना अत्यंत कठिन था।

अलबरूनी ने ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों और विभिन्न ग्रंथों का उल्लेख किया है। उसने चारों वेदों, अठारह पुराणों, बीस स्मृतियों, रामायण, महाभारत, गाँड़ ग्रंथ, पतंजलिकृत ग्रंथ, कपिल कृत न्याय भाषा, जैमिनी कृत मीमांसा, बृहस्पति कृत लोकायत, अगस्त्य कृत अगस्त्यमत, सर्वबमन कृत कातत्, शशिदेव कृत, उग्रभूति कृत शिष्यहित वृत्ति, पूलिश का गणित विषय सिद्धान्त, वाराहमिहिर, आर्यभट्ट आदि के विभिन्न विषयगत मतों और ग्रंथों का उल्लेख किया है, जिनसे यह ज्ञात होता है कि तद्युगीन भारतीय समाज में अनेकानेक विषयों की शिक्षा दी जाती थी।[40]

वेदों के अतिरिक्त धर्मशास्त्र, पुराण, ज्योतिष, व्याकरण, विज्ञान, भौतिक और रसायन आदि का भी अध्ययन-अध्यापन पूर्व मध्य युग में किया जाता था।

जैनेन्द्र, कार्तत्र और हेमचंद्र के व्याकरण के नवीन समुदाय का प्रभाव बढ़ गया था।[41]

आश्वलायन वाजसनैय छांदोग्य, सांख्य आदि की अपनी अलग-अलग शाखायें थीं।[42]

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अध्ययन प्रायः किया जाता था।[43]

वेदों के अध्ययन के आधार पर ब्राह्मणों के पारिवारिक और वंशगत नाम रखे जाने लगे थे, जैसे द्विवेदी, त्रिवेदी और चतुर्वेदी।[44] त्रिवेदी को त्रिपाठी भी कहते हैं। वेदांग के अन्तर्गत शिक्षा, निरूक्त, छनद और ज्योतिष का नियोजन किया जाता था।[45] स्वयं अलबरूनी ने अपनी पुस्तक में स्थान-स्थान पर विभिन्न भारतीय पुस्तकों से उद्धरण दिए हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि उसकाल में अनेक भारतीय विषयों की शिक्षा दी जाती थी। मीमांसा सांख्य, चार्वाक सिद्धान्त आदि दर्शन शास्त्रों का अध्ययन भी उस युग में किया गया था।[46]

भाषा और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में व्याकरण का बड़ा महत्व था। प्राचीनकाल से इसके अध्ययन के प्रति बुद्धिजीवियों की अपार रूचि थी। वस्तुतः भाषा और साहित्य का संयोजन और संग्रहण तथा उसकी गरिमा और प्रतिष्ठा व्याकरण से ही थी। भारत में बहुत पहले से शब्द और वाक्य पर विचार करने वाले व्याकरण के विद्वान रहे हैं, जिन्होंने इस गूढ़ विषय पर बड़े विस्तार से लिखा है। शाकर, पाणिनी, शर्ववमन, शशिदेव आदि अनेक वैयाकरणों ने बहुचर्चित ग्रंथों का प्रणयन

किया था। इत्सिंग से विदित होता है कि कर्ष कशिका वृति और पतंजलि के महाभाष्य का चार अथवा छः वर्ष में अध्ययन पूर्ण होता था। वैयाकरण उग्रभूति का उल्लेख अलबरूनी ने किया है, जिसने, 'शिष्य हीतावृति' की रचना की थी।[47]

प्रायः छात्र उपनयन संस्कार के बाद गृहत्याग कर गुरू के सान्निध्य में जाता था तथा गुरूकुल में रहकर विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करता था।[48] इस सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद से विदित होता है कि अरूण (उद्वालक आरूणि) ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से गुरूकुल में जाकर शिक्षा प्राप्त करने के लिए कहा था – "हे श्वेतकेतु, तू गुरूकुल में जाकर ब्रह्मचर्यपूर्वक शिक्षा ग्रहण कर। हे सौम्य, हमारे कुल में ऐसा कोई व्यक्ति न हुआ जो अध्ययन न करे और वह भी स्वयं ब्राह्मण होकर, यही नहीं इस सम्बन्ध में केवल ब्राह्मणों को अपना बंधु बतलाता है।" बारह वर्ष की अवस्था में गुरू के पास गया। वहाँ गुरूकुल के सब वेदों को पढ़कर, चौबीस वर्ष का होकर अपने को विद्वान और अभिमानी समझते हुए उद्दण्ड भाव से वापस घर आया। उसके लौटने पर पिता ने उससे कहा "हे सौम्य श्वेतकेतु, तू जो ऐसा अभिमानी है, अपने को विद्वान समझने वाला और उद्दण्ड हो रहा है, सो क्या तूने गुरू से उस आदेश तत्व ज्ञानोपदेश को भी पूछा है, जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और अभिज्ञात ज्ञात हो जाता है?" चूंकि श्वेतकेतु उस ज्ञानतत्व को नहीं जानता था, इसलिए उसने जिज्ञासा की "भगवन्, वह तत्वज्ञान उपदेश कैसा है? उसे आप मुझे बतायें।"[49] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि गुरूकुल में निवास करके ज्ञान और विद्या प्राप्त की जाती थी, साथ ही सदाचरण और सद्वृत्ति की भी शिक्षा ग्रहण की जाती थी।

गृहसूत्रों में ब्रह्मचारी के शिक्षा ग्रहण करने पर विस्तार से विचार किया गया है। पारस्कर गृहसूत्र में यह उल्लिखित है कि आचार्य के सम्मुख जब विद्यार्थी शिक्षाग्रहण के निमित्त उपस्थित होता था तब आचार्य उससे पूछता था कि तुम किसके ब्रह्मचारी हो।[50] इसपर विद्यार्थी स्वभावतः उत्तर देता था कि आपका ही ब्रह्मचारी हूँ। तत्पश्चात् आचार्य कहता था, "नहीं, तुम इन्द्र के ब्रह्मचारी हो, पहले अग्नि तुम्हारा आचार्य है, बाद में हम।" फिर विद्यार्थी का दायाँ हाथ ग्रहण कर उसे शिष्य के रूप में स्वीकारते हुए कहता था – "मैं सविता की आज्ञा से तुम्हें शिष्य के रूप में स्वीकार करता हूँ।" तदन्तर विद्यार्थी के हृदय पर अपना हाथ रखकर आचार्य कहता था – "तुम्हारे और हमारे बीच सर्वदा प्रेम और विश्वास रहे।"[51]

उपनिषदों में गुरूकुल के स्थान पर ''आर्चायकुल" का प्रयोग किया गया है। 'कुल' शब्द अत्यंत सार्थक और सारगर्भित था जिससे एक परम्परा का बोध होता था। गुरूकुल दो प्रकार के थे, गृहस्यगुरू आश्रम और वनस्थ प्रवर्जित गुरू आश्रम। शिष्य अपने माता-पिता के कुल से आचार्य कुल में जाकर आचार्य में पुत्र बुद्धि, आचार्य पत्नी में मातृ बुद्धि की भावना करता तथा पारिवारिक वातावरण का अनुभव करता था। छान्दोग्य उपनिषद में 'आचार्यकुलवासी', 'अन्तेवासी' जैसे शब्दों के साथ-साथ 'ब्रह्मचर्यवास' (गुरूकुल में ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्या ग्रहण करना) का भी उल्लेख हुआ है।[52] कृष्ण और बलराम ने संदीपनी मुनि के आश्रम में शिक्षा ग्रहण की थी।[53]

कच ने शुक्राचार्य के कुल में विद्यार्जन किया था।[54]

महाकाव्यों से गुरूकुलों का सन्दर्भ मिलता है, जो शिक्षा और विद्या के विख्यात अधिष्ठान थे। भारद्वाज और बाल्मिकी आश्रम उच्च कोटि के गुरूकुल थे।[55] महाभारत में उल्लिखित है कि मार्कण्डेय, कण्व ऋषि के आश्रम शिक्षा के प्रधान विद्या स्थल थे।[56] जहाँ विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इन आचार्यो के शिक्षा मण्डलों में बहुसंख्यक छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे। दुर्वासा ऋषि जब कुरू नरेश से मिलने गये तब उनके साथ दस हजार शिष्य थे। यह ऋषि की विद्वत्ता और लोकप्रियता का परिचालक था। इसके अतिरिक्त इन उद्धरणों से यह भी स्पष्ट होता है कि गुरूकुल की महत्ता समाज में पूर्णतः स्थापित हो चुकी थी। स्मृतियों के अनुसार भी छात्र गुरूकुल में रहकर विद्याग्रहण करता था।[57] विद्यार्थी का गुरूकुल में प्रवेश करना उसके नवीन जन्म के समान था[58] जो उसके जीवन की गरिमामयी घटना माना जाता था।

गुरूकुल अथवा आचार्य कुल में रहकर शिक्षा ग्रहण करने की प्रथा प्राचीन काल में बराबर चलती रही। चन्द्रगुप्त मौर्य ने तक्षशिला में चाणक्य के सान्निध्य में रहकर शिक्षा ग्रहण की थी। बौद्ध ग्रंथों से भी ब्राह्मण आचार्यों के कुलों का विवरण मिलता है, जिससे स्पष्ट होता है कि उस युग में लोग गुरूकुलों में रहकर शिक्षा ग्रहण करते थे।[59] चम्पानिवासी दिशा प्रमुख आचार्य के आश्रम में 41,500 छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे। कोसल के सुनेत और सैल उस युग के अत्यंत विख्यात आचार्य थे।[60]

मिथिला का ब्रह्मायु, वैदुस्य ब्राह्मण अनेकानेक शिष्यों का आचार्य था, जिससे अन्तेवासी भी उसी कोटि के विद्वान थे।[61]

गुप्तकाल में भी गुरूकुल की शिक्षा निर्बाध रूप से चलती रही। ब्राह्मण आचार्यों के निवास विद्यार्जन के केन्द्र थे। गुप्त अभिलेखों से विदित होता है कि आचार्य ब्राह्मणों को ग्राम दान में दिये जाते थे। आचार्य देवशर्मा को ब्रह्मपुरक् ग्राम दान में प्रदान किया गया था।[62]

कालिदास के ग्रंथों में अनेक ऐसे आश्रमों का उल्लेख मिलता है जहाँ बौद्धिक उत्कर्ष के निमित्त लोग जाते थे और विभिन्न विषयों में पारंगत होते थे। बाण ने हर्ष चरित में स्वयं लिखा है कि वह विद्या प्राप्ति के निमित्त अनेक वर्षों तक गुरू के आश्रम में रहा था।

ग्यारहवीं सदी के लेखक अलबरूनी भी गुरूकुल का उल्लेख करता है। उसके अनुसार शिष्य दिन-रात गुरू की सेवा में तल्लीन रहा करता था।[63]

मध्यकालीन अनेक लेखकों से विदित होता है कि गुरूकुल की पारिपाटी समाज में थी।[64] मध्ययुग में बहुधा ब्राह्मणवर्ग शिक्षा के निमित्त आचार्यों के सान्निध्य में जाते थे। प्राचीनकाल में आचार्य अथवा गुरू के निम्नलिखित प्रकार थे - आचार्य, उपाध्याय, प्रवक्ता, अध्यापक, श्रोत्रिय, गुरू, ऋत्विक, चरक। आचार्य इसलिए कहा जाता था कि वह अपने शिष्यों को 'आचार या 'चरित्र' की भी शिक्षा प्रदान करता था।[65]

मनु ने गुरूओं की कई श्रेणियाँ बतायी है। उनमें 'उपाधया' की एक श्रेणी है। उसके अनुसार जो ब्राह्मण वेद के एक देश (मंत्र तथा ब्राह्मण भाग) को तथा वेदांगों को जीविका के लिए पढ़ाता था, वह 'उपाध्याय' कहा जाता था।[66]

प्रोक्त (शाखा ग्रंथ, ब्राह्मण और श्रोतसूत्र का विद्वान) साहित्य की शिक्षा देने वाला समाज में प्रवक्ता के नाम से विख्यात था। वह आख्याता भी कहा जाता था। वैज्ञानिक और लौकिक साहित्य का ज्ञान प्रदान करने वाला 'अध्यापक' के नाम से विख्यात था। ऐसे अध्यापक जो वेंदों की शाखाओं को कंठस्थ करके छात्रों को दीक्षा देते थे वे 'श्रोत्रिय' कहलाते थे। जो गृहस्थ विद्वान शिक्षा प्रदान करता था वह 'गुरू' की श्रेणी में आता था। पिता भी गुरू की श्रेणी में ग्रहीत किया जाता था। मनु का कथन है कि जो शास्त्रानुसार गर्भाधनादि संस्कारों को करता था और अन्नदि के द्वारा अपने परिवार का संवर्धन करता था, वह ब्राह्मण 'गुरू' कहा जाता था।[67] जो ब्राह्मण वृत होकर (वरण-संकल्पपूर्वक पादप्रणादि कराकर), अग्न्याधान (आह्वानीय आदि अग्नि को उत्पन्न करने का कर्म), पाकयज्ञ (अष्ककादि) और अग्निष्टोम आदि का यज्ञ करता था, पवह ऋत्विक के नाम से विख्यात था। प्राचीनकाल में ऐसे अध्यापक थे जिनका जीवन भ्रमण और यायवर का था। वे घूम-घूमकर अपने शिष्यों का स्वयं चुनाव करते थे तथा उन्हें शिक्षा प्रदान करते थे। इस प्रकार स्थान-स्थान पर विचरण करने वाले ऐसे अध्यापक चरक कहे जाते थे।[68] उपनिषदकाल में महान् विद्वान उदालक आरूणि ऐसे ही 'चरक' आचार्य थे।

प्राय: दो प्रकार के विद्यार्थी गुरूकुल में हुआ करते थे, एक तो वे विद्यार्थी,[69] जो कुछ वर्षों तक गुरू के आश्रम में रहकर शिक्षा-समाप्ति पर 'समावर्तन' संस्कार के बाद गुरू को दक्षिणा के रूप में कुछ प्रदान कर घर लौटते थे, वे उपकुर्वाण कहे जाते थे और दूसरे ऐसे विद्यार्थी थे जो आजन्म आचार्य के आश्रम में रहकर विद्यार्थी बने रहते थे, वे नैष्ठिक कहे जाते थे। 'नैष्ठिक' का अर्थ था जीवन भर ब्रह्मज्ञान के निमित्त ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाला। स्त्रियों के लिए भी नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत विद्धित था। नैष्ठिक ब्रह्मचारी को 'वृहद्व्रतधारी' भी कहा जाता था।

पाणिनी ने दो प्रकार के छात्रों का संकेत किया है - एक दण्डमानव और दूसरा अन्तेवासी।[70] दण्डमानव छात्र ज्ञान प्राप्त करने की प्रारम्भिक स्थिति में रहता थाा और अन्तेवासी उससे उत्कृष्ट कोटि में रहता था। माणवक उपनयन संस्कार के पश्चात् आचार्य के समीप आता था और अन्तेवासी मनसा, वाचा, कर्मणा आचार्य के समीप प्रारम्भ से रहता था। कालान्तर में शिक्षा प्राप्त स्नातकों की तीन श्रेणियाँ हो गयी :

1. विद्याव्रत - स्नातक अथवा उभयस्नातक - इस वर्ग के छात्र वेदवर्णित नियमों और व्रतों का पालन करते थे। इसका समाज में ऊँचा और आदरयुक्त स्थान था।
2. विद्यानस्तरक - ऐसे छात्र जो वेद कंठस्थ करने के पश्चात् व्रत ग्रहण करते थे।
3. व्रत स्नातक - ऐसे स्नातक जो बिना वेदों को कंठस्थ किए व्रतों का पालन करते थे।[71] इत्सिंग ने विद्यार्थियों के दो भेद किए हैं - मानव और ब्रह्मचारी। मानव वे थे जो भविष्य में संघ में दीक्षा ले लेते थे और ब्रह्मचारी वे थे जो प्रवर्जित नहीं होना चाहते थे।[72]

इस प्रकार विद्यार्थियों की कई श्रेणियाँ समाज में थी जो विाभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त कर तथा नियमों का अनुपालन करते बौद्धिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष में मनोनिवेश पूर्वक लगे रहते थे। वस्तुत: सच्चा ब्रह्मचारी था जो समाहित होकर विधिपूर्वक आचरण करता तथा इस पृथ्वी पर गुरू की सेवा में निरत् रहता था।

ऐसा विद्यार्थी ही अत्यंत दुर्लभ विद्या प्राप्त करके सुलभ ज्ञल को प्राप्त करता था।[73]

प्राचीन काल में शूद्रों को वैदिक शिक्षा तथा अन्य विषयों के ज्ञान से वंचित रखा गया था। वेदों के अध्ययन करने के इच्छुक के लिए बडी कठोर व्यवस्था की गयी थी। यहाँ तक कि वेदों को सुनने वाले शूद्रों को भी कड़ा दण्ड दिया जाता था। गौतम ने यह व्यवस्था दी है कि वैदिक मंत्रों का उच्चारण करने वाले शूद्रों को जिह्वा काट देनी चाहिए।[74] शूद्रों के अध्ययन के विषय में कौटिल्य ने कुछ नहीं लिखा। वस्तुतः शूद्र संस्कारहीन थे, इसलिए चतुराश्रमों की व्यवस्था उनके लिए नहीं थी।[75] मनु के अनुसार यह हवि, उपदेश, धर्म और व्रत के लिए अनुपयुक्त था।[76] पूर्वमध्ययुगीन अनेक शास्त्रकारों ने शूद्र को वेद न पढ़ने का निर्देश दिया। अलबरूनी ने भी लिखा है कि उसे वेद पढ़ने का कोई अधिकार नहीं था।[77]

गुरूकुल में ब्रह्मचारी की शिक्षा की समाप्ति पर समारोह आयोजित किया जाता था, जिसमें आचार्य उसे ऐसे उपदेश देता था जो उसके भावी जीवन को प्रगतिमय बनाते थे। यह आयोजन 'समावर्ळान' या 'स्नान संस्कार' के नाम से सम्पन्न होता था। समावर्त्तन का अर्थ था गुरू के यहाँ से शिक्षा प्राप्त कर घर लौटना। उस समय ब्रह्मचारी स्नान करता था, इसलिए उस क्रिया को समावर्त्तन कहा गया। समावर्ळान संस्कार सम्भवतः ज्ञान उपलब्धि का संस्कार था, जिसमें ब्रह्मचारी ज्ञानसागर में स्नान करता था। शिक्षा के अंत में विद्यार्थी के स्थान के कारण उसे स्नातक कहा जता था। पाणिनी ने ब्रह्मचारी के अध्ययन के समाप्ति को समापन कहा है[78] तथा ब्रह्मचारी को स्त्रग्वी।

वैदिक युग में नारी शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता था। ज्ञान और शिक्षा में वे किसी भी प्रकार से पुरूषों से कम नहीं थीं। ऋग्वेद से अनेक ऋषिकाओं के विषय में जानकारी प्राप्त होती है, जिन्होंने अनेकानेक ऋचाओं और मंत्रों की रचना की थी। लोपामुद्रा, विश्ववारा, मैत्रेयी, आपाला, काक्षीवती, घोषा, शिफल आदि विदूषी नारियाँ इनमें अधिक प्रसिद्ध हैं। उपनिषदों में भी अनेक विद्वान स्त्रियों के सन्दर्भ मिलते हैं, जिनमें गार्गी परम विदुषी महिला थी। गार्गी ने जनक के राज्य सभा में याज्ञवल्क्य जैसे विद्वान को अपने गूढ़ प्रश्नों से मूक कर दिया था।[79] याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी भी अत्यन्त विदुषी और ब्रह्मवादिनी महिला थी।[80] तद्युगीन स्त्रियाँ अनेक कार्यों में दक्ष हुआ करती थीं।[81] गृहसूत्रों से विदित होता है कि उनका उपनयन संस्कार के साथ-साथ समावर्त्तन संस्कार भी होता था।[82] इस तरह लगता है कि सूत्रयुग में पुरूषों की तरह स्त्रियाँ भी शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करती थी।[83] उस युग में दो प्रकार की स्त्रियाँ थीं- सद्योवधु और ब्रह्मवासिनी। सद्योवधु विवाह होने के पहले तक ब्रह्मचर्य व्रत का अनुसरण करती थी और ब्रह्मवासिनी जीवन पर्यन्त ज्ञानार्जन में लगी हुई ब्रह्मचर्य व्रत का अनुपालन करती थी।[84] अध्यापन कार्य करने वाली स्त्रियाँ 'आचार्या' या 'उपाध्याय' कही जाती थी।

बौद्ध शिक्षण पद्धति का आरम्भ स्वयं महात्मा बुद्ध ने किया था, जिसमें सरल और सुबोध जनभाषा में जीवन के तत्वों की चर्चा थी। बौद्ध शिक्षा पद्धति में सत्य, दार्शनिक, तथ्य, तर्क, प्रवेक्षण, मनन आदि पर अधिक बल दिय गया। बौद्ध मठों और विहारों के माध्यम से बौद्ध शिक्षा का प्रचार भारत के विभिन्न भागों में हुआ था। प्रारम्भ में हिन्दू और बौद्ध शिक्षाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं था, किन्तु बाद में आकर दोनों शिक्षा प्रणालियों के आदेश और पद्धति में बहुत कम साम्य रह गया।

प्राचीनकाल के उत्तरार्द्ध में नालन्दा विश्वविद्यालय अभूतपूर्व ख्याति प्राप्त कर चुका था, जहाँ बौद्ध धर्म और दर्शन के शिक्षा के अतिरिक्त अन्यान्य विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। इस विश्वविद्यालय के विषय में चीनी यात्रियों ने विशेष रूप से विस्तारपूर्वक लिखा है। नालन्दा की ख्याति महात्मा बुद्ध के समय से थी। पाँच सौ श्रेष्ठियों ने मिलकर दस करोड़ मुद्राओं से नालन्दा क्षेत्र को महात्मा बुद्ध को अर्पित किया था।[85] इस शिक्षा में प्रवेश पाने के इच्छुक विद्यार्थियों के लिए कड़े नियम थे। ऐसे प्रवेश के इच्छुक विद्यार्थियों को सबसे पहले द्वारपाल से वाद-विवाद करना पड़ता था तथा उसकी शंकाओं का समाधान करना आवपश्यक था। उसके प्रश्नों से दस-दस छात्र असफल हो जाया करते थे और एक-दो सफल।[86] अपने-अपने विषय के यहाँ अनेक विद्वान थे।[87] छात्रों के अध्ययन के लिए यहाँ धर्मज्ञ नामक विशालकाय पुस्तकालय था। इत्सिंग ने स्वयं चार सौ संस्कृत पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ तैयार की थी, जिसमें लगभग पाँच लाख श्लोक थे। रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नांजक नामक तीन भवनों से मिलकर भव्य पुस्तकालय का निर्माण हुआ था, जिसमें जिज्ञासु और अध्ययनशील छात्रों की प्रायः भीड़ रहा करती थी।[88]

यहाँ का एक अध्यापक नौ या दस छात्रों को पढ़ाता था। इस विश्वविद्यालय के अध्ययनकक्ष बहुधा बड़े-बड़े थे। इसमें आठ विशाल व्याख्यान भवन थे और तीन सौ छोटे-छोटे व्याख्यान कक्ष।

सभी विषयों को मिलाकर नित्य लगभग एक सौ व्याख्यानों का आयोजन किया जाता था।

नालन्दा में विशेषकर महायान शाखा का अध्ययन किया-कराया जाता था। पाली भाषा की शिक्षा अनिवार्य रूप से प्रदान की जाती थी। नागार्जुन, वसुबंधु, असंग, धर्मकृति आदि ऐसे ही महायानी विचारक थे, जिन्होंने इसी शिक्षा-केन्द्र से अपने को उन्नत किया था। धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, आर्यदेव, ज्ञानचन्द्र आदि ऐसे प्रतिभावान विद्वान थे जिनके आकर्षण से दूरस्थ छात्र भी ज्ञानार्जन के निमित्त आते थे और अपने को सुबुद्ध और सुरक्षित बनाने की चेष्टा करते थे।

यहाँ बौद्ध धर्म और दर्शन के अतिरिक्त न्याय, तत्वज्ञान, व्याकरण आदि की भी शिक्षा दी जाती थी। देश के ही नहीं बल्कि विदेशों के भी छात्र यहाँ अध्ययन करने के लिए आते थे। विदेशी छात्रों में तिब्बत के अधिक छात्र होते थे, जो बौद्ध धर्म और दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए रहते थे। शिक्षा समाप्ति के बाद छात्रों को उपाधि प्राप्त होती थी, जो उसके विषय की दक्षता का प्रमाण माना जाता था।[89]

पूर्व मध्ययुग में मुसलमानों के आक्रमण के कारण अनेक भारतीय शिक्षा मंदिरों का विनाश हुआ। इनमें विक्रमशिला भी था, जिसे 1203 में बख्तियार खिलजी ने तोड़कर और जलाकर नष्ट कर दिया था।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय के अतिरिक्त वल्लाभी विश्वविद्यालय तथा तक्षशिला विश्वविद्यालय शिक्षा के केन्द्र थे। तक्षशिला विश्वविद्यालय ज्ञान और विद्या के क्षेत्र में बहुत अधिक प्रसिद्ध था। इसकी प्रसिद्धि सातवीं सदी ईसा पूर्व में ही हो गयी थी। यह उल्लिखित है कि उसकी स्थापना भारत ने की थी और इसका प्रशासन तक्ष को सौंपा गया था।[90] महाभारत से विदित होता है कि जनमेजय ने अपना नागयज्ञ यहीं सम्पन्न किया था।[91]

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि उत्तर वैदिक काल में ही तक्षशिला एक नगर के रूप में विकसित हो चुका था। जातकों से विदित होता हैं कि देश के विभिन्न स्थानों से छात्र वहाँ जाकर आचार्यों के सान्निध्य में रहकर शिल्प का ज्ञान प्राप्त करते थे।[92] देश के कोने-कोने से छात्र यहाँ आकर शिक्षा प्राप्त करते थे, इनमें वाराणसी, पाटलिपुत्र, राजगृह, मिथिला उज्जैयनी आदि नगरों के भी छात्र होते थे जो यहाँ की ज्ञान गरिमा से परिचित होने के लिए आते थे।[93] पाटलिपुत्र निवासी जीवक ने तक्षशिला में जाकर अध्ययन किया था, जो कालान्तर में आयुर्वेद का महान् विद्वान बना। जातकों से विदित होता है कि यहाँ के एक आचार्य के निर्देशन में पाँच-पाँच सौ छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे।[94] एक जातक में उल्लिखित है कि आचार्य से 103 छात्र धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करते थे।[95] शिक्षा प्राप्त करने और शिक्षा देने में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी समान रूप से शिक्षा ग्रहण करते थे। योग्य और मेधावी छात्रों को राजकीय सहायता पर शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा जाता था। वाराणसी और राजगृह के पुरोहित पुत्र और युवराजों के साथ जाने वाले ऐसे छात्रों को देखा जा सकता था।[96] स्पष्ट है कि इस युग में प्रतिभाशाली किन्तु निर्धन छात्रों को राज्य और समाज की ओर से प्रत्येक संभव सहायता प्राप्त होती थी।

तक्षशिला के शिक्षा केन्द्र का महत्व चौथी सदी ई० तक ही था, क्योंकि पाँचवी सदी में भारत यात्रा करने वाले फाहियान ने इस स्थान से सम्बन्धित ऐसा कोई विवरण नहीं दिया है, जिससे यह जाना जा सके कि तक्षशिला उस समय शिक्षा और विद्या का प्रधान केन्द्र था। इसके अतिरिक्त काशी, कश्मीर, धारा, कन्नौज, अन्हिलपाठया तथा कांची शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे।

लेकिन समय के अंतराल के साथ-साथ मुस्लिम काल में शिक्षा की लौ धीमी पड़ गयी। यद्यपि दिल्ली के सुल्तान जनता के शिक्षा का प्रबंध करना अपना कर्ळव्य नहीं समझते थे, फिर भी उन्होंने अपने मुस्लिम प्रजा की शिक्षा के लिए स्कूल तथा मदरसे स्थापित करने में रूचि दिखलायी। यह एक नियम था कि प्रत्येक मस्जिद से एक मकतब का सम्बन्ध रहता था, जहाँ कुरान के शिक्षा के अतिरिक्त फारसी भाषा का लिखना तथा पढ़ना सिखाया जाता था।[97]

मुगलकालीन भारत में शिक्षा धार्मिक विचारों से प्रभावित थी, जिसका प्रभाव तत्कालीन समाज पर पड़ा।

मुलगकाल में शिक्षा के उद्देश्यों में प्रमुख निम्नवत् थे-

1. प्रत्येक मुसलमान को शिक्षा प्रदान करना।[98]
2. इस्लाम का प्रचार एवं प्रसार करना भी शिक्षा एक उद्देश्य था। पी० एल० रावत लिखता है "भारत में इस्लाम का प्रचार शिक्षा के माध्यम से किया गया। मकतबों में बच्चों को प्रारम्भ से कुरान पढ़ाया जाता था, जिससे उन्हें इस्लाम के सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त हो सके।"[99]
3. भौतिक सुख प्राप्त करना।
4. राजनीतिक उद्देश्यों को प्राप्त करना।

इस्लामी शिक्षा का मूल स्थान भारत नहीं अपितु मध्य एशिया, अरब व इरान थे। यहाँ कफी समय पूर्व ही मुस्लिम शिक्षा प्रणाली का विकास हो गया था। इन देशों के विद्यालय इस्लामी शिक्षा के गढ़ थे। इन विद्यालयों का मुख्य उद्देश्य इस्लाम का प्रचार करना व उसे सुदृढ़ करना था। इस विषय में डॉ० युसुफ हुसैन लिखते हैं कि "मध्य युग में शिक्षा का दृष्टिकोण मजहबी था। राजनीतिक और दर्शन और शिक्षा मजहबी नियंत्रण में है और उन्हें मजहबी परिभाषाओं के अनुकूल बना लिया था। लोगों के सोचने और अभिव्यक्ति का परिचय का दृष्टिकोण मजहबी था।"[100]

अन्य इस्लामी देशों के समान भारत में भी मुगलकाल में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य धार्मिक भावनाओं से अवगत कराना ही था। केवल अकबर का शासनकाल ही इससे अलग था, जिससे धार्मिक उदारता का परिचय स्पष्ट दृष्टिगत होता है।

प्रारम्भिक शिक्षा के प्रमुख केन्द्र विद्यालय थे, जिन्हें उस समय मकतब कहते थे। इन मकतबों में वर्णमाला एवं धार्मिक विचारों एवं प्रार्थना का ज्ञान छात्रों को प्रदान किया जाता था। जनसाधारण के बच्चे इन्हीं मकतबों में शिक्षा प्राप्त करते थे, जबकि उच्चवर्गीय और राजपरिवार के बच्चों के लिए अलग से अध्यापकों की नियुक्ति कर शिक्षा दिलायी जाती थी। मकतबों के अतिरिक्त 'खानकाह' और 'दरगाहों' में भी शिक्षा दी जाती थी। प्रारम्भिक शिक्षा 'बिस्मिल्लाह' की रस्म से सामान्यतः पाँच वर्ष की उम्र से प्रारम्भ की जाती थी।

मुगलकाल में शिक्षा के प्रमुख केन्द्र मदरसे होते थे। इन मदरसों में व्याख्यानों के द्वारा शिक्षा प्रदान की जाती थी। मदरसों में अध्यापकों की नियुक्ति सरकार के द्वारा की जाती थी। मदरसों में प्रवेश उन्हीं छात्रों को दिया जाता था, जिन्होंने मकतब में शिक्षा पूरी कर ली हो। मदरसों के संचालन के लिए एक समिति होती थी जिसमें राज्य के संभ्रान्त व्यक्ति होते थे। मुगल काल में उच्च शिक्षा दो प्रकार की थी-

1. *धर्मनिरपेक्ष शिक्षा:* इसके अन्तर्गत धर्मनिरपेक्ष विषयों में अरबी, व्याकरण, साहित्य, तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्र, इतिहास, गणित, ज्योतिष, भूगोल, कानून, चिकित्सा शास्त्र एवं कृषि इत्यादि थे। शिक्षा का माध्यम अरबी होता थ।।
2. *धार्मिक शिक्षा:* इसके अन्तर्गत धर्म व धार्मिक विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती थी। इस प्रकार की शिक्षा प्रदान किये जाने का कारण धर्मपरिवर्तित मुसलमानों को धर्म से अवगत कराना था। इसी कारण इस प्रकार की शिक्षा को मदरसों के पाठ्यक्रम में शामिल किया गया था। अकबर ने इस व्यवस्था में परिवर्तन किया था तथा हिन्दू और और मुसलमान को समान रूप से शिक्षा प्रदान किए जाने की व्यवस्था की थी।

यद्यपि प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था सम्पूर्ण देश में थी, किन्तु उच्च शिक्षा की व्यवस्था प्रमुख शहरों में थी, क्योंकि मदरसे बड़े-बड़े शहरों में ही थे। मुगलकाल में शिक्षा का आगरा, दिल्ली, जौनपुर, कश्मीर, लाहौर, गुजरात, फतेहपुर सीकरी, ग्वालियर, थानेश्वर, अम्बाला तथा स्यालकोट थे।

मुगलकाल मे यद्यपि स्त्रियों के लिए शिक्षा की व्यवस्था थी, किन्तु यह उतनी अच्छी नहीं थी, जितनी पुरूषों के लिए थी। बालकों के समान बालिकाएँ मकतबों अथवा मदरसों में शिक्षा ग्रहण करने के लिए नहीं जा सकती थी। बालिकाओं को मस्जिद से संलग्न मकतबों में भेजा जाता था, जहाँ उन्हें लिखने और पढ़ने की साधारण शिक्षा प्रदान की जाती थी। उचित शैक्षिक व्यवस्था न होने के पश्चात् भी मुगलकाल में कुछ स्त्रियाँ अत्यन्त विदुषी थीं तथा प्रशासनिक कार्यों में सहायता व परामर्श किया करती थी। मुगलकालीन में कुछ ऐसी प्रमुख स्त्रियाँ थीं - नूरजहाँ, जहाँआरा, ताराबाई। साहिज्यिक क्षेत्र में भी अनेक स्त्रियों का नाम लिया जा सकता है, जिनमें रूपमति, जेबुनिसा, जिनतनिसा व गुलबदन बेगम प्रमुख थी। हुमायूँ की भतीजी सलीमा सुल्तान भी एक विदुषी महिला थी जिसने अनेक कविताओं की रचना की थी। अकबर ने स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया था तथा फतेहपुर सीकरी में एक महिला मदरसे की स्थापना की थी। शाहजहाँ की पुत्री जहाँआरा बेगम एक उच्च विदुषी थी जिसके कब्र पर खुदी हुई उसकी कविता भी उसकी बौद्धिक क्षमता की पुष्टि करता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मुगलकाल में स्त्री शिक्षा यद्यपि उन्नत नहीं थी, किन्तु इस युग में अनेक विदुषी महिलाओं का अविर्भाव हुआ।

मुगलकाल तक आते-आते प्राचीनकाल शिक्षा के केन्द्र लगभग नष्ट हो चुके थे। तुर्क एवं मुसलमान आक्रमणकारियों ने मंदिरों के अतिरिक्त शिक्षा संस्थाओं को भी अपूर्व क्षति पहुँचाई थी। मुगलकाल में हिन्दू शिक्षण संस्थाएँ .प्रमुखतया तीन प्रकार की थी - पाठशालाएँ, विद्यालय व गुरूशालाएँ। पाठशालाओं में लिखने-पढ़ने की साधारण शिक्षाएँ प्रदान की जाती थी। विद्यालय

उच्च शिक्षा के केन्द्र माने जाते थे, जहाँ संस्कृत एवं साहित्य की शिक्षा प्रदान की जाती थी। हिन्दू शिक्षा के प्रमुख केन्द्रों में बनारस, मथुरा, प्रयाग, अयोध्या, मिथिला तथा श्रीनगर प्रमुख थे। बनारस में हिन्दू शिक्षा और संस्कृत की खूब उन्नति हुई। भारत के विभिन्न स्थानों से शिक्षा ग्रहण करने के लिए छात्र बनारस आते थे। बंगाल का 'नदिया' भी हिन्दू शिक्षा का प्रमुख केन्द्र माना जाता था।

उर्पयुक्त तथ्यों का विश्लेषण करने से ऐसा प्रतीत होता है कि शिक्षा के क्षेत्र में भारत का अतीत अत्यंत गौरवमय था। प्राचीनकाल से ही भारत में नालन्दा तथा तक्षशिल जैसे विश्वविख्यात विश्वविद्यालय की स्थापना हो चुकी थी तथा देश-विदेश के छात्र शिक्षा अर्जन के लिए यहाँ आते थे। यद्यपि मध्य काल में भी शिक्षा व्यवस्था कुल मिलाकर संतोषजनक नहीं कही जा सकती है, लेकिन मुगल साम्राज्य के पतन के दिनों में देश में राजनीतिक अव्यवस्था उत्पन्न होने से शिक्षा की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। अतः शिक्षा की स्थिति दयनीय हो गयी। लेकिन भारत में अंग्रेजों के आने के बाद ब्रिटिश शासकों ने इस सिद्धान्त का अक्षरशः पालन किया कि यदि किसी देश को गुलाम बनाये रखना है तो उसके साहित्य और संस्कृति का विनाश कर देना चाहिए।

## संदर्भ


1. विष्णु पुराण 6.5.61।
2. छान्दोग्य उपनिषद 1.1.10।
3. विष्णु पुराण 6.5.62।
4. छान्दोग्य उपनिषद 1.1.10।
5. सु० र० सं०, पृष्ठ संख्या-194।
6. अपरार्क, पृष्ठ संख्या-30,31, स्मृति चन्द्रिका, 1 पृष्ठ संख्या-26।
7. संस्कार प्रकाश, पृष्ठ संख्या-221-225, संस्कार रत्नमाला, पृष्ठ संख्या-904-907।
8. अर्थशास्त्र 1.2।
9. रघुवंश 3.7।
10. उत्तर रामचरित, अंक 2।
11. वारर्स, 1 प्रृठ संख्या-155।
12. मनु 2.36।
13. छान्दोग्य उपनिषद 6.2.1।
14. जै० गृ० सू० 1.12।
15. अथर्ववेद 15.1।
16. निरूक्त 1.19, 73.6।
17. महाभाष्य 1.1.69, नास्या अर्थोगम्यते 4.2.29।
18. अलबरूनी, 11वीं सदी का भारत, पृष्ठ संख्या-169।
19. स्मृति चन्द्रिका-1, पृष्ठ संख्या-29।
20. दि कृत्यकल्पतरू, ब्रह्मचारी काण्ड, पृष्ठ संख्या-263।
21. पूर्वोक्त, पृष्ठ संख्या-271-274।
22. हर्षचरित, पृष्ठ संख्या-123।
23. 11वीं सदी का भारत, पृष्ठ संख्या-170।
24. कृत्यकल्पतरू, दान काण्ड, पृष्ठ संख्या-207-213।
25. 11वीं सदी का भारत, पृष्ठ संख्या-170-171।
26. छान्दोग्य उपनिषद, 7.1, शपतथ ब्राह्मण, 4.6.9.20, 11.5.6.8.।
27. छान्दोग्य उपनिषद, 4.2।
28. छान्दोग्य उपनिषद, 7.1।
29. मु0 उ0 प्र0 30, 6.1।
30. जातक, पृष्ठ संख्या-212, 285-2 पृष्ठ संख्या- 21,80,85,87,4,पृष्ठ संख्या-4,5,127,263 आदि।
31. अर्थशास्त्र, 1.1।
32. रघुवंश, 5.11, कामसूत्र 1-3, 1.15।
33. वील, पृष्ठ संख्या-122।
34. प्रयाग प्रशस्ति।
35. भितरी स्तम्भ लेख।
36. रघुवंश, 4.13।
37. दाण्डि, दंशकुमार रचित, पृष्ठ संख्या- 21-22।
38. बाणभट, हर्षचरित, पृष्ठ संख्या-130।
39. अलबरूनी, 11वीं सदी का भारत, पृष्ठ संख्या-173।
40. पूर्वोक्त, पृष्ठ संख्या-173।
41. दि स्ट्रगल फॉर एम्पायर, पृष्ठ संख्या- 319-20।
42. एपि० ई० 8, पृष्ठ संख्या-150: 19, पृष्ठ संख्या-18,19,5, पृष्ठ संख्या-117-18, पृष्ठ संख्या-154, इंडि ए0, 19, पृष्ठ संख्या-103।
43. एपि0 ई0 11, पृष्ठ संख्या-192; 12, पृष्ठ संख्या-31।
44. पूर्वोक्त, 16 पृष्ठ संख्या-10; 7, पृष्ठ संख्या-87।
45. पूर्वोक्त, 2, पृष्ठ संख्या-336।
46. पूर्वोक्त, 1, पृष्ठ संख्या-51।
47. अलबरूनी, 11वीं सदी का भारत, पृष्ठ संख्या-174।
48. मनु, 2.36।
49. छान्दोग्य उपनिषद, 6.1.1.3।
50. पा0, गु0, सु0, 2.3।
51. हिर0 गृ0 सू0 1.5.11।
52. छान्दोग्य उपनिषद, 2.23.1।
53. विष्णु पुराण, 3.10.12।
54. मत्स्य पुराण, 26.1।
55. रामायण 6.123.51, 2.55.9।
56. महाभारत, 3.271.48, 1.70.18।

57. मनु, 2.69।
58. महाभारत, 5.44.6।
59. जातक 6, पृष्ठ संख्या-32।
60. अंगुत्तर निकाय, पृष्ठ संख्या-371।
61. मज्झिम निकाय 2, 133.34।
62. "लीट; कॉर्प्स इंस्क्रिण्शन्स इंडिकेरम, भाग 3, अभिलेख 56।
63. अलबरूनी, 11वीं सदी का भारत, पृष्ठ संख्या-168।
64. स्मृति चन्द्रिका 2, पृष्ठ संख्या-195।
65. अथर्ववेद, 1.5.3।
66. मनु, 2.141।
67. मनु, 2.142।
68. श0 ब्रा0, 4.2.4.1, बृ0 30, 3. 3.1।
69. मनु, 2.245।
70. पाणिनी, 4.3.130।
71. आश्व गु0 शु0, 3.8.11-14।
72. बील, पृष्ठ संख्या-105-6।
73. हरित स्मृति, 3.15।
74. गौ0 ध0 130, 12.5।
75. महाभारत, अनुशासन पर्व, 163.10।
76. मनु, 2.80।
77. अलबरूनी, 11वीं सदी का भारत, पृष्ठ संख्या-119।
78. आश्व गु0 शु0, 3.9.4, पणिनी, 5.1.112।
79. वृ0 उ0 3.6.8।
80. पूर्वोक्त, 2.4.3.4.5.1।
81. तै0 स0 5.7।
82. आश्व गु0 शु0, 3.8.11।
83. का गु0 शु0, 25-23।
84. हारित, संस्कार प्रकाश में उद्धत।
85. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1992, पृष्ठ संख्या-555।
86. वारर्स, 2, पृष्ठ संख्या-165।
87. पूर्वोक्त, पृष्ठ संख्या-165।
88. पूर्वोक्त, पृष्ठ संख्या-211।
89. इंडियन रिसर्च ऑफ बुद्धिस्ट युनिवर्सिटी, पृष्ठ संख्या-47।
90. रामायण, 7.101, 10-16।
91. महाभारत, 1.3.20।
92. जातक 3, पृष्ठ संख्या-158।
93. जातक 1, पृष्ठ संख्या-272, 285, -2, पृष्ठ संख्या-85,87 -3, पृष्ठ संख्या-238, -4, पृष्ठ संख्या-50,309,312।
94. जातक 5, पृष्ठ संख्या-405।
95. जातक 5, पृष्ठ संख्या-457।
96. जातक 5, पृष्ठ संख्या-498।
97. डॉ0 आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, दिल्ली सल्तनत, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा-1978, पृष्ठ संख्या-320।
98. पी0 एल0 रावत, हिस्ट्री ऑफ इंडियन एजुकेशन, पृष्ठ संख्या-841।
99. पूर्वोक्त, पृष्ठ संख्या-841।
100. डॉ0 युसुफ हुसैन, ग्लिम्प्सेस ऑफ मिडिएभल इंडियन कल्चर, पृष्ठ संख्या-69।

❖❖❖

# चम्पारण सत्याग्रह और नीलहा आन्दोलन

**रवि रंजन कुमार**

*हम तो चले थे अकेले जानिबे मंजिल मगर,*

*लोग साथ आते गए और कारवां बनता गया।*

1917 ई. भारतीय इतिहास का सृजनात्मक एवं चमत्कारी काल माना जाता है। इतिहास साक्षी है कि मनुष्य ने सदैव अन्याय के विरूद्ध आवाज उठायी है। 1917 ई. की रूसी क्रान्ति ने विश्व में विभिन्न स्थानों पर हो रहे अत्याचारों व शोषक प्रवृतियों के विरूद्ध संधर्षरत जनसमुहों की आवाज को और भी सशस्त बनाया। भारतीय जनता ने भी इससे प्रेरित होकर उनपर हो रहे अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठायी। भारतीयों ने इस समय अपना विरोध प्रकट करने के लिए पारम्परिक तरीकों का चयन किया। इस समय तक भारतीय राजनीतिक नभमंडल पर महात्मा गाँधी का आर्विभाव हो चुका था तथा उन्होंने भारतीयों को विरोध प्रदर्शित करने का एक नवीन मार्ग सुक्षाया। यह मार्ग था ''सत्याग्रह''।

इसके द्वारा ही महात्मा गाँधी ने दक्षिण अफ्रिका में अपने उदेश्यों में सफलता प्राप्त की थी। यह पूर्णतया 'अहिंसात्मक' तरीका था। 'सत्याग्रह' को परिभाषित करते हुए स्वयं गाँधी ने कहा था ''सत्य पर अटल रहना ही सत्याग्रह है। सत्याग्रह असत्य को सत्य से व हिंसा को अहिंसा से जीतने का नैतिक अश्त्रा है। इसका उदेश्य धैर्यपूर्वक, कष्ट सहकर, अहिंसात्मक एवं उचित तरीके से सत्य को प्रकट करना, भूलों को सुधारना एवं भूल करने वालों का हृदय परिर्वतन करना हैं, सत्याग्रह एक सरल किन्तु अचूक उपाय है।''

गाँधीजी अपने राजनीतिक गुरू गोपालकृष्ण गोखले की प्रेरणा से प्रेरित होकर ''ठहरो'' स्थिति का अध्ययन करो और आगे बढो'' की नीति अपनाते हुए उन्होंने तत्कालीन राजनीति का सुक्ष्म अध्ययन किया और वे देश के कोने-कोने में गए ताकि लोगों की सही आर्थिक, सामाजिक एवं राजनितिक स्थिति जान सकें।

दक्षिण अफ्रिका में प्राप्त की गई सफलताओं ने गाँधी के भावी जीवन का मार्ग प्रशस्त किया। इसी संधर्ष की अवधि में उन्होने सत्य और अहिंसा के सिद्धांत पर आधारित 'सत्याग्रह' नामक नवीन संधर्ष प्रणाली का विकास किया। उनके विचार में सत्याग्रह एवं ऐसा आध्यात्मिक सिधान्त है जो मानव-मात्र से प्रेम पर आधारित है। इसमें विरोधियों के प्रति घृणा का भाव नहीं है। एक आदर्श सत्याग्रही सत्य एवं शांति का प्रेमी होता है वह बुराई से घृणा करता है, बुरों से नहीं।

गाँधी सत्य के समान अहिंसा पर भी बल देते थे। इनका मानना था कि अहिंसा में सभी समस्याओं के निराकरण करने की अद्‌भुत क्षमता है। उन्होंने अहिंसा कायरता और दुर्बलता का नहीं बल्कि वीरता, दृढ़ता और निड़रता का प्रतीक बताया।

गाँधीजी साधनों की पवित्रता एवं श्रेष्टता में विश्वास करते थे। इनका मानना था कि लक्ष्य तो उच्च होना ही चाहिए लेकिन साधन का भी उच्च होना आवश्यक है। उनका यह भी मानना था कि उच्च साध्य की प्राप्ति के लिए साधन भी श्रेष्ठ होना चाहिए।

इन्हीं अवधारणाओं को महात्मा गाँधी ने अपने जीवन का अमोध अस्त्र बना कर भारतीय राजनीति में अपना अंगद कदम रखा और 'सत्याग्रह' जैसे अस्त्र का प्रयोग करते हुए चम्पारण की ओर 1917 ई. में कूच करने का प्रण लिया।

## चम्पारण में नील की खेती क्यों ?

नीलहे गोरों ने चम्पारण को नील की खेती के लिए क्यों चुना यह एक प्रासांगिक प्रश्न है?

चूंकि देहातों में यह पूर्व कहावत है ''धन देश (ईलाका) मझौवा (प्रगाना) जहाँ भात न पूछे कौवा''।

यह कहावत इसलिए प्रासांगिक है कि चम्पारण की धरती अपनी उर्वरता के लिए लोक प्रसिद्ध है। यहां की मिट्‌टी में इतनी उर्वरक शक्ति है कि यह सोना उगलती है। यहाँ धान

**शोध छात्र, इतिहास विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर**

की खेती, गेहूं की खेती, गन्ने की खेती, रवी की खेती होती है और अपने अच्छी उपज के लिए लोक प्रसिद्ध है।

जब अंग्रेजो ने चम्पारण की उर्वरक मिट्टी की बखान को सुना तो वे अपने आपको इधर आने से रोक न सकें। आने के बाद यहां की शस्य श्यामला मुग्धकारी, मनुहारी भूमि पर बस गए तथा अपनी जमीनदारियां स्थापित की और अपनी सामन्तवादी पद्धति को लागू कर अपनी कोठियां स्थापित की।

चूंकि औद्योगिक क्रान्ति का तुफान इग्लैंण्ड में चल चूका था। मैनचेस्टर की फैक्ट्रियों के लिए अंग्रजों को कच्चेमालों की आवश्यकता थी। अस्तु इन अंग्रजों ने अपने कपड़ों की फैक्ट्रियों के लिए रंग की आवश्यकता महसूस की। नील उनके लिए काफी उपयुक्त नजर आया और इन लोगों ने चम्पारण में नील की खेती करना आवश्यक समझा। चूँकि चम्पारण की उपजाऊ भूमि प्राप्त हुयी। सिंचाई की सुविधा में भी उन्हें प्रकृति द्वारा प्रदत छोटी नदियाँ, नाले, आहर प्राप्त हो गए जिससे बिना किसी तरह के खर्च के सिंचाई सुविधा उपलब्ध हो गयी। जिससे नील के पौधों की सिंचाई भी होने लगी। अत: कम खर्च में नील की खेती होने लगी और अधिक मात्रा में उत्पादन होने लगा। इनकी जमीनदारियों में बसने वाली जनता इनका गुलाम बन जाती थी। जिन्हें कम मजदूरी देकर ये अपने खेतों में काम जबरन कराते थे। साथ ही अधिक समय तक काम लेकर कम मजदूरी देना वे अपना नैतिक दायित्व समझते थे।

19वी. सदी के प्रारम्भ में गोरे बगान मालिकों ने किसानों से एक अनुबन्ध किया जिसके अनुसार किसानों को अपनी जमीन के 3/20वें हिस्से में नील की खेती करना अनिवार्य था। इसे 'तिनकठिया' पद्धति कहा जाता था। इसके तहत उन्हें जबरन अपनी जमीन में नील की खेती करना पड़ता था। जिससे अन्य फसल उगाने में वे मजबूर हो जाते थे।

गोरे बगान मालिकों का आदेश नहीं मानने वाले निरिह जनता पर उनके द्वारा कोड़े बरसाये जाते थे, घोड़े के पैर में बांध कर उन्हें मीलों घसिटा जाता था तथा स्वर्निमित जेलो में भूखे-प्यासे रखा जाता था, तथा लोहे की गर्म सलाखों से दागा भी जाता था। इस तरह एक तरफ उन्हें अपनी जमीन में अन्य फसल नहीं उपजाने के कारण उनके परिवार का भरण-पोषण होना नामुमकिन हो जाता साथ उनके खेतों में उपजी नील का सही मूल्य भी नहीं मिल पाता था।

अपनी जमीन में खेती करने के लिए उन्हें मालिकों को लगान की दर भी काफी अधिक देनी पड़ती थी। लगान की दर नहीं अदा करने पर अपनी जमीन मालिकों को दे देने पर मजबूर होना पड़ता था। जिससे किसानों की स्थिति इतनी दारूण हो गयी कि वे आह से अपनी भूख और आँसुओं से अपनी प्यास बुझा लेते थे।

## पं. राजकुमार शुक्ल द्वारा गाँधीजी को चम्पारण आने हेतु आमंत्रण

पं. राजकुमार शुक्ल चम्पारण की धरती के सच्चे सपूत और नीलहे आन्दोलन के अग्रणी नेता थे। इनका निवास स्थान चनपटिया प्रखण्ड के सतवारिया ग्राम में था। वे स्वयं एक किसान थे जो चम्पारण की जनता पर नीलहे गोरों द्वारा किए जा रहे अत्याचार से काफी दु:खी रहा करते थे। परन्तु इन्हें इस विपत्ति से त्राण दिलाने का कोई विकल्प नजर नहीं आता था।

पं. राजकुमार शुक्ल जी को जब यह ज्ञात हुआ कि गाँधीजी नाम का एक भारत का महान सपूत दक्षिण अफ्रिका में अंग्रेजों के जुल्म से भारतीयों को राहत दिलवाया है, तो उनके मन में यह जिज्ञासा हुयी कि शायद इसी महान सपूत से हम चम्पारण वासियों को अंग्रेजों के इस जुल्म से त्राण दिलवायेंगे। जब उन्हें यह सूचना प्राप्त हुयी कि गाँधीजी जैसा भारत का महान सपूत भारत लौटा है और कांग्रेस में शामिल हो गया है, तो उन्हें यह आशा जगी कि इसी महान सपूत से चम्पारण की जनता को अंग्रेजो के अत्याचार से राहत मिल सकेगी। पं. राजकुमार शुक्ल जी को यह पता चला कि दिसम्बर 1916 में कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में होने जा रहा है जिसमें गाँधीजी भी शामिल होगें, तो उन्हें अधेरे में एक चिराग टिमटिमता नजर आने लगा। वे लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन में गाँधीजी से मिलने और चम्पारण की दुर्दशा सुनाने का प्रण लिया।

वे इस कांग्रेस अधिवेशन में गाँधीजी से मिलने गए और किसानों के प्रति अंग्रेजो द्वारा किए गए कठोर व्यवहार और अत्याचार की चर्चा की। साथ ही गाँधीजी से चम्पारण की दुर्दशा देखने और उससे त्रण दिलाने हेतु अनुनय-विनय किया एवं चम्पारण आने का आमंत्रण दिया। साथ ही 'तिनकठिया' पद्धति से मुक्ति दिलाने का विनय किया। इसे सुनकर गाँधी जी को काफी दु:ख हुआ और इससे मुक्ति दिलाने का आश्वासन दिया।

चम्पारण के इस महान सपूत किसान पं. राजकुमार शुक्ल के अनुरोध पर गाँधी जी 1917 में चम्पारण पहुँचे। चम्पारण पहुँच कर गाँधीजी ने नील-किसानों की समस्या को सुना एवं सही पाया। जांच के क्रम में गाँधीजी

को चम्पारण से चले जाने की सरकारी नोटिश दी गयी।

सरकारी आदेश की अवहेलना के कारण उनपर मुकदमा भी चलाया गया। गाँधीजी के प्रयासों से सरकार ने चम्पारण के किसानों की जांच हेतु एक आयोग नियुक्त किया। गाँधीजी को भी आयोग के सदस्य के रूप में नियुक्त किया गया। अन्ततः गाँधीजी की जीत हुयी। आयोग ने चम्पारण से 'तिनकठिया' पद्धति को समाप्त कर दिया और अंग्रेजो को अवैध वसूली का 25 प्रतिशत वापस करना पड़ा। इस प्रकार चम्पारण के रैयतों की समस्याओं का एक सीमा तक अन्त हो गया। 1917 ई. तक का अधिकांश समय महात्मा गाँधी को चम्पारण के किसानों के लिए काश्तकारी की सुरक्षा के साथ-साथ अपनी पसन्द की फसल उपजाने की आजादी दिलाने में बीता। यह अंग्रेजो पर भारत वासियों की पहली विजय का प्रतीक माना जाता है, जिसकी प्रारम्भ चम्पारण से माना जाता है।

### उपसंहार

चम्पारण सदियों से इतिहास की पृष्ठभूमि का आधार स्तंभ रहा है, उपेक्षाओं का शिकार है। चम्पारण की यह भूमि महार्षि बाल्मिकी की तपोभूमि रही है जिन्हें अंगुली माल डाकू से महर्षि बनाया। अयोध्या के राजा श्रीराम के दोनों पुत्र क्रमशः लव और कुश की जन्मभूमि बाल्मीकी नगर के जंगलो में बाल्मीकी महर्षि के आश्रम में हुआ। जनक नन्दनी सीता की शरणस्थली इसी महर्षि के आश्रम में रही है, इससे स्पष्ट होता है कि विदेह राजा जनक की राज्य सीमा चम्पारण की सीमाओं को छूती थी। यद्यपि यह शोध का विषय है। चम्पारण नन्दवंश के राजाओं के साम्राज्य को पल्लवित एवं पुष्पित होने का अवसर प्रदान किया। परन्तु निरंकुशता को प्रकठा पर पहुँचते देखकर उसका अन्त करने में पूर्णतः सहयोग भी किया। जिसका प्रमाण लौरिया का नन्दनगढ़ है।

यह भूमि महान राजनीतिज्ञ और राजनीति के मर्मज्ञ चाणक्य की कर्मभूमि भी रही है जिसने चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे भारत के सम्राट को पैदा किया जिसकी जन्मभूमि संभवतः चम्पारण में ही रही है। यद्यपि अभी तक इसका ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है और यह शोध का विषय बना हुआ है। महान सम्राट विक्रमादित्य का भी साम्राज्य यहाँ रहा है और अपने जीवन के अन्तिम पड़ाव में तपस्या एवं शांति के लिए चम्पारण के जंगलों में ही रहे है। भारत के सम्राट अशोक के साम्राज्य की सीमा चम्पारण तक रही है जिसके प्रमाणिक प्रतीक के रूप में लौरिया का अशोक स्तंभ है।

महात्मा गाँधी को भी भारत का राष्ट्रपिता कहलवाने का श्रेय शायद चम्पारण को ही जाता है जहाँ से गाँधीजी अपना आन्दोलन प्रारम्भ कर भारत को अंग्रेजी साम्राज्य से आजाद कराने का स्वप्न देखे थे।

आज भी सभी पार्टियों के नेता चम्पारण से ही अपनी राजनीतिक यात्रा प्रारम्भ कर भारत के विभिन्न पदों को सुशोभित होते है।

इन संदर्भों के सिहांवलोकन से स्पष्ट होता है कि चम्पारण एक पारस पत्थर के रूप में है जो सबों को सोना तो बना ही देता है स्वयं पत्थर का पत्थर ही रह गया।

## संदर्भ ग्रन्थों की सूची


1. बिहार राज्य अभिलेखागार निदेशालय बिहार सरकार, पटना
2. Bihar district Gazetteer, Champaran. P.C. Roy Chaudhary – Secretariate press, Patna.
3. बिहार राज्य विधायिका सभा वादवृत (सरकारी रिपोर्ट राजकीय मुद्रणालय, बिहार, पटना)
4. The Journals of Bihar March & June 1933
5. जब गाँधीजी चम्पारण आये- डॉ. डी.जी. तेन्दुलकर की पुस्तक- Gandhi in Champarna का हिन्दी रूपान्तरण राजभाषा विभाग, पटना।
6. बिहार स्वंतत्रता संग्राम से जुटे हुए बिहार के कुछ ऐतिहासिक स्थल के विवरण- मंत्रीमंडल सचिवालय एवं समन्वय विभाग, पटना (बिहार)
7. बिहार विधानसभा वादवृत रिपोर्ट (सरकारी रिपोर्ट).
8. असरफ कादरी- राष्ट्रीय आन्दोलन और चम्पारण के स्वंतत्रता सेनानी।
9. राधा गोविन्द प्रसाद & Secretariate Patna 1976.
10. National Movement in India – Dr. Rajendra Prasad.


❖❖❖

# चम्पारण–आन्दोलन

**रीना कुमारी**

बिहार में महात्मा गाँधी का "सत्याग्रह प्रयोग" राष्ट्रीय आन्दोलन के संघर्ष को चम्पारण सत्यग्रहण के रूप में एक नई दिशा प्रदान की हैं परन्तू सत्य और आहिंसा की कर्मस्थली चम्पारण आज वैश्वीकरण के युग में नीलहों के आतंक से उबर का उमीन्दारों के आतंक में चलते माओवादी जन आन्दोलनों के कारण अपनी अस्मिता खोता जा रहा है।

दुनिया के इतिहास की अन्य क्रान्तियों की तरह चम्पारण का आन्दोलन एक शोषणकारी आर्थिक व्यवस्था की भीषण बुराईयों के विरुद्ध असंतोष तथा प्रतिरोध का परिणाम था। चम्पारण का आन्दोलन विशुद्ध किसानों का आन्दोलन था। 1916 के कांग्रेस के ऐतिहासिक लखनऊ अधिवेशन में गाँधी जी एक मूक दर्शक की हैसियत से शरीक हुए किन्तु वहीं उन्हें एक सूत्र मिला जिसके द्वारा वे बिहार के चम्पारण जिले में अपने "सत्याग्रह" नामक अस्त्र का सफल प्रयोग किये।

गाँधी जी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रवाद का यह सफल प्रयोग आहिंसा, सत्य एवं शोषित दलित समूह के जागरण तथा उन्मुक्ति पर बल देने के कारण सर्वथा अद्वितीय था।

चम्पारण का यह मामला बहुत पुराना था 19वीं सदी के आरंभ में गोरे बगान मालिकों ने किसानों से एक अनुबंध करा लिया था, जिसके अन्तर्गत किसानों को अपनी जमीन के 3/20 वें हिस्से में नील की खेती करना अनिवार्य था।, एवं इसे "तिनकटिया" पद्धति कहा जाता है। इतना ही नहीं अंग्रेजी में चम्पारण जिले में नील बनाने के अनेकों कारखाने खोल रखे थे तथा अनेकों गांवों की माल गुजारी वसूल करने का ठेका भी उनके पास था यूरोनीय निलहे दो तरीकों से नील की खेती करते थें।–

1. जीरात–इसके अन्तर्गत सीधे वे अपनी देख-रेख में अपने ससांधनों से नील की खेती करते थे।
2. आसामीबार–इसमें कोठी वाला साहग रैयतों के द्वारा उन्हीं के खेत में नील की खेती करते थे, परन्तु चम्पारण में तिनकठिया प्रणाली अत्यधिक प्रचलित था डा. राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि किसी भी रैयत को हिम्मत नहीं होती थी कि वह नील बोने से इनकार करे और अगर कोई भी हिम्मत करता था तो उस पर काफी जुल्म ढाये जाते थे नील बोने का कार्य सबसे पहले करना पड़ता था और फसल तैयार हो जाने पर उसे काटकर कोठी पर पहुंचाना पड़ता था नीलवार तथा अत्यचार इतना अधिक था कि उन्हें तरह-तरह के नजराने भी कोठी को देना पड़ता था।

यद्यपि 31 मार्च 1913 को ब्रजकिशोर ने बिहार उड़ीसा लेजेस्लेटिव कौंसिल में चम्पारण की समस्या को उठाया मुख्य सचिव मैक्फर्सन ने समस्या के समाधान का वचन देकर भी मुकर गये।

चम्पारण की स्थिति पर समाचार पत्रों के भी लगातार निबन्ध प्रकाशित किये। कानपुर से प्रकाशित प्रताप ने 29 नवम्बर 1914, 13 दिसम्बर 1914 तथा जनवरी 1915 को अपने अंक में चम्पारण की दुखद स्थिति पर विस्तृत प्रकाश डाला। इसी प्रकार इलाहबाद से प्रकाशित "अभ्युदय" तथा कलकत्ता से प्रकाशित "भारत मित्र" में भी लेख प्रकाशित हुए। मार्च 1916 में "प्रताप" में चम्पारण की प्रजा पर अत्याचार शीर्षक से अपील प्रकाशित कर प्रबुद्ध एवं शिक्षित वर्गों तथा समाचार पत्रों के संपादकों से अनुरोध किया गया कि वे चम्पारण के नीलहे गोरों के अत्याचारों से संबंधित प्रमाणित जानकारी उपलब्ध कराये।

चम्पारण में लोगों का असंतोष बढ़ता जा रहा था और नीलहे लोगों की सख्ती बढ़ती जा रही थी। अत: चम्पारण के किसान राजकुमार शुक्ल ने जो निलहे के अतंक से पीड़ित थे, आन्दोलन के लिये प्रयत्नशील हो गये महात्मा गाँधी के लखनऊ कांग्रेस में शामिल होने की खबर पाकर राजकुमार शुक्ल गाँधी को बुलाने हेतु पहुंचाने गये। गाँधी ने इस आमंत्रण को स्वीकार करते हुए कलकत्ता से वापसी के समय चम्पारण आना स्वीकार कर लिया। इस खबर को पाकर चम्पारण के किसानों में एक नवीन आशा और उत्साह का संचार हुआ।

**शोध छात्रा, इतिहास विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर**

3 अप्रैल 1917 ई. को राजकुमार शुक्ल को तार द्वारा सूचित किया कि वे कलकत्ता जा रहे हैं वे वहां भूपेन्द्र नाथ बसु के आवास पर आकर उनसे मिले।

गाँधी जी कलकत्ता से 9 अप्रैल 1917 ई. को राजकुमार शुक्ल के साथ प्रस्थान कर 10 अप्रैल को पटना पहुंचे।

पटना में शुक्ल जी ने गाँधी जी को लेकर राजेन्द्र बाबू के आवास पर गये परन्तु राजेन्द्र बाबू का पुरी चले जाने के कारण कुछ देर बाद वे मजहरूल साहब के यहाँ चले गये।

इसी दिन संध्या समय गाँधी जी राजशुक्ल के साथ मुजफ्फरपुर के लिये प्रस्थान कर गये वहाँ कृपलानी जी (बी. वी. कॉलेज के प्राध्यापक) अपने छात्रों के साथ काफी गर्मजोशी के साथ उनका स्वागत अपने आवास पर किये। बिहार आने का गाँधी जी का उद्देश्य चम्पारण के कृषकों की स्थिति की जांच तथा निलहे साहबों से उनकी क्या शिकायतें थी इन बातों का अध्ययन करना था परन्तु 13 अप्रैल को तिरहुत संभाग के कमिशनर एल. एफ. मोरसेन्ड ने निर्देश दिया कि संभावित गड़बड़ी की आशंका को मद्धेनजर भारतीय दण्ड प्रक्रिया की धारा 144 के अन्तर्गत चम्पारण छोड़ने का निर्देश दें। 15 अप्रैल को गाँधी जी मोतिहारी गोरखबाबू के यहा पहुँचे तथा 16 अप्रैल को रामनवमी प्रसाद तथा बाबू धरणघर के साथ जसोली ग्राम पहुँचे, जहाँ कुछ दिन पहले गड़बड़ी हुई थी। बैशाख के प्रचण्ड गर्मी में पैदल ही वहां पहुंचे।

गाँधी जी जब चन्द्रहिया नामक गांव में किसानों से बात कर रहे थे। उसी समय इंस्पेक्टर अयोध्या प्रसाद तिवारी ने गाँधी जी को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 144 के उल्लंघन की नोटिस देते हुए कहा की आपकी उपस्थिति शान्ति भगं कर सकती है अत: आप अगली रेलगाड़ी से मोतिहारी छोड़ दें। इतना ही नहीं उनकी गतिविधियों की निगरानी के लिये कलेक्टर ने इंस्पेक्टर कुर्बान अली को नियुक्त कर दिया।

परन्तु गाँधी जी कलेक्टर को पत्र लिखकर स्पष्ट कर दिया कि मैं जिला से बाहर जाने में असमर्थ हूं और जब तक में स्वतंत्र हूँ जाँच कार्य करता रहूंगा।

राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है कि 18 अप्रैल 1917 का दिन केवल चम्पारण के लिये नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारत के लिये स्मरणीय दिन है। जब महात्मा गाँधी जब बिहार प्रान्त के गरीब और पीड़ित लोगों के लिये जेल जाने की तैयारी कर रहे थे। मोतिहारी के अनुमडण्ल अधिकारी के समय अदालत खचा खच भरी हुई थी जिसमें गाँधी जी अपना बयान दे रहे थे। 21 अप्रैल सुबह 7 बजे जिला मजिस्ट्रेड ने पत्र लिखकर गाँधी जी को सूचित किया कि गर्वनर ने उन पर से मुकद्मा उठा लिये जाने की सूचना दी। गाँधी जी ने लेफ्टिनेन्ट गर्वनर के प्राईवेट सचिव को इसके लिये तार द्वारा धन्यवाद दिया।

तत्पश्चात् गाँधी जी ने बेतिया जाने का प्रस्ताव रखा जहां किसानों पर नीलहे कोठी वालों का अमन चक्र चल रहा था। 23 अप्रैल को गाँधी जी बेतिया सब डिविजन ऑफिसर डब्लू. एच. लेविस से मिले।

बेतिया में ब्रजकिशोर प्रसाद राजेन्द्र प्रसाद शभुशरण अनेग्रह नारायण सिह धरणीधर रामनवमी प्रसाद जनकधारी प्रसाद तथा विंध्यवासिनी प्रसाद मुख्य रूप से बयान लिखने का काम करते थे गाँधी जी बेतिया के ग्रामीण इलाकों में भी गये 2500 रैयतों का बयान लिये। जैसे-जैसे बयान लिखने का काम चलता रहा कोठी वालों की बैचेनी बढ़ती गयी और गाँधी जी को बदनाम करने के लिये बिहार प्लाटर्स संघ के सचिव हर्बर्ट काक्स ने निरहुत प्रमण्डल के आयुक्त मोरसेड को पत्र लिखा कि गाँधी के इस जिले में आने में व्यवस्था फेल गयी है।

24 मई 1917 ई. को भारत सरकार के गृह विभाग से बिहार उड़ीसा सरकार के मुख्य सचिव का तार आया कि भारत सरकार एक जाँच कमिटी गठित कर रही हैं जिला अध्यक्ष मध्य प्रदेश के आयुक्त एफ. जी. स्लाई होगा। समिति का जाँच 14 अगस्त तक चला।

3 अक्टुबर को सर्वसम्मति से रिपोर्ट स्वीकार कर ली गई। 29 नम्वम्बर 1917 को मिस्टर मॉड ने चम्पारण कृषि विधेयक को विधान परिषद में पेश किया। जिसकी स्वीकृति 4 मार्च 1918 को मिल गई। जिसकी निम्नलिखित धाराएँ है।

1. तिनकटिया को उठा दिया जाय एवं इसे नाजायज समझा जाय।
2. शरहवैशी तुरकोलिया कोठी की हालत में पहली आसीन 1325 फसली से सैकड़े 20 रुपये तथा अन्य में सैकड़े 26 रुपये घटा देगे।
3. अबवाव नजायज हैं तथा रैयत लगान एवं शेष के लिये बिना कोई फीस, तहरीर या हिस्सा दिये हुए रशीद पाने का मुशतहद है।
4. वसूले गये तवान में एक चौथाई किसानों को लोटाने की व्यवस्था थी।

गाँधी जी ने अपनी आत्म कथा में लिखा है। कि समिति की रिपोर्ट सर्वसम्मत

उनकी आसंकाओं के अनुरूप कृषि विधेयक पारित हो उसका सबसे बड़ा श्रेय एडवर्ड गेट को है। इस प्रकार कोठी वालों के अनुचित लाभ का द्वार सदा के लिये बन्द हो गया और वह रैयतों का नैतिक विजय था।

इसके अतिरिक्त गाँधी जी ने चम्पारण में शिक्षा एवं समाज सुधार संबंधी कार्य की और भी ध्यान दिये। यहां की जनता घोर अज्ञानता एवं गंदगी में जीने के लिये विवश है। अत: उन्होंने गांव वालों को शिक्षित करने का निश्चय किया। 8 नबम्वर 1917 को महाराष्ट्र और गुजरात से कुछ महिलाओं और पुरूषों को लेकर मोतिहारी लोटे एवं मोतिहारी जिलाधिकारी जे. एल. मेरिमेन को आश्वासन दिया कि वे अब रैयतों एवं प्लान्टर्सो के विवाद से अलग रहकर समाज सुधार की ओर ध्यान देगे।

14 नबम्वर 1917 को बड़हरवा लखनसेन में स्कूल स्थापित किये जिसमें बवन गोपाल गोखले एवं उनकी पत्नी अवतिका गोखले शिक्षक नियुक्त किये गये। 20 नबम्वर को भितिहरवा में दूसरी पाठशाला स्थापित की गई जिसमें शिक्षक सदाशिव लक्ष्मण सोमन प्राणलाल प्रभूराम योगी बनाये गये। फरवरी 1918 में भितिहरवा में कन्या पाठशाला खोल दी गई इसमें आनंदी बाई तथा दुर्गाबाई अध्यापिका थी। इसमें छात्रों की सख्या 85 थी बड़हरवा पाठशाला ने शीघ्र ही एक आश्रम का रूप ले लिया और गांव की औरतों से पर्दा प्रथा कमजोर होने लगा एवं खर्चा काटना पड़ना लिखना एवं रामायण पाठ एवं ग्रामीण उत्सवों का अयोजन आश्रम की योजना में शामिल हो गया।

चम्पारण में गाँधी जी का ग्राम सुधार कार्यक्रम चल ही रहा था तभी अहमदाबाद से अनसुया बहन का बुलावा आ गया एवं फरवरी 1918 में गाँधी जी को जाना पड़ा। परन्तु समाज सुधार का कार्यक्रम पूर्ववत चलता रहा।

इस प्रकार गाँधी जी के अनुसार चम्पारण में सत्य और अहिंसा का एक महान प्रयोग किया गया था। गाँधी जी ने 6 मार्च 1925 को बाबू जनकधारी प्रसाद को एक पत्र लिखा-

"चम्पारण के निष्ठावान सहकर्मियों की याद मुझे हमेशा रहेगी। इससे अधिक निष्ठावान दल के साथ काम करने का मौका मुझे न पहले मिला था न फिर कभी मिल सकेगा। अगर मुझे देशभर में ऐसे लोग मिले तो भारत को स्वराज मिलने मे देर न लगेगी।"

गाँधी जी के शब्दों में-चम्पारण संघर्ष इस बात पर प्रमाण था कि किसी भी क्षमत्र में जनता की नि:स्वार्थ सेवा देश को राजनीतिक दृष्टि से अन्तत सहायता प्रदान करती है।

गाँधी जी का चम्पारण आन्दोलन कार्य उद्देश्य, दृष्टिकोण और परिणाम में दृष्टि से मुख्यत: मानवतावादी था। इसने लम्बे समय से चले आ रहे निलहे गोरों के अत्याचारों से रैयतों को छुटकारा दिलाया उनके लिये सामाजिक न्याय प्राप्त किया और अन्य सामाजिक बुराईयों के उन्मुलन की कोशिश की जिनसे वे बुरी तरह पीड़ित थें।

इसने इन्हे निर्भयता और सत्यता का पाठ पढ़ाया जो भारतीय स्वतंत्रता के रूप में काफी साहयक सिद्ध हुआ सामाजिक उन्नति शिक्षा और गाँवों की आर्थिक दशा सुधारने के लिये गाँधी जी ने जो प्रयोग किये सचमुच आज के आन्दोलनों के पूर्वाभ्यास थे, जो भारतीय स्वतंत्रता के समय हुआ था।


1. दत्त: वि. स्वा. आ. खण्ड। पृ. 128
2. श्रीवास्तव–बिहार में राष्ट्रीयता-पृ. 75
3. प्रसाद राजेन्द्र–आत्मकथा साहित्य संसार पटना 1947 पृ. 90
4. सर्चलाईट-2 अक्टूबर 1972
5. बिहार लेण्ड रेवेन्यु ए प्रोसीडिग्स न. 9-12 आफ मार्च 1913
6. वही-न. 22-23–ऑफ दिसम्बर 1915
7. बिहार पॉलिटिकल डिपार्टमेंटल फाईल न. 1217 आफ 1916
8. सिंह–मेरे संस्मरण पृ. 8
9. दत्त के. के. राजेन्द्र प्रसाद आनुवाद प्रफुल्लाचन्द्र ओझा सूचना प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार 1978 पृ. 32
10. मोहन दास करमचन्द्र गाँधी -आत्मकथा 1956 पृ. 50


❖❖❖

# मुगलकालीन चित्रकला

**मोनिका कुमारी**

भारत में मुगलकाल के पूर्व चित्रकला के पुष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जिसके उद्‌भव एवं विकास का इतिहास वर्षों पुराना है। सर्वप्रथम इस कला के बीज आदिमानव द्वारा बोये गये हैं।[1] पुरा पाषाणकाल में मानव ने गुफा चित्रकारी की। सिंधुवासी बरतनों, आभूषणों एवं खिलौनों पर सुंदर चित्र बनाते थे। तत्पश्चात् प्रथम सदी ईसा पूर्व से चित्रकला के अनेक स्पष्ट प्रमाण सामने आने लगे। अजंता की गुफाओं में की गयी सबसे प्राचीन चित्रकारी ई.पू. प्रथम शताब्दी की है। इन चित्रों के विषय भगवान् बुद्ध के अनेक जन्मों की कथाओं को बनाया गया है। गुप्तकाल में अजंता और बाघ की गुफाओं के भित्ति-चित्रों का निर्माण हुआ।[2] छठी शताब्दी में चालुक्यों ने बादामी में भित्ति चित्रकारी के उत्तम नमूने तैयार करवाये। 7वीं शताब्दी में पल्लवकालीन चित्रकला तिरुमलैपुरम, काँची और सितण्णवासल में निर्मित मंदिरों की अंतर्वर्ती दीवारों एवं छतों पर अंकित है। 10वीं शताब्दी में एलीफैंटा के उमा-महेश मन्दिर के दूसरे तल के अंतर्वर्ती छत पर लिया गया चित्रांकन इस गुहा मन्दिर की शोभा को बढ़ता है। चोलों द्वारा 11वीं शताब्दी में भित्ति चित्रकला के अंतर्गत तंजौर के बृहदेश्वर मंदिर की दीवारों पर अजंता की चित्रकला से प्रभावित होकर धार्मिक चित्र बनाये गये हैं। 16वीं शताब्दी में विजयनगर साम्राज्य के शासकों ने लेपाक्षी में भित्ति चित्रकला के अनेक रोचक नमूने बनवाये। सल्तनत काल में इस्लाम प्रतिबंधित होने के कारण चित्रकला पनप नहीं पायी।

बाबर मुगलवंश का संस्थापक था, जिसकी कला में बेहद रुचि थी। अपनी आत्मकथा में उसने अपने समय के प्रसिद्ध चित्रकार बिहजद की प्रशंसा की है। उसने उसके द्वारा निर्मित चित्रों का बारीकी से अध्ययन किया था। चूँकि उसका शासनकाल चार वर्षों का था, इसलिए चित्रकला के क्षेत्र में कुछ करने का उसे समय न मिला।

हुमायूँ ने मुगल चित्रकला की नींव डाली। जब वह शेरशाह से पराजित होकर फारस और अफगानिस्तान में अपना प्रवास व्यतीत किया, जहाँ उसका सम्पर्क ख्वाजा अबदुस्समद और मीर सैयद अली जैसे चित्रकारों से हुआ। वे दोनों कलाकार हुमायूँ की अस्थायी राजधानी काबुल में चित्रकारी करने लगे, जिनसे बालक अकबर ने वहीं चित्रकला सीखी। अबदुस्समद के द्वारा तैयार कृतियों में कुछ पादशाह जहाँगीर के लिए तैयार की गई गुलशन चित्रावली[3] में संगृहीत है, जो इस समय तेहरान के गुलिस्ताँ महल में सुरक्षित है। पुनः जब हुमायूँ को सन् 1555-56 ई० में हिन्दुस्तान की राजसत्ता हस्तगत करने में सफलता मिली, तो दोनों चित्रकार भी उसके साथ दिल्ली में ही आकर चित्रकारी करने लगे, जिनकी शैली ईरानी थी। हुमायूँ के पश्चात् अकबर के सिंहासन पर बैठने पर भी वे दोनों चित्रकार वहाँ सेवारत रहे।

अकबर के समय में ही मुगल चित्रकला शैशवावस्था की दहलीज को पारकर प्रौढ़ावस्था में पहुँच गयी थी। अकबर बचपन से ही चित्रकारी में रुचि रखता था। राजगद्दी पर बैठने के अनन्तर उसने अलग चित्रकला विभाग की स्थापना की, जहाँ फतेहपुर सीकरी में देशी-विदेशी चित्रकार काम करने लगे। आइने-अकबरी में अबुल फजल ने प्रमुख चित्रकारों का उल्लेख किया है, जिनके नाम हैं- दसवंत, बसावन, केशव, लाल, मुकुंद, मेशकिन, फारूख, कलमक, माधू, जगन, महेश, खेमकरण, तारा, सांवल, हरिवंश और राम।[4]

दास्ताने-अमीर-हम्जा मुगल चित्रकला की पहली महत्त्वपूर्ण कृति है, जो हम्जानामा के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। दुर्लभ आंशिक पाण्डुलिपि के रूप में प्राप्त इसमें 1200 चित्रों का अनोखा संग्रह हैं, जिसमें हरे, काले, कसानी, पीले, नीले और लाल रंगों का प्रयोग मिलता है। हम्जानामा की चर्चा अबुल फजल, शाहनवाज एवं बदायूँनी ने भी की है। अकबर की प्रेरणा से इस चित्र संग्रह का निर्माण सैयद अली एवं अबदुस्समद के मार्गदर्शन में बिहजद जैसे करीब 50 चित्रकारों के परिश्रम से 15 वर्षों में पूरा हुआ। मुल्ला अलाउद्दौला कजवीनी ने अपने नफाइसुल-मासिर में उसे हुमायूँ के मस्तिष्क की उपज माना है।[5] हम्जनामा के चित्रों की ये विलक्षणताएँ है: ''विदेशी या विजातीय पेड़-पौधे और उनके रंग-बिरंगे फूल-पत्ते, स्थापत्य अलंकरण की बारीकियाँ, साजो-समान आदि-आदि।[6]

**शोध छात्रा, इतिहास विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर**

अबुल फजल ने लिखा है कि दरबारी चित्रकारों में आपस में प्रतिस्पर्धा की भावना थी। अकबर हर हफ्ते कलाकारों के कार्यों का निरीक्षण करता था, वह उनकी दक्षता और गुणवत्ता का मूल्यांकन कर उन्हें सम्मानित करता था। उसने एक अदने से चित्रकार दसवंत को ''अपने समय का पहला अग्रणी कलाकार''[7] बनने में भरपूर सहयोग दिया।

दसवंत द्वारा बनाए गए चित्र रज्मनामा पाण्डुलिपि महाराजा सवाई मानसिंह द्वितीय संग्रहालय जयपुर में उपलब्ध है। उनकी अन्य दो कृतियाँ खानदाने-तैमूरिया एवं तूतीनामा हैं। बाद में दसवंत ने मानसिक रूप से विक्षिप्त होकर सन् 1584 ई० में आत्महत्या कर ली। रज्मनामा पाण्डुलिपि को मुगल चित्रकला के इतिहास में एक मील का पत्थर माना जाता है। अकबर के निजी उपयेाग हेतु चित्रकारों द्वारा चुनिंदा विषयों के लघु-चित्र बनाये जाते थे। दसवतं के अलावा लाल, तुलसी, मेशकिन एवं बसावन ने भी उत्कृष्ट रचनाएँ तैयार कीं। इनमें बसावन चित्रकला सभी के क्षेत्रों में रंगों के प्रयोग में, रेखांकन में, भू-दृश्यों के चित्रण तथा छवि-चित्रकारी में निपुण था। बसावन की सर्वोत्कृष्ट कृति मजनू को एक कृशकाय घोड़े के साथ निर्जन क्षेत्र में भटकता हुआ चित्र था।

रज्मनामा के बाद शाही चित्रशाला में चित्रित पाण्डुलिपियों की भरमार हो गई, जिनमें प्रमुख हैं- रामायण (1589), अनवरे-सुहाइली (1595-96), बाबरनामा (1595-96), जमीयुत-तबारीख आदि।[8] उपर्युक्त पाण्डुलिपियों में संलग्न अधिकांश चित्र मुगल चित्रणशाला में निर्मित लघु-चित्रों के उत्कृष्ट नमूने हैं। रंग-योजना के लिहाज से इनमें तकनीक पर चित्रकारों का कौशल नजर आता है। इतना ही नहीं प्रकृति एवं मानव के विषय में चित्रकारों की परिपक्व अवधारणा परिलक्षित होती है। इन चित्रों में विभिन्न देशीय एवं स्थानीय कला के तत्त्वों का अनोखा सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है। चित्रकारों ने चित्रों के माध्यम से अपने आश्रयदाताओं के अनुकूल अभिव्यक्ति प्रदान की। इन चित्रों के विषयों का चुनाव खुद बादशाह के इच्छानुसार होने से इनमें जनसाधारण की कलात्मकता के दर्शन समाप्त हो गए। अकबरनामा के चित्र यथार्थपरक और विश्वसनीय नजर आते हैं, जिसका तैमूरनामा, जमीयुत-तवारीख, तारीखे-अल्फी की हस्तलिखित प्रतियों में अभाव है। अकबरनामा के चित्र सजीव दृष्टिगोचर होते है, जिसके अधिकांश चित्रों में वन्य जीवों, पेड़-पौधों एवं भू-दृश्यों का अंकन प्रामाणिक परिलक्षित होता है।

ईरान एवं मध्य एशिया से आये चित्रकारों तथा भारतीय चित्रकारों ने आपस में मिल कर मुगल चित्रकला में ईरानी प्रभाव की जगह एक नवीन शैली को विकसित किया, जिसमें ईरानी एवं भारतीय शैली के तत्त्वों का सम्मिश्रण हुआ। वह नवीन मुगल शैली जो विशुद्ध भारतीय शैली मानी जाती थी, के प्रमुख विषय थे व्यक्ति के चित्र, ऐतिहासिक घटनाओं तथा दरबारी जीवन के चित्र, वृक्षों, फल-फूलों और पशुओं के चित्र, पौराणिक गाथाओं के चित्र आदि। तद्युगीन चित्रकार चित्र-निर्माण से सम्बन्धित सामग्री अपनी देख-रेख में बनवाते थे।

जहांगीर चित्र का शौकीन था। उसने हेरात के उत्प्रवासी आका रिजा के नेतृत्व में आगरे में एक चित्रणशाला की स्थापना की, जिसमें चित्र-निर्माण का काम तेजी से शुरू हो गया। जहाँगीर के शहजादा काल में शुरू चित्रकला की परम्परा उसके पादशाह बनने पर भी सक्रिय रही। बाद में उसी परम्परा ने मुगल चित्रकला को आकाशीय ऊँचाई पर पहुँचा दिया। जहाँगीर की इच्छा थी कि चित्रकार चित्रकला की विभिन्न शाखाओं में से किसी एक या अधिक शाखाओं में सिद्धहस्त हों, जो मेरे अनुकूल चित्र बना सकें। जहाँगीर की दिलचस्पी लघु एवं छवि-चित्रों में थी। छवि-चित्र के अन्तर्गत उसने शाही परिवार के सदस्यों, धर्म, साहित्य, संगीत, कला इत्यादि से सम्बन्धित व्यक्तियों के छवि-चित्र बनवाने लगे। उस समय के छवि-चित्र मानवाकार वाले एवं खड़े व्यक्तियों के प्राप्त होते हैं। आरम्भ में फारूख बेग, नन्हा एवं मनोहर ने छवि-चित्र बनाए, लेकिन बाद में बिशनदास, अबुल हसन, मनोहर और दौलत ने एकल तथा सामूहिक छवि-चित्र बनाए। वह अपने चित्रकारों को आदेश देता था कि वे त्योहारों एवं सभाओं का चित्रात्मक विवरण प्रस्तुत करें, जिनमें मेरी रुचि के अनुकूल फूल-पौधों या पशु-पक्षियों के चित्र समायोजित हों। जहाँगीर की ताजपोशी के और होली तथा जन्मदिन पर तुलादान आदि खुशी के अवसरों पर लगाए गए सभाओं के उल्लासपूर्ण चित्र निर्मित हुए। इन चित्रों के अतिरिक्त उसके बाजपालन एवं आखेट के चित्र भी इस समय भारतीय और विदेशी संग्रहालयों में उपलब्ध हैं। भारतीय संग्रहालय कोलकाता में उपलब्ध एक चित्र में यह देखने को मिला है कि राजकुमार शेरनी की दाईं नेत्र की तरफ संकेत कर रहा है एवं जहाँगीर वहीं बन्दूक का सही निशाना साधता है।

जहाँगीर के चित्रणशाला में कार्यरत अनगिनत चित्रकारों में फारूख बेग, दौलत, मनोहर, बिशनदास, मंसूर एवं अबुल हसन प्रमुख चित्रकार थे, जिन्होंने अपनी कलात्मक प्रतिभा की वजह से मुगल चित्रकला के इतिहास के सुनहले

पृष्ठों में अपना नाम दर्ज करवा लिया। फारूख बेग जिस समय अकबरी चित्रशाला में प्रवेश किया, उस समय मुगल चित्रकला अपने चरमोत्कर्ष पर थी। अकबर की मृत्यु के पश्चात् भी वह जहाँगीर की चित्रशाला में कार्यरत रहा एवं जिस दौरान उसने कवियों के रोचक चित्रों का निर्माण किया।

जहाँगीर के आदेशानुसार दौलत ने अपने सहकर्मी चित्रकारों- अबुल हसन, बिशनदास एवं गोवर्धन के सर्वोत्तम छवि-चित्रों का निर्माण किया तथा साथ-साथ अपना भी एक छवि-चित्र बनाया। मनोहर तथा बिशनदास छवि-चित्रों के निर्माण में दक्ष थे। पादशाह का मनोहर पर पूर्ण विश्वास था, जिसकी तूलिका से उस समय के उत्कृष्ट छवि-चित्रों का निर्माण हुआ था।

जहाँगीर अपनी सौन्दर्य-भावना को सन्तुष्ट करने वाले चित्र अच्छी कीमत देकर खरीदता था, वह सुन्दर चित्रों का संग्रह भी करता था। अपनी आत्मकथा में जहाँगीर एक जगह लिखता है- ''चित्रों में मेरी रुचि और उनका मूल्यांकन करने की मेरी क्षमता उस स्थिति पर पहुँच गई है कि जब कोई चित्र मेरे सम्मुख आता है, चाहे वह किसी मृत कलाकार का बनाया हुआ हो या जीवित का, तो मैं उसे देखते ही तत्क्षण यह बता सकता हूँ कि यह अमुक चित्रकार की कृति है। यदि कोई ऐसा सामूहिक चित्र हो, जिसमें अनेक छवि-चित्र बने हों और प्रत्येक चेहरा अलग-अलग कलाकार का बनाया हुआ हो तो भी मैं यह पहचान कर सकता हूँ कि अमुक-अमुक चेहरा अमुक-अमुक चित्रकार की रचना है। यदि किसी चेहरे की आँख किसी एक चित्रकार ने बनाई हो और उसकी भौंह किसी दूसरे ने तो भी मैं यह जान सकता हूँ कि मूल चेहरा किसने बनाया था और उस पर आँख किसने बनाई है और भौंह किसने।''[9]

वस्तुतः हुमायूँ के समय नींव रखी गयी चित्रकला शैली जहाँगीर के समय में चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। इसलिए जहाँगीर के काल को मुगल चित्रकला का ''स्वर्ण काल'' कहा जाता है।

जहाँगीर के चित्रकारों में अबुल हसन एवं उस्ताद मंसूर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे, जिनकी प्रशंसा स्वयं पादशाह ने की है। उनकी कलात्मक प्रतिभा का सम्मान करते हुए उसने उन्हें नादिरूज्जमा और नादिर-अल-अस्त्र की उपाधियाँ दी थीं। जहाँगीर के प्रोत्साहन के कारण उस्ताद मंसूर चतुर चितेरा बन पाया। उसने अनूठे फूलों के, दुर्लभ पशुओं के एवं बिरले पक्षियों के चित्र बनाए। उस दक्ष चित्रकार के चित्र देश-विदेश के संग्रहालयों में संरक्षित हैं। उसने अपने आश्रयदाता जहाँगीर का भी प्रतिमापरक चित्र बनाया। वह लघु-चित्रों की प्रत्येक शाखा में माहिर था।

मुगल चित्रकला यूरोपीय चित्रकला के प्रभाव से अछूता नहीं रहा। अकबर द्वारा आमंत्रित किए जाने पर सन् 1580 ई० में गोवा से पहला ईसाई मिशन फतेहपुर सीकरी पहुँचा। उन ईसाई मिशनरियों ने ईसाई धर्म से सम्बन्धित यूरोपीय चित्रों और नक्काशी की प्रतिलिपियाँ पादशाह को उपाहार में दीं। यूरोपीय कलाकृतियों की नवीनता और तकनीकी गुणवत्ता को देखकर मुगल शहजादे के साथ-साथ मुगल चित्रकार भी आकर्षित हुए।

कुछ ही समय में उन कलाकृतियों का प्रभाव मुगल चित्रकारों पर परिलक्षित होने लगा। यूरोपीय नक्काशी का अनुकरण केशवदास, बसावन, सांवल और मेशकिन जैसे चित्रकरों ने किया। आगे चलकर मुगल चित्रकारों ने अपनी चित्रकला में दृश्य विधान की नीरसता को कम करने के लिए यूरोपीय नगर-दृश्यों और भू-दृश्यों की नकलें उतारीं, जिनके लक्षण जयपुर के रज्मनामा और रामायण में। तारीखे-अल्फी में। जमीयुत-तवारीख में एवं बहादिस्तान में दिखाई पड़ते हैं।[10] जहाँगीर के अधीन रहने वाले चित्रकारों ने नवीन प्रतिमा-विज्ञान विकसित करने के उद्देश्य से यूरोपीय धार्मिक विषयों एवं प्रतीकों का अनुकरण किया। यूरोपीय चित्रों को अपने चित्रों में संजोने वाले चित्रकार- अबुल हसन, दौलत मेशकिन, बसावन, केशवदास आदि थे। इससे पता चलता है कि मुगलकालीन भारतीय चित्रकला पर यूरोपीय चित्रकला का व्यापक प्रभाव पड़ा।

जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् मुगल चित्रकला अपनी आभा खोकर पतन की ओर उन्मुख हो गई। शाहजहाँ की हार्दिक रुचि स्थापत्य कला में थी, फिर भी उसने जहाँगीर के समय के चित्रकारों को संरक्षण प्रदान किया।[11] उसके दरबार के प्रमुख चित्रकार मीर हासिम और मुहम्मद फकीर थे। धीरे-धीरे उसके दरबार में चित्रकारों की संख्या घटती गई। चित्रकला की जगह दरबारी शान-शौकत, संगीत एवं नृत्य की प्रधानता हो गई।

शाहजहाँ का पुत्र दाराशिकोह चित्रकला का सम्पोषक था, किन्तु उसकी अकाल मृत्यु की वजह से चित्रकला पराभव के गर्त में पहुँच गई। इस सन्दर्भ में पर्सी ब्राउन ने सच ही कहा है कि जहाँगीर की मृत्यु के साथ ही मुगल चित्रकला की आत्मा विलीन हो गई।[12] कट्टर सुन्नी मुसलमान होने के कारण औरंगजेब ने खुलकर चित्रकला का विरोध किया था। समकालीन विदेशी यात्री मनूसी

ने लिखा है कि अकबर के मकबरे में चित्रित चित्रों पर उसने चूना पुतवा दिया।[13] अत: दरबारी चित्रकार रोजी-रोटी की तलाश में अन्यत्र चले गए और मुगल चित्रकला का दिवावसान हो गया।

मुगलकाल में शाही चित्रणशाला की परिधि के बाहर भी अनेक प्रकार के सरल एवं सीधे-सादे लघु-चित्रों का निर्माण जारी था। तद्युगीन निर्धन लोक कलाकारों द्वारा निर्मित चित्रों में मुगल रूढ़ियों एवं विरासत में प्राप्त भारतीय सिद्ध प्रयोगों का समन्वय दिखाई पड़ता है। उन चित्रकारों ने आम जनता की माँग के अनुरूप शाही चित्रकला शैली अपना ली थी।

मुगल चित्रकला का प्रभाव राजस्थानी (बीकानेरी शैली, बूँदी शैली, मेवाड़ शैली, आमेर शैली) एवं पहाड़ी (काँगड़ा शैली, बसौली शैली) चित्रकलाओं पर पड़ा है।

इस प्रकार मुगलकालीन चित्रकला शैली भारतीय चित्रकला शैली की धारा में समाहित होकर उसके जीवन का हिस्सा बन गई, जिसकी वर्तमान युग में भी प्रासंगिकता है। तद्युगीन चित्र आज भी बनाए जा रहे हैं। अकबर एवं जहाँगीर की भाँति आज भी सरकार देश के चित्रकारों को सम्मानित कर रही है, फिर भी उस समय में चित्रकारों को जो विशेष राजकीय संरक्षण प्राप्त था, वह भारत जैसे लोकतंत्र में संभव नहीं है।

## संदर्भ :-


1. सभ्यता की कहानी (भाग- 1) - अर्जुन देव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और परिषद्, 1990 ई०, पृ० 12
2. वही, पृ० 58
3. मध्यकालीन भारत खंड- 2 (1540-1761 ई.), संपादक - हरिश्चन्द्र वर्मा, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1998 ई०, पृ० 469
4. वही, पृ० 472
5. वही, पृ० 470
6. वही, पृ० 471
7. वही, पृ० 472
8. वही, पृ० 473
9. वही, पृ० 478, 479
10. वही, पृ० 481
11. भारत का इतिहास (1526 ई०-1761 ई०)- डॉ० एल.पी. माथुर, शिवा पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, उदयपुर (राजस्थान), 2001 ई०, पृ० 190
12. वही, पृ० 191
13. भारतीय इतिहास (प्राचीन काल से 1757 ई. तक) - डॉ० वी.एस. भार्गव, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2000 ई. पृ० 554


❖❖❖

# मौर्य शासन काल में सामाजिक व्यवस्था

**प्रशांत कुमार सिंह**

मनु महाराज की व्यवस्थाओं में, बौद्ध एवं मौर्य युग के तत्वावधान में ब्राह्मण समाज पर जो आघात हुए थे, उसकी क्षतिपूर्ति का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। सामाजिक नियमन के विधान तो लगभग धर्मसूत्रों की पुनरावृत्ति हैं।[1] लेकिन आर्थिक दृष्टि से शूद्र वर्ण को हीन बनाए रखने के तमाम बौद्धिक व्यायाम[2] के बाद भी मौर्य युग में आर्थिक गतिविधियों में इनकी बढ़ती हुई हिस्सेदारी को कम नहीं किया जा सका।[3] कौटिल्य के बाद मनु की व्यवस्था में निम्न वर्णों की आबादी को लेकर ठीक विपरीत मान्यताओं के दर्शन होते हैं। कौटिल्य की मान्यता है कि जनपद में निम्नवर्णी लोग अधिक संख्या में निवास करने चाहिएँ[4] जबकि मनु महाराज इससे ठीक विपरीत अभिमत रखते हैं कि जिस राज्य में शूद्रों की जनसंख्या अधिक हो जाती है वह अकाल एवं व्याधि से पीड़ित होकर शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होता है।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि शायद कौटिल्य से मनु तक आते-आते निम्नवर्णी लोग संगठित होने लगे थे और व्यवस्था के प्रति विद्रोह भी जताने लगे थे मनु महाराज शूद्र आवादी इसीलिए कम रखना चाहते हैं।

कौटिल्य ने जिस आबादी को 'श्रम' की तलाश में एकत्र किया था बहुत संभव है इसने उन्हें तत्कालीन व्यवस्था के विरुद्ध भी गोलबन्द होने का अवसर प्रदान किया हो क्योंकि मनुस्मृति में सामाजिक उथल-पुथल के कई चित्र मिलते हैं।[6] एक जगह तो बड़े स्पष्ट शब्दों में मनु ने क्रान्ति के परिणाम स्वरूप उच्च वर्गों को होने वाली असुविधाओं के परिशमन हेतु उनके शस्त्र ग्रहण का विधान किया है।[7] औद्योगिक नहीं तो प्राक् औद्यौगिक समाज में यह मजदूरों की एकता का प्राचीनतम् साक्ष्य तो नही?

अब एक विचार दास प्रथा एवं तत्कालीन समाज में दासत्व की अवधारणा पर भी आलोच्य कालावधि में दासता यद्यपि सिर्फ शूद्रों के लिए ही आरक्षित नहीं थी।[8] तथापि अपनी जर्जर आर्थिक अवस्था एवं निम्नतम सामाजिक स्तर के चलते दासत्व की स्थिति तक पहुँचने वाले भी शूद्र ही थे।[9] दीघ निकाय में उल्लिखित 'सुद्दो वा सुद्द दासो वा'[10] के आधार पर ओल्डेनवर्ग ने निष्कर्ष से सहमत हुआ जा सकता है कि यहाँ शूद्र और दास में कोई अन्तर नहीं किया गया है।[11] प्रो. रामशरण शर्मा अपने एक वैदुष्य विवेचन में लौह तकनीक के कृषि में प्रवेश को कृषि दासों के उद्भव का कारण ठहराते हैं। उनकी व्याख्या है कि लोहे के फाल ने बड़े-बड़े खेतों का अस्तित्व सम्भव बनाया। एक-एक घर के पास इतनी जमीन हो गई जिसे वे स्वयं के श्रम से नहीं जोत सकते थे।[12] फलतः बुद्ध कालीन विशिष्टता के तौर पर खेती में दासों का नियोजन सामने आता है और चरम पर इसका निदर्शन राज्य नियंत्रित मौर्य युगीन अर्थ व्यवस्था में होता है। कौटिल्य स्पष्ट तौर पर यह व्यवस्था देते हैं कि आर्य को दास नहीं बनाया जा सकता।[13] मनु भी इसी तरह का मन्तव्य रखते हैं और कहते हैं कि दासवृत्ति के लिए शूद्रों को ही क्रय किया जाय।[14] बौद्ध साहित्य, अर्थशास्त्र एवं मनुस्मृति में दासत्व एवं तद्जन्य परिस्थितियों के बहुविध चित्र अंकित हैं[15] पालि त्रिपिटक में आठ प्रकार के दासों का वर्णन हैं।[16] अर्थशास्त्र नौ प्रकार बताता है[17] जबकि मनुस्मृति में सात प्रकारों की चर्चा है।[18]

दासत्व के कारणों पर यदि विचार करें तो प्रथम दृष्टया जो कारण समझ में आते हैं, उनमें धनाभाव, ऋणग्रस्तता, युद्ध, प्राकृतिक आपदाएं तो कभी-कभी न्याय एवं दण्ड विधान प्रमुख है। दासों की जीवन स्थितियों के बारे में सर्वाधिकार उनके स्वामी के अधीनस्थ था। दासो के प्रति बुरे या कहें, अमानवीय व्यवहार के निदर्शन होते हैं[19] तो सहृदयता के दृष्टान्त भी मिलते हैं।[20] बहुत संभव है कि दास और स्वामी के सम्बन्ध सौहार्द्रपूर्ण ही होते रहे होंगे शायद इसीलिए यूनानी लेखक भारतीय समाज में दास प्रथा को चिन्हित नहीं कर पाए।[21]

'दासभोग'[22] शब्द के आधार पर दासों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार भी अनुमित किए गए हैं परन्तु स्वामी की सहमति के बिना यह सम्भव नहीं प्रतीत होता।[23] दासों की मुक्ति के भी अनेक प्रावधान किए गए हैं। दीघनिकाय के अनुसार दासत्व से छुटकारा तीन स्थितियों में हो सकता था[24] (1) संन्यास लेने पर (2) स्वामी स्वयं मुक्त कर दे (3) आवश्यक

**शोध छात्र, इतिहास विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर**

शुल्क चुका देने पर कौटिल्य ने भी बड़े विस्तार से दासों की मुक्ति से सम्बन्धित स्थितियों का जायजा लिया है[25]। उपरोक्त व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में यह लगभग प्रमाणित हो जाता है कि आलोच्य कालावधि में दास प्रथा ऐतिहासिक विकास के क्रम में विद्यमान तो थी लेकिन समकालीन विश्व में अन्य अनेक देशों की अपेक्षा काफी मानवीय सहृदय एवं खुले रूपों में।

अधीत कालीन सामाजिक संरचना में पारिवारिक जीवन का अध्ययन एवं अनुशीलन उस काल की बेहतर एवं सापेक्षिक समझ के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। यदि परिवार के स्वरूप से प्रारम्भ करें तो सर्वप्रथम यह अभिज्ञात होता है कि प्राय: परिवार संयुक्त ही होते थे।[26] हालांकि पारिवारिक विघटन के भी साक्ष्य मिले हैं। कभी-कभी स्त्रियों के आपसी कलह के कारण[27] तो कभी आर्थिक दवाबों के चलते।[28] परन्तु बहुधा सम्बन्ध स्नेहिल बने रहते थे। परिवार का ज्येष्ठतम पुरुष सदस्य घर का मुखिया होता था। पिता की मृत्यु के बाद पुत्र सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते थे। परन्तु उत्तराधिकारी की अनुपस्थिति के अवसर पर सारी सम्पत्ति राज्य की हो जाती थी।[29] ज्येष्ठ पुत्र को सम्पत्ति में शायद कुछ अधिक हिस्सा मिलता रहा होगा।[30] जिसके चलते बहुत संभव है कि भाईयों में कभी-कभी विवाद भी उत्पन्न हो जाता रहा होगा, ऐसी स्थिति में उसका निराकरण 'वोहारिक महामत्त' करता था।[31]

सूत्रकारों ने पिता की मृत्यु के बाद बड़े भाई को पितृतुल्य बताया है एवं अनुजों से उसके नियंत्रण में रहने एवं समतुल्य सम्मान प्रदर्शित करने को कहा है।[32] पाणिग्रहण के बाद ही पारिवारिक जीवन का प्रारम्भ मानते हुए पारिवारिक जिम्मेदारियाँ उठानी पड़ती थी।[33] परिवार में माता की प्रतिष्ठा का विशद् वर्णन है[34] वैसे सामान्यतया स्त्रियों की स्थिति इस युग में पहले से कुछ बेहतर प्रतीत होती है, पुत्री का जन्म अब उतना कष्टकर नहीं रहा।[35] बुद्ध एवं महावीर ने स्त्रियों की स्थिति में गुणात्मक सुधार हेतु अप्रत्यक्षत: बड़ा काम किया। संघो में प्रवेश अपने आप में एक क्रान्तिकारी कदम था। थेरीगाथा में कई स्त्रियों को निर्वाण प्राप्त करते हुए बताया गया है,[36] जो यह अभिव्यंजित करता है कि बौद्धिक एंव दार्शनिक क्षेत्रों में वे भी पुरुषों के स्तर तक जाकर उच्चतम पद प्राप्त कर सकती थी।[37] बौद्ध विनय में एक भिक्षुणी को बड़े प्रशंसात्मक लहजे में पण्डिता एंव मेधाविनी इत्यादि कहा गया है।[38]

थेरी गाथा में एक कन्या को पिता की सम्पत्ति में हिस्सेदारी प्रदान की गई है[39] और आगे चलकर मनु ने भी कुमारी कन्या को प्रत्येक भाई के हिस्से में चौथाई हिस्से की अधिकारिणी घोषित किया।[40] परन्तु चूँकि समाज पितृ सत्तात्मक ही था अत: परम्परागत रूप से स्त्री का स्थान पुरुष के नीचे था। वह हमेशा किसी न किसी पुरुष वर्ग के सदस्य के अधीन रखी गई कभी पिता के, कभी पुत्र के।[41] पति सेवा को स्त्री का परमधार्म बताया गया एवं विवाह के उपरांत आज ही की भांति तत्कालीन समाज में भी स्त्री पर पति तथा सास-श्वसुर का अधिकार समझा जाता था।[42] आर्दश वधू एवं गुणी पत्नी के लिए मनु एवं याज्ञबल्क्य जैसे स्मृतिकारों की व्यवस्था है कि वह सदा प्रसन्न रहे; घर की प्रत्येक सामग्री सहेज कर रखे. गृहकार्य में निपुण हो. अपव्यय न करे. पति के प्रिय कार्यों को करे. सास-श्वसुर की सेवा करें तथा सच्चरित्र एवं संयमी हो।[43] तत्कालीन समाज में एक पत्नीत्व[44] एवं बहुपत्नीत्व[45] दोनों ही सुप्रचलित था एवं दोनों ही के पक्ष-विपक्ष में तमाम तर्क दिए गए हैं। सामान्यत: वैवाहिक सम्बन्धों में जातिगत बन्धनों की अहम भूमिका रहती थी परन्तु प्रेम विवाह के अवसरों पर इन बन्धनों के टूटने के साक्ष्य भी है।[46] विवाह की आयु के सम्बन्ध में भी अल्पायु एवं परिपक्व आयु दोनों में ही विवाह विहित किया गया है। बौद्ध साहित्य में पोडषी कन्या का विवाह यानि सोलह वर्ष की उम्र में विवाह अच्छा माना गया है।[47] गौतम और पराशर ने बारह की अवस्था में विवाह उत्तम माना है।[48] सामान्यत: हिन्दू शास्त्रकारों ने बाल विवाह को समर्थन दिया है[49] परन्तु बौद्ध धर्म के प्रभाव में परिपक्वावस्था में विवाह को प्रोत्साहन मिलता प्रतीत होता है। इससे भी स्त्रियों की स्थिति में कुछ फर्क पड़ा होगा। प्रो. जी.एस.पी. मिश्र ने बताया है कि चूँकि बौद्ध संघ में अल्पायु में प्रवजित होना वर्जित था और चूँकि स्त्रियों ने बड़ी संख्या में प्रवज्या ली थी जो बड़ी उम्र में विवाह का एक साक्ष्य बन बैठता है।

## संदर्भ


1. मनुस्मृति, 1.91. 8.410.10, 123. तुलनीय 9.334 10, 125.
2. मनुस्मृति, 10, 129. (शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धन संचय: शूद्रो हि धन मा साद्य ब्रह्मणानेव बाधते)
   मनुस्मृति, 8, 179. 8, 417. 11.13
   उपरोक्त प्राय: सभी उद्धरणों में शूद्रों को आर्थिक दृष्टि से वंचित एवं शोषित रखने का प्रयास दिखाई पड़ता है।
3. मनुस्मृति, 10, 99 और 100 इन उपबन्धों से यह ज्ञात होता है कि मनु ने भी शूद्रों के लिए शिल्पवृत्ति ही अभिहित किया है। द्र. शर्मा, आर.एस.शूद्रों का प्राचीन इतिहास पृ.-178। उन्होंने कहा है कि इस काल में शिल्पियों की संख्या तो बड़ी ही उनकी परिस्थियाँ भी बेहतर हुई।
4. अर्थशास्त्र 6.1 द्र.-अर्थशास्त्र 2,1. अन्यत्र से भी ले आकर बसाने को प्रमुखता दी गई है।

5. मनुस्मृति, 8.418.7, 69; 10-57-58; इन दृष्टान्तों में सामान्य रूप से शूद्रों के प्रति बैरभाव का प्रकटीकरण हुआ है। वैश्य और शूद्र से अपने-अपने कर्तव्यों को करने या कराने के लिए बाध्य करना इस बात का संकेत हो सकता है कि वे अपने विहित कर्मों का अनुपालन शायद न करते हो।
6. 8.348, शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोप रूद्धयते। द्विजातीनां च वर्णाना विप्लवे कालकारिते:-
7. जातक, 1, 200; ग्राम भोजन (ग्राम मुखिया) की दासता का उल्लेख है, जातक, 6, 389; पर कुछ मंत्रीगण दासत्व की स्थिति तक पहुँचते हुए प्रतीत होते है, द्रष्टव्य- वंद्योपध्याय: ''स्लेवरी इन एन्शिएण्ट इण्डिया'' कलकत्त रिव्यू 1930 सं 8 पृ.-254 ब्राह्मणों क्षत्रियों एवं अन्य उच्च कुलोद्भूत लोगों को भी दासत्व ग्रहण किए हुए वर्णित किया गया है।
8. बोस, सोशल एण्ड रूरल इकानामी आफ नार्दन इण्डिया, 2, 422, पी. वी काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र जि. 2 भाग-1, पृ.-33,34।
9. दीघ निकाय, 1, 104;
10. शर्मा, आर.एस, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ.-94 पर उद्धृत।
11. शर्मा, आर.एस, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ.-94
12. अर्थशास्त्र, 3.13
    म्लेच्छानाम् दोष: प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा। नत्वेवार्यस्य दासभाव:।
13. मनु स्मृति:, 8,413, शूद्रं तु कारयेछास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा।
    दास्यायैव हि सृष्टो*सौ बाह्मणस्य स्वयं भुवास्त्र
    8.414, न स्वामिना निसृष्टोपि शूद्रों दास द्विमुच्येत
14. दीघ निकाय, 1.6.4, मज्झिम निकाय, 1. 452, जातक 4.99।
15. जातक, 1,200; 4,22,99; 6, 285 द्र. 307
16. अर्थशास्त्र, 3.13, आत्म बिक्रयिण.... तेनोदरदासाहित कौ...प्रक्षेपानुरूप श्रास्य... दण्ड प्रणीत: ध्वजाहृत...गृहजात दायागत लब्ध...दासी व सगर्भाम्।
17. मनुस्मृति 8.415, ध्वजाहृतों भक्तदासों गृहज: क्रीतद्त्रिमौ पैतृका दण्ड दासस्व सप्तैते दासयोनय:।''
18. जातक, 1, 351 जातक, 1, 402 (एक दासी मति...विसिदायेत्वा रज्युया पहारन्ति); मनु स्मृति, 8. 299, मनुमहाराज भी रज्जुप्रहार की व्यवस्था देते हैं; अंगत्तुर निकाय, 2, 4207-8 दण्ड के भय से दासों के मुख रुदन करते हुए दिखाए गए हैं।
19. जातक, ,451, कटाहक दासपुत्र था, परन्तु स्वामि-पुत्रों के साथ अध्ययननोपरान्त उसे परिवार का भाण्डागारिक बना दिया गया, जातक, 3, 167, इसमें दास स्वामी से अपने पुत्रवत सम्बन्धें की व्याख्या करता है।
20. मैकक्रिण्डल, एन्श्येण्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइण्ड वाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन, फैगमेन्ट, 26, पृ.68
21. पाराजिक, 196-197, विनय पिटक, 3, 136 (136)
22. शर्मा, आर.एस, शूद्रों का प्राचीन इतिहास पृ.-102
23. दीघनिकाय, 1.60-61;
24. अर्थशास्त्र, 3.13
25. गौतम धर्मसूत्र, 28,1; अर्थशास्त्र, 3.5; याज्ञवल्क्य, 2.117 मनुस्मृति, 9.104 उध्वं पितृश्च मानुश्च समेत्य भ्रातर: समम्।
    भजेरन्पैतृकं रिक्यनिशास्ते हि जीवतोस्त्र
26. दृष्टव्य, मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ.-381
27. वही
28. मिश्र, जी.एस.पी, दि एज आफ विनय, 184
29. अर्थशास्त्र, पृ.-184. द्र. मिश्र, जी.एस.पी की पुस्तक, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृ.-145 पर उद्घृत।
30. मिश्र, जी.एस.पी, दि एज आफ विनय, 172-73
31. गौतम धर्मसूत्र, 28.1.3; आपस्तम्ब, 2. 14,6, बौधायन, 2.3.13;
32. आश्वलायन गृ. सू.? 1.9.1; आपस्तम्ब, 2.5.15
33. गौतम धर्मसूत्र, 2.50, (आचार्य श्रेष्ठ: गुणां मातेत्येके) वशिष्ठ धर्मसूत्र, 13.48
34. द्र., मेहता रतिलाल, प्री बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ.-266, आई. वी. हार्नर, वीमेन अण्डर प्रिमिटिव बुद्धिज्म, पृ.-3
35. मिश्र, जी.एस.पी, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्थ, पृ.-147
36. ए.एस अल्तेकर, दिपोजीशन आफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृ.-12-13
37. पाचित्तिय, पृ.-283,
38. अल्तेकर, पूर्व, 236-37, थेरी गाथा (सं. 327) द्र. मिश्रा जी.एस.पी प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थ व्यवस्था, पृ. 147 पर उद्घृत।
39. मनुस्मृति 9, 118,
40. पाराजिक, पृ.2.00-201 स्त्रियों की दस कोटियाँ निर्धारित की गई है एवं प्रत्येक में वह किसी न किसी के अधीन बताई गई है। यथा-मातुरक्खिता, पितृरक्खिता, मातुरक्खिता। ठीक इसी तरह की व्यवस्था आगे चलकर मनुमहाराज भी देते हैं। 9. 2; 9.3; पिता रक्षति कौमारे भर्तारं रक्षति यौवने रक्षान्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वात्रंमर्हतिस्त्र
41. द्र. जी.एस.पी मिश्र, दि एज आफ विनय पृ.-175
42. मनुस्मृति, 5.150, ''सदा प्रदृष्टया.... चामुक्तहस्तया''
    याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.83, 87
    'संयतोपस्करा....भतृतेत्परा''
    'प्रतिप्रिय हिते...चानुपम सुखम्'
43. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2.5.12;
44. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2.5.12;
    महावग्ग 8.1.15; जातक 23, 138;
45. जातक, जि. 2, सं.-152 सिगालजातक जातक जि. 1, सं.-4 चुल्लकसेट्ठि जातक
46. धेरी गाथा, 445
47. गौतम धर्मसूत्र, 18.22 (अप्रयच्छन्दोषी) परशर स्मृति 7.7.8 प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे
48. धर्मशास्त्रों ने रजोदर्शन से पूर्व विवाह सर्वोतम बताया गया है। गौतम धर्मसूत्र 18.21-23 बौ. ध. सू. 4.1.12.14। यानि दूसरे शब्दों में बाल विवाह को समर्थन दिया गया। अर्थशास्त्र, 3.2 में भी स्त्री की उम्र बारह वर्ष विहित है। मनु 9.94, 12 और आठ वर्ष उम्र निर्धारित करते हैं।

# भारत में ब्रिटिश राज्य की आरंभिक संरचना

**सोनी शर्मा**

क्लाइव ने ही प्लासी के युद्ध का नेतृत्व कर भारत में अंग्रेज़ी शक्ति के उदय का मार्ग प्रशस्त किया था। क्लाइव को 1765 में पुनः भारत में अंग्रेज़ी प्रदेशों का मुख्य सेनापति तथा गवर्नर बना कर भेजा गया। यहाँ आकर क्लाइव ने देखा कि उत्तरी भारत की समस्त राजनैतिक प्रणाली अव्यवस्थित है। बंगाल का प्रशासन पूर्णतया अराजकता की स्थिति में है। कम्पनी के कार्यकर्त्ता धन के लोभ तथा उससे उत्पन्न हुए अवगुणों से इतने जकड़े हुए थे कि, कम्पनी का व्यापार ठप हो रहा था। कंपनी के अधिकारियों में उसने भ्रष्टाचार कम करने की कोशिश की।

क्लाइव ने 'सोसाइटी ऑफ ट्रेड' की स्थापना की। अवध से संधि–परास्त शक्तियों के साथ सम्बन्धों को सुनिश्चित करना क्लाइव का प्रथम कार्य था। वह अवध गया तथा अवध के नवाब वज़ीर शुजाउद्दौला से इलाहाबाद में भेंट की तथा इलाहाबाद की संधि (16 अगस्त, 1765) की। शाह आलम से संधि–इसी तरह इलाहाबाद की दूसरी संधि (अगस्त 1765) के अनुसार भगोड़े सम्राट शाह आलम को अंग्रेज़ों के संरक्षण में ले लिया गया तथा उसे इलाहाबाद में रखा गया।

नवाब ने इलाहाबाद तथा कड़ा के जो ज़िले छोड़ दिये थे, शाह आलम को मिले। शाह आलम ने अपने 12 अगस्त के फ़रमान द्वारा कम्पनी को बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की दीवानी स्थाई रूप से दे दी। कम्पनी ने इसके बदले सम्राट को 26 लाख रुपया वार्षिक तथा निज़ामत के व्यय के लिए 53 लाख रुपया देने का आश्वासन दिया। द्वैध प्रणाली–क्लाइव ने बंगाल की उलझन को कुख्यात द्वैध प्रणाली द्वारा सुलझाने का प्रयत्न किया।

प्रान्तों में मुग़ल साम्राज्य के स्वर्ण काल से ही दो मुख्य अधिकारी होते थे, सूबेदार तथा दीवान। सूबेदार का कार्य निज़ामत अर्थात् सैनिक संरक्षण, पुलिस तथा फ़ौजदारी कानून लागू करना, तथा दीवान का कार्य कर व्यवस्था तथा दीवानी कानून लागू करना था। एक दूसरे पर नियन्त्रण का काम भी ये दोनों अधिकारी करते थे तथा सीधे केन्द्रीय सरकार के प्रति उत्तरदायी होते थे। औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात् मुग़ल सत्ता क्षीण हो गयी तथा बंगाल का नवाब मुर्शिदकुली खाँ दीवानी तथा निज़ामत दोनों कार्य करता था। शाह आलम ने 12 अगस्त, 1765 के फ़रमान के अनुसार 26 लाख रुपए वार्षिक के बदले दीवानी का अधिकार कम्पनी को सौंप दिया। कम्पनी को 53 लाख रुपए निज़ामत के कार्य के लिए भी देने थे। अपने पिता मीर जाफ़र की मृत्यु पर फ़रवरी 1765 में निजामुद्दौला को नवाब बनाने की अनुमति दे दी गयी परन्तु शर्त यह थी कि निज़ामत का लगभग समस्त कार्य-भार, अर्थात् सैनिक संरक्षण तथा विदेशी मामले पूर्णतया कम्पनी के हाथों में तथा दीवानी मामले डिप्टी सूबेदार, जिसको कम्पनी मनोनीत करेगी तथा जिसे कम्पनी की अनुमति के बिना हटाया नहीं जा सकेगा, सौंप दे।

कम्पनी इस समय सीधे कर-संग्रह करने का भार न तो लेना चाहती थी और न ही उसके पास ऐसी क्षमता थी। कम्पनी ने दीवानी कार्य के लिए दो उप दीवान, बंगाल के लिए मुहम्मद रज़ा खाँ तथा बिहार के लिए राजा शिताब राय नियुक्त कर दिए। 1765 से लेकर 1772 तक शासन का सारा कार्य इन दो हिन्दुस्तानी अफसरों के अधीन था। उप नाज़िम के रूप में भी मुहम्मद रज़ा खाँ कार्य करते थे। इस प्रकार समस्त दीवानी तथा निज़ामत का कार्य भारतीयों द्वारा ही चलता था यद्यपि उत्तरदायित्व कम्पनी का था। इस व्यवस्था को द्वैध प्रणाली की संज्ञा दी गयी है अर्थात् दो राजे, कम्पनी तथा नवाब।

व्यावहारिक रूप में यह व्यवस्था खोखली सिद्ध हुयी क्योंकि समस्त शक्ति तो कम्पनी के पास थी तथा भारतीय अधिकारी केवल बाहरी मुखौटा मात्र ही थे। असैनिक सुधार–अब कम्पनी एक राजनैतिक संस्था बन चुकी थी। अतएव प्रशासनिक सुधारों की आवश्यकता थी। बंगाल की तीन क्रान्तियों (1757, 1760 तथा 1764) के कारण गवर्नर, पार्षद तथा कम्पनी के अन्य कार्यकर्ता पूर्णतया भ्रष्ट बन चुके थे। केवल धन एकत्रित

**शोध छात्रा, इतिहास विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर**

करने की प्रत्येक व्यक्ति को पड़ी थी। घूस, बेईमानी तथा उपहार लेने की परम्परा बन चुकी थी। कम्पनी के कार्यकर्ता निजी व्यापार करते थे तथा आन्तरिक करों से बचने के लिए दस्तक का प्रयोग करते थे। वे कम्पनी के हितों की नहीं सोचते थे।

उपहार लेने क्लाइव ने बन्द कर दिये, निजी व्यापार बन्द कर दिया। आन्तरिक कर देना अनिवार्य बना दिया। इस तरह इन प्रतिबन्धों से जो हानि हुयी उसकी क्षतिपूर्ति के लिए अगस्त 1765 में कम्पनी के कार्यकर्ताओं की एक व्यापार समिति बना दी गयी जिसको नमक, सुपारी तथा तम्बाकू के व्यापार का एकाधिकार दे दिया गया। उत्पादकों से समस्त माल मोल लेकर यह निकाय निश्चित केन्द्रों पर खुदरा व्यापारियों को बेच देता था। कम्पनी के अधिकारियों को उनके पद के क्रमानुसार इस व्यापार के लाभ को बांट दिया जाता था।

उदाहरण के लिए गवर्नर को 17,500 पौंड, सेना के कर्नल को 7,000 पौंड, मेजर को 2,000 पौंड तथा अन्य कार्यकर्ताओं को कम धन मिल पाता था। सभी दैनिक प्रयोग की वस्तुओं के मूल्य इस व्यवस्था के कारण बढ़ गये तथा बंगाल के लोगों को बहुत कठिनाई होने लगी। यह एक संगठित लूट थी। लोगों की इस व्यापार समिति के कारण कठिनाइयाँ बहुत बढ़ गयी। परन्तु कोर्ट ऑफ़ डाइरेक्टर्स ने 1766 में इस योजना को अस्वीकार कर दिया।

क्लाइव ने जनवरी 1767 में इस आशय के आदेश दे दिये तथा सितम्बर 1768 में यह योजना समाप्त हो गयी। सैनिक सुधार–कोर्ट ऑफ़ डाइरेक्टर्स ने 1763 में सैनिकों का दोहरा भत्ता बन्द कर दिया था। किसी कारणवश क्लाइव के आने तक इस पर अमल नहीं हुआ था। यह दोहरा भत्ता आरम्भ में केवल युद्ध के दिनों में ही दिया जाता था, परन्तु मीर जाफ़र के दिनों से यह शान्ति काल में भी मिलने लगा था। यह अब सैनिकों के वेतन का भाग बन चुका था। इस प्रकार बंगाल के सैनिकों को मद्रास के सैनिकों की अपेक्षा दुगुना भत्ता मिलता था।

क्लाइव ने आज्ञा दी कि यह दोहरा भत्ता बन्द कर दिया जाए तथा जनवरी 1766 से यह भत्ता केवल उन सैनिकों को ही मिलता था जो बंगाल तथा बिहार की सीमा से बाहर कार्य करते थे। इस आज्ञा का मुंगेर तथा इलाहाबाद स्थित अंग्रेज अधिकारियों ने विरोध किया तथा सामूहिक रूप से सैनिक कमीशनों से त्यागपत्र देने की धमकी दी। उन्हें आशा थी कि मराठों के संभावित आक्रमण के कारण क्लाइव डर जाएगा। एक अफ़सर ने तो क्लाइव की हत्या की योजना भी बनाई। क्लाइव ने स्थिति से साहसपूर्वक निबटने की सोची। त्यागपत्र स्वीकार कर लिए गए। नेताओं को बन्दी बनाने तथा मुकदमे चलाने की आज्ञा दे दी गयी। छोटे पदाधिकारियों को जिन्हें कमीशन नहीं मिले हुए थे, उन्हें कमीशन दे दिये गए। मद्रास से भी कुछ अफ़सर बुला लिए गए। इस प्रकार यह विद्रोह दबा दिया गया। 1772 ई. में वारेन हेस्टिंग्ज की नियुक्ति ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

प्रशासनिक सुधार–कोर्ट ऑफ़ डाइरेक्टर्स ने 1772 में द्वैध प्रणाली को समाप्त करने का निर्णय किया तथा कलकत्ता परिषद तथा उसके प्रधान को आज्ञा दी कि वे स्वयं दीवान बनें और बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के प्रबन्ध को अपने हाथ में ले लें।

दोनों उपदीवानों, मुहम्मद रज़ा खाँ तथा राजा शिताब राय को वॉरेन हेस्टिंग्ज़ ने पदच्युत कर दिया। परिषद तथा प्रधान मिलकर अब राजस्व बोर्ड बन गए। मुर्शिदाबाद से कोष कलकत्ता लाया गया। समस्त प्रशासन का बोझ कम्पनी के कार्यकर्त्ताओं पर डाल दिया गया तथा नवाब को इस कार्य का लेशमात्र भी अधिकार नहीं रहा। इधर नवाब की अपनी स्वायत्तता थी परन्तु उसके निजी गृह–प्रबन्ध का पुनर्गठन किया गया और मीर जाफ़र की विधवा मुन्नी बेगम अल्पवयस्क नवाब मुबारिकुद्दौला की संरक्षिका नियुक्त की गयी। उसका भत्ता 32 लाख से घटा कर 16 लाख कर दिया गया। मुगल सम्राट से फिर हेस्टिंग्ज़ ने अपने सम्बन्धों को पुनः स्पष्ट किया। 1765 से दिया जाने वाला 26 लाख वार्षिक रुपया बन्द कर दिया गया। मुगल सम्राट को दिये हुए इलाहाबाद तथा कड़ा के ज़िले पुनः ले लिए गये तथा 50 लाख रुपए में अवध के नवाब को बेच दिये गए। इस पर बाह्य रूप से यह कहा गया कि, सम्राट ने मराठों का संरक्षण स्वीकार कर लिया है परन्तु वास्तविक कारण केवल धन एकत्रित करना था। दरअसल वॉरेन हेस्टिंग्ज़ का विश्वास था कि समस्त भूमि शासक की है। उसने समस्त संयुक्त तथा पुश्तैनी अधिकारों की अवहेलना की। ज़मीदारों को केवल कर संग्रहकर्ता ही माना जिन्हें कृषकों से कर संग्रह करने के लिए केवल अपनी आढ़त का ही अधिकार था। उसने सन्तोषजनक राजस्व व्यवस्था स्थापित करने के लिए सुप्रसिद्ध परीक्षण तथा अशुद्धि का नियम अपनाया।

वॉरेन हेस्टिंग्ज़ ने 1772 में कर–संग्रहण के अधिकार ऊँची बोली बोलने वाले को पाँच वर्ष के लिए नीलाम कर दिए। इस तर्क पर कि ज़मींदार भूमि का स्वामी नहीं है, उसे

नीलामी में कोई श्रेष्ठता नहीं दी गयी अपितु उसके मार्ग में बाधा डाली गयी। कर-संग्रह की व्यवस्था में 1773 में कुछ परिवर्तन किए गए। भ्रष्ट तथा निजी व्यापार में लगे कलेक्टरों को हटा दिया गया तथा उनके स्थान पर ज़िलों में भारतीय दीवान नियुक्त किए गए। उनका कार्य निरीक्षण करने के लिए 6 प्रान्तीय परिषदें नियुक्त की गईं। कलकत्ता स्थित राजस्व समिति के ये सब अधीन होती थीं। हेस्टिंग्ज़ का विचार था कि यह समस्त कार्य कलकत्ते में केन्द्रित होना चाहिए। यह पंचवर्षीय व्यवस्था सर्वथा असफल रही। कृषकों को बहुत कष्ट हुआ। अधिकतर ठेकेदार केवल सट्टेबाज़ थे। न तो उन्हें कोई जानकारी थी और न ही भूमि में स्थाई रुचि। उन्होंने कृषकों से अधिकतम कर प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अपने निजी नौकरों तथा गुमाश्तों की सहायता से कम्पनी के अधिकारियों ने भी नीलामियों में भाग लिया। वॉरेन हेस्टिंग्ज़ स्वयं भी इस लोभ से नहीं बच सका। उसके एक भारतीय नौकर कुन्तु बाबू के दस वर्षीय पुत्र के नाम में भी एक नीलामी पंजीकृत थी। भूमि की क्षमता इसके अतिरिक्त अधिक मानी जाती थी तथा कर अत्यधिक निश्चित किया जाता था। कर एकत्रित करने वालों की लोलुपता इसके अतिरिक्त होती थी। परिणामस्वरूप कर की राशि ठेकेदारों पर बकाया रहने लगी। कई लोग पकड़ लिए गये तथा कई भूमि छोड़ कर भाग गए। पंचवर्षीय ठेके की समाप्ति पर 1776 में पुनः एकवर्षीय प्रणाली अपनाई गयी और कर संग्रहण के अधिकार नीलाम कर दिये गए। परन्तु इस बार ज़मीदारों को अपेक्षाकृत अधिक योग्य समझा गया। पुनः इस व्यवस्था में 1781 में सुधार किया गया तथा प्रान्तीय परिषदें समाप्त कर दी गईं। ज़िलों में पुनः कलेक्टर नियुक्त किए गये लेकिन उन्हें कर निश्चित करने का अधिकार नहीं था। इसमें कानूनगो पुनः नियुक्त किए गये तथा सर्वोपरि निरीक्षण कलकत्ता स्थित राजस्व समिति में था। वॉरेन हेस्टिंग्ज़ कोई निश्चित कर-व्यवस्था अथवा प्रणाली बनाने में असफल रहा। इसका मुख्य कारण उसकी केन्द्रीयकरण की नीति थी।

न्यायिक सुधार–हेंस्टिंग्ज न्यायिक सुधार का जन्मदाता माना जाता है। वारेन हेस्टिंग्ज़ के न्यायिक सुधार अधिक सफल रहे। उससे पूर्व बंगाल में न्यायिक अवस्था बहुत असन्तोषजनक तथा संक्षिप्त थी। दीवानी तथा फ़ौजदारी निर्णय ज़मींदार ही करते थे। मध्यस्थता का प्रचलन बहुत था। धन से फ़ैसले होते थे। छोटे-छोटे अपराधों में भारी जुर्माने किए जाते। लोभी न्यायाधीश हत्या के अपराधियों को भी छोड़ देते थे। मुग़ल रूपरेखा पर आधारित न्याय-प्रणाली को वारेन हेस्टिंग्ज़ ने अपनाने का प्रयत्न किया। 1772 में प्रत्येक ज़िले में एक दीवानी तथा एक फ़ौजदारी न्यायालय स्थापित कर दिया गया। दीवानी न्यायालय कलेक्टरों के अधीन होता था। वे सभी प्रकार के मामले सुनते थे। हिन्दुओं पर हिन्दू विधि तथा मुसलमानों पर मुस्लिम विधि लागू होती थी। 500 रुपए तक के मामले सुने जा सकते थे। उससे ऊपर सदर दीवानी अदालत में अपील हो सकती थी जिसके अध्यक्ष, सर्वोच्च परिषद के प्रधान तथा दो अन्य सदस्य होते थे। उनकी सहायता के लिए भारतीय अधिकारी होते थे। एक भारतीय अधिकारी के अधीन ज़िला फ़ौजदारी अदालत होती थी जिसकी सहायता के लिए एक मुफ़्ती और एक काज़ी होता था। इसमें कलक्टर को यह देखना होता था कि साक्षी ठीक से ली गयी तथा उस पर ठीक-ठीक विचार किया गया है या नहीं। न्याय खुली अदालत में होता था। यहाँ मुस्लिम कानून लागू होता था।

सदर निज़ामत अदालत को मृत्युदण्ड तथा सम्पत्ति की ज़ब्ती के लिए प्रमाणित करना आवश्यक था। ज़िला निज़ामत अदालत से अपील सदर निज़ामत अदालत में होती थी, जिसका अध्यक्ष उपनिज़ाम होता था। एक मुख्य काज़ी, एक मुख्य मुफ़्ती तथा तीन मौलवी भी उसकी सहायता करते थे। इस सदर निज़ामत अदालत के कार्य का निरीक्षण परिषद तथा उसके अध्यक्ष करते थे। 1773 में रेग्यूलेटिंग एक्ट द्वारा एक सुप्रीम कोर्ट कलकत्ता में स्थापित किया गया जिसके अधिकार-क्षेत्र में कलकत्ता में रहने वाले सभी भारतीय तथा अंग्रेज़ थे।

यह न्यायालय कलकत्ता से बाहर रहने वाले भारतीयों के झगड़ों को तभी सुन सकता था यदि दोनों पक्ष इसके लिए स्वीकृति दे दें। यहाँ अंग्रेज़ी कानून लागू होता था जब कि सदर निज़ामत तथा सदर दीवानी अदालतों में हिन्दू अथवा मुस्लिम कानून लागू होता था। परिषद को इसके अतिरिक्त कुछ नियम बनाने का अधिकार भी दिया गया। इन न्यायालयों का कार्यक्षेत्र प्रायः आपस में टकराता था, विशेषकर सुप्रीम कोर्ट तथा सदर अदालतों का। इस झगड़े को कम करने के लिए अक्तूबर 1780 में वॉरेन हेस्टिंग्ज़ ने इम्पे को जो सुप्रीम कोर्ट का मुख्य न्यायाधीश था, सदर दीवानी अदालत का 5,000 रु. मासिक पर अधीक्षक नियुक्त कर दिया। हेंस्टिंग्ज के इस कार्य को डाइरेक्टरों ने अस्वीकार कर दिया तथा नवम्बर 1782 में इम्पे को त्यागपत्र देना पड़ा। इस प्रकार न्याय व्यवस्था में भी द्वैधता चलती रही।

हिन्दू तथा मुस्लिम विधियों को भी वॉरेन हेस्टिंग्ज़ ने एक पुस्तक का रूप देने का प्रयत्न किया। 1776 ई. संस्कृत

में एक पुस्तक ब्वकम वि ळमदजवव सूं छपी। 1791 में विलियम जोन्स तथा कोलब्रुक की क्पहमेज वि भ्पदकन सूं छपी। इसी प्रकार 'फ़तवा-ए-आलमगीरी' का अंग्रेज़ी अनुवाद करने का भी प्रयत्न किया गया। 'कोलब्रुक डाइजेस्ट' को भी इसने संहिताबद्ध करवाया। इसी के समय 1784 में विलियम जोंस ने बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की। वाणिज्य सम्बन्धी सुधार–इसी तरह वॉरेन हेस्टिंग्ज़ ने आन्तरिक व्यापार के क्षेत्र में भी रुकावटें दूर करने का प्रयत्न किया। ज़मीदारों के क्षेत्रों में स्थित शुल्क गृह बन्द कर दिये गए। केवल अब 5 शुल्क गृह कलकत्ता, हुगली, मुर्शिदाबाद, ढाका तथा पटना में रह गए। शुल्क 2ऋ% रह गया जो सभी को देना होता था। उसने कम्पनी के अधिकारियों द्वारा छूट देने के पत्र बन्द कर दिये, विशेषकर उनके अपने निजी व्यापार के लिए। इसी प्रकार कम्पनी के गुमाश्तों द्वारा जुलाहों का शोषण भी बंद कर दिया गया। तिब्बत तथा भूटान से व्यापार बढ़ाने का प्रयत्न भी किया गया।

इस तरह वारेन हेस्टिंग्ज के सुधार की सफलता मिली जुली रही। रेग्यूलेटिंग एक्ट 1773 में पारित किया गया। इसके अनुसार भारत में शासन का भार गवर्नर-जनरल तथा उसकी 4 सदस्यों वाली परिषद् पर डाल दिया गया। यद्यपि इस परिषद् का अध्यक्ष गवर्नर-जनरल होता था परन्तु निर्णय बहुमत से करने होते थे। केवल बराबर-बराबर मत की अवस्था में ही गवर्नर-जनरल के निर्णायक मत का प्रयोग हो सकता था जो 5 सदस्यीय परिषद् में बहुत कम हो सकता था। परिषद् की सभा के लिए न्यूनतम निर्दिष्ट संख्या 3 थी। इन 5 सदस्यों के नाम एक्ट में दिये गये थे। इनमें से हेस्टिंग्ज़ तथा बारवैल तो भारत में ही थे, शेष 3 क्लेवरिंग, फ्रांसिस तथा मॉनसन अक्तूबर 1774 में इंग्लैंड से भारत पहुँचे। इनके झगड़े कलकत्ता पहुँचने के दिन से आरम्भ हो गए। प्रथम शिकायत यह थी कि इनका यथायोग्य सत्कार नहीं हुआ। प्रथम बैठक से ही झगड़ा आरम्भ हो गया। इन सदस्यों ने वॉरेन हेस्टिंग्ज़ के शासन की अनियमितताओं पर बहस करने का प्रस्ताव किया।

परिषद के सदस्यों ने बनारस में नवाब वज़ीर से हुए समस्त पत्र-व्यवहार का ब्यौरा मांगा। इसी प्रकार रुहेला युद्ध में कम्पनी के सम्मिलित होने के बारे में भी पूर्ण ब्यौरा प्राप्त करना चाहा।

## संदर्भ


- K K Datta: *A Survey of Recent Studies on Modern Indian History*, Firma KLM, 1981.
- Biswamoy Pati: *Issues in Modern Indian History for Sumit Sarkar*, Popular, 2000.
- Ramprakash Mathur: *Modern Indian History*, Murari Lal and Sons, 2006.
- Peter Heehs: *Nationalism, Terrorism, Communalism : Essays in Modern Indian History*, OUP, 1998.
- Ranjan Chakrabarti: *Random Notes on Modern Indian History*, Readers Service, 2006.
- M.N. Sharma: *Studies in Modern Indian History : Chauri Chaura Violence: Suspension of Movement*, Sarup Book, 2011.
- B.R. Sharma: *Studies in Modern Indian History : India's March to Swaraj*, Sarup, 2010.


❖❖❖

# स्वतंत्रता आंदोलन और बिहार के किसान

**डॉ० मीना सिन्हा**

बिहार आंदोलन में किसानों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। स्थायी बन्दोबस्त के द्वारा बिहार में जमींदारों के द्वारा किसानों का आर्थिक शोषण एवं दोहन इस कदर किया गया कि इसका कुल परिणाम किसानों के उत्पीड़न के रूप में उभरा।[1] इन किसानों ने उत्पीड़न से मुक्ति पाने के लिए बिहार में न केवल चम्पारण सत्याग्रह वरन असहयोग आन्दोलन सविनय अवज्ञा आन्दोलन और भारत छोड़ो आन्दोलन में भी इनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इन किसानों ने तो हमेशा आजादी की लड़ाई में अपनी सक्रियता को दिखाई लेकिन कांग्रेस की गलत राजनीति के कारण हमेशा इनका शोषण ही होता रहा।[2] किसानों के खास वर्ग एवं जमींदारों को ही किसान आन्दोलन का लाभ भी मिलता था।[3]

बिहार में किसान आन्दोलन के पुरोध स्वामी सहजानंद सरस्वती ने किसान सभा को नवजीवन प्रदान किया। स्वामी जी तथा उनके सहयोगियों ने किसानों में राष्ट्रीयता की भावना को जीवित रखा तथा किसान आन्दोलन को बिल्कुल एक नई दिशा दी, जो बिहार में सर्वाधिक वामपंथ के रूप में उभरा। 1933 से 1935 के बीच में स्वामी सहजानंद सरस्वती ने एक सौ सत्तरह सभाएँ आयोजित की[4] जहाँ किसानों को सम्बोधित किया तथा उनकी आर्थिक समस्याओं को सुलझाने का लक्ष्य भी रखा गया।

बिहार प्रदेश किसान सभा की स्थापना 18 नवम्बर 1929 को एक जमींदार समर्थक विधेयक का विरोध करने के लिए कांग्रेस और स्वराज्य दल के इशारे पर हुई थी और कांग्रेस के भविष्य के मुख्यमंत्री श्री कृष्ण सिंह इसके सचिव थे। किन्तु सविनय अवज्ञा आन्दोलन और वर्गीय एकता को देखते हुए इस आन्दोलन को स्थगित कर देना पड़ा।[5] लेकिन बाद में सरकार एवं जमींदार वर्ग ने कुछ किसान नेताओं को अपने प्रश्रय में लेकर कांग्रेस की अनुपस्थिति में इस विधेयक को पास कराना चाहा लेकिन इसमें इन्हें सफलता नहीं मिल पाई। तब तक स्वामी सहजानन्द सरस्वती जेल से निकल चुके थे और बिहार किसान सभा के सभी सभाओं में इस विधेयक का विरोध करना शुरू कर दिए। धीरे-धीरे बिहार में किसान सभा की लोकप्रियता और जनाधार बढ़ने लगी जिसमें समाजवादियों ने भी अपनी सहायता प्रदान की।[6]

बिहार प्रदेश में किसान स्वराज्य के बैनर तले संगठित होकर कार्य करने के लिए तैयार हो गए। किसानों ने खुले तौर पर यह ऐलान किया कि 'कर नहीं दो' और विदेशियों से घृणा करो। 1930 में सविनय किया और चौकीदारी कर वहीं दो अभियान की शुरूआत हुई। अनेक ग्रामीण चौकीदारी कर नहीं देने के लिए तैयार हो गए। यह अभियान सम्पूर्ण बिहार प्रांत में सफल रहा।

किसान आन्दोलन के बढ़ते हुए जनाधर ने कांग्रेस की स्वतंत्रता की लड़ाई को खूब मजबूत किया। अनुग्रह नारायण सिन्हा ने अपनी आत्मकथा में बखूबी इस बात की चर्चा की है कि सविनय अवज्ञा आंदोलन के बाद नैशश्य स्थिति से गुजरी जनता की मनोभावना को किसान आन्दोलन ने मनोबल ऊँचा कर कांग्रेस की झंडा को शिखर पर कायम रखा।[7] बल्कि किसान आन्दोलन के नेताओं ने अपने-आपको कांग्रेस के अन्दर एक संगठन के रूप में मानने लगे।[8]

किसान आन्दोलन को जब कांग्रेस की सहभागिता मिलने लगी तब इस आन्दोलन से सम्बंधित लोगों को खूब मजबूत किया। अनुग्रह नारायण सिन्हा ने अपनी आत्मकथा में बखूबी इस बात की चर्चा किया है कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन के बारे नैशश्य स्थिति से गुजरी रही जनता की मनोभावना को किसान आन्दोलन ने मनोबल ऊँचा कर कांग्रेस की झंडा को शिखर पर कायम रखा।[7] किसान आन्दोलन के नेताओं ने अपने-आपको कांग्रेस के अन्दर एक संगठन के रूप में मानती रही।[8]

किसान आन्दोलन को जब कांग्रेस की सहभागिता मिलने लगी तब इस आन्दोलन से सम्बंधित लोगों ने बिहार के

**एसोसिएट प्रोफेसर, जे०डी० वूमेन्स कॉलेज, पटना**

कोने-कोने में ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ उग्र प्रदर्शन करना प्रारम्भ कर दिया। गोपालगंज जिले में आर्थिक मंदी के समय मूल्यों में गिरावट आने के उपरांत किसानों की दुर्दशा सीमा पार करने लगी, तब आक्रोशित किसानों ने भौरे और कटैया पुलिस थानों पर आक्रमण भी किया। देवरिया अनुमंडल किसान सभा के अध्यक्ष सच्चिदानंद के नेतृत्व में इन जगहों पर आन्दोलन प्रगति पर था।

मई 1931 में जहानाबाद में किसानों का एक सम्मेलन हुआ जहाँ कड़े शब्दों में गया जिले के जमींदारों द्वारा किसानों के दमन की निंदा की गई तथा एक प्रस्ताव पारित कर किसानों की शिकायतों की जांच के लिए एक समिति नियुक्त की गई। सम्मेलन के अध्यक्ष ने गया के जिलाधीश को प्रस्ताव की प्रति भेजकर मालगुजारी में 50 प्रतिशत करने का अनुरोध किया गया।

मार्च 1933 में मधुबनी जिला में प्रान्तीय किसान सभा में किसान सभा की एक औपचारिक प्रति देने के लिए प्रयास किया गया किन्तु दरभंगा राज की साजिश के कारण यह प्रयास असफल रहा। फिर भी एक महीने के भीतर दूसरा प्रान्तीय किसान सभा सम्मेलन बिहटा में आयोजित किया गया है। इसके बाद स्वामी जी किसान सभा के निर्विवाद नेता हो गए। उनके हुंकार और सतत् प्रयास के फलस्वरूप बिहार के किसान बकाश्त लगान में छूट[9] और अंततः जमींदारी उन्मूलन के प्रश्न पर एकजूट होने लगे। 1935 ई. तक किसान सभा के सदस्यों की संख्या बढ़कर 80,000 हो गई। यह बिहार में किसानों का एक अत्यंत ही शक्तिशाली और वामपंथी संगठन बन गया।

पूर्व में 1931 में मुंगेर मुफस्सिल थाने के अंदर बिन्दा दियारे में किसान आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। 1930 ई. तक गंगा शिकस्त जमीन के संबंध में लगान एवं मालगुजारी को कानूनी दॉव-पेंच ब्रिटीश शासकों के द्वारा शुरू किया गया। कालिका प्रसाद सिंह ने मुद्दे को कौंसिल में रखा और अंततः लगान एवं मालगुजारी की दरों में कमी करने का निर्णय लिया गया।[10]

1937-38 में दरभंगा जिला के बंगलावा ग्राम में सन्याल, मुसहर आदि निम्न श्रेणियों के लोगों ने बेगारी के खिलाफ आन्दोलन खड़ा किया। इस आन्दोलन में भी स्वामी जी, रामवृक्ष बेनीपुरी, विशेश्वर प्रसाद सिन्हा, कार्यनन्द शर्मा, मौलाना मंजर रिजवी और सम्पूर्णानंद जी ने आम जनता के मनोबल को प्रोत्साहित किया। इससे पहले दरभंगा जिला में स्वामी विद्यानंद के द्वारा किसानों की समस्या को लेकर सरकार एवं दरभंगा राज के खिलाफ आन्दोलन चलाया गया था। इनमें दरभंगा जिला के बचौर, पारी, जरैहाती तथा मल परगना के किसानों का सम्मेलन भी आयोजित किया। जहाँ किसानों के शोषण की जाँच के लिए एक जाँच आयोग बैठाने के लिए लेफ्टिनेन्ट को तार दिया गया।[11]

1936 ई. में बड़हिया टाल, शेखपुरा में किसान आन्दोलन कार्यानन्द शर्मा ने प्रारम्भ किया। इन दोनों क्षेत्रों में बकास्त जमीन के मुद्दों को लेकर झगड़ा था। कार्यानन्द शर्मा ने शेखपुरा तथा बरबीघा के कई गाँवों का दौरा किया तथा किसानों को संघर्ष के लिए प्रेरित किया। बड़हिया टाल के मामले को जमुई में राजनीति सम्मेलन में सुलझाने के लिए नन्दन कुमार सिंह श्याम प्रसाद सिंह और महंथ सियाराम दास की एक समिति बनी[12] लेकिन इस समस्या का समाधान भी नहीं निकल सका और 1937 में गोदहां में आन्दोलन शुरू हुआ जो किसान और जमींदारों के बीच संघर्ष छिड़ गया और मुकदमा के स्वरूप में बदल गया मुकदमा के दौरान ही समझौता हुआ तथा कुछ जमीन रैयतों को मिली।

4 दिसम्बर 1937 को श्री कृष्ण सिंह ने पटना के बख्तियारपुर के अपने भाषण के दौरान यह कहा कि बकाश्त जमीन पर जबरदस्ती कब्जा करने का समय आ गया है। इसी समय प्रान्तीय बिहार किसान परिषद की बैठक में 'लठ हमारा जिन्दाबाद' का नारा भी दिया गया। बकाश्त के प्रश्न पर किसान आन्दोलन बड़ा उग्र हो गया। बिहार के विभिन्न भागों में वृहत पैमाने पर किसान विद्रोह हुए इस विद्रोह में वामपंथी दल सक्रिय भूमिका निभा रहे थे। बकाश्त जमीन के बन्दोवस्ती के सिलसिले में मुफस्सिल इलाके में मुजफ्फरपुर का एक किसान जब दौरा कर रहा था, तब उसके कान एवं नाक काट डाले गए।

बिहार में भारत छोड़ो आन्दोलन में किसानों ने बड़े पैमाने पर शामिल होकर इसे गति प्रदान की। दरभंगा जिले के जिलाधिकारी ने अपने रपट में लिखा[13] कि 10 अगस्त को सम्पूर्ण जिला में स्कूल एवं कॉलेज के छात्रों ने प्रदर्शन किया। किसानों ने इस जिले के 20 थानों पर आक्रमण किया और 13 पर कब्जा भी किया। रेलगाड़ियों को रोका गया। बेनीपट्टी में रजिस्ट्री कार्यालय को जला दिया गया। कमतौल के रजिस्ट्री कार्यालय पर अधिकार कर लिया गया। मुजफ्फरपुर के बेलसंड थाना पर 5000 किसानों ने आक्रमण कर अपने कब्जे में ले लिया। हाजीपुर में भीड़ ने मालगोदाम को लूट लिया।[14] इस तरह बिहार के

कुछ गाँव में कांग्रेस की समानान्तर सरकार भी गठित कर कर ली और सम्पन्न किसानों से मजदूर वर्ग में परिवर्तित किसानों ने जबरन कर वसूलना शुरू किया।[15] इन किसानों ने कांग्रेस को दरकिनार कर सीधे तौर पर ब्रिटिश सरकार के खिलाफ मोर्चा खोल दिया। जिससे कांग्रेस को अपनी स्थिति को कायम रखने के लिए सोचना पड़ा।

कांग्रेस सरकार ने किसान आन्दोलन पर नियंत्रण डालने के लिए कानूनी उपायों का सहारा लिया। इसने 1947 ई. में बिहार सार्वजनिक व्यवस्था अनुरक्षण अधिनियम पारित कर आन्दोलन पर काबू पाने का प्रयास किया। इस अधिनियम के द्वारा किसानों को परेशान किया गया। कानून का उल्लंघन करने पर मुकदमा चलाया जाता था। केवल दरभंगा जिला में तीन हजार किसानों पर आरोप लगा कर मुकदमा चलाया गया। अनेक मामलों में किसानों पर मिथ्या आरोप लगा कर किसानों को गिरफ्तार किया गया तथा भारतीय दंड संहिता की धारा 107, 144, 188 और 370 के तहत मुकदमा चलाया गया।

अत: यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय आन्दोलन में बिहार के किसानों की अहम भूमिका रही। किसानों ने तो अपना समर्थन देकर भारत को आजादी दिलाई और साम्राज्यवादी सरकार को उखाड़ फेंकने के संकल्प को पूरा किया लेकिन आजादी मिलने के उपरांत भी बिहार के किसानों की आर्थिक स्थिति में उतनी परिवर्तन देखने को नहीं मिलता है जितनी उम्मीद की जाती है। आज भी किसान अपनी दयनीय स्थिति से उबर नहीं पा रहे है। इन किसानों को अंग्रेजी कानून की नीति आज भी किसी न किसी तरह से आंशिक रूप से प्रताड़ित करती रहती है। बिहार जैसे प्रांत में भौगोलिक स्थिति एवं मानसून भी इनके साथ मजाक करती रहती है।

## संदर्भ ग्रंथ सूची


1) गिरीश मिश्रा - अग्रेरियन प्रोब्लेम ऑफ परमानेंट सेटलमेंट : ए केश स्टडी ऑफ चम्पारण - दिल्ली 1979।
2) अरविन्द एन० दास - अग्रेरियन अनरेस्ट एण्ड सोशियों एकोनोमिक चेंज - 1900-1980, नई दिल्ली।
3) कौशल किशोर शर्मा - अग्रेरियन मूवमेंटस एण्ड कांग्रेस पॉलिटिक्स, नई दिल्ली 1989 पृ. - 113
4) अवधेश्वर प्रसाद सिंह - सचिव की रिपोर्ट, पटना 1935 पृ. - 24
5) सुमित सरकार - माडर्न इंडिया, दिल्ली 1983 पृ. 340
6) विनय भूषण चौधरी - अग्रेरियन मूवमेंटस इन बंगाल एण्ड बिहार (1919-39)
7) अनुग्रह नारायण सिन्हा - मेरे संस्मरण, पृ. 171
8) कौशल किशोर शर्मा - वही पृ. 114
9) स्वामी सहजानंद सरस्वती - मेरा जीवन संघर्ष
10) नवशक्ति 7 नवम्बर 1936
11) बद्रीनाथ उपाध्याय - मेमोरियल टूल लेफ्टीनेंट गर्वनर ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा
12) नवशक्ति 7 नवम्बर 1936
13) स्टीफेन हनींघम - विश्व इंडिया इन बिहार एण्ड द इस्टर्न यूनाइटेड प्रामिसेज - दरभंगा की रपट।
14) फ्रिडम मूवमेंट ऑफ बिहार पेपर्स, बिहार राज्य अभिलेखाकार, पटना फाइल नं.- 2742
15) फ्रिडम मूवमेंट ऑफ बिहार पेपर्स - फाइल नं. 15/42


❖❖❖

# वैदिक काल के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन

**पंकज कुमार पाण्डेय**

***सार***

सिंघु घाटी सभ्यता के पतन के बाद जो नवीन संस्कृति प्रकाश में आयी उसके विषय में हमे सम्पूर्ण जानकारी वेदों से मिलती है। इसलिए इस काल को हम वैदिक काल के नाम से जानते है। इस संस्कृति के प्रवर्तक आर्य लोग थे, इसलिए कभी-कभी आर्य सभ्यता का नाम भी दिया जाता है। वैदिक साहित्य का अर्थ उस विपुल साहित्य से है, जिसके अर्न्तगत चारों वेदों ऋक्, साम, यर्जु एवं अथर्व की संहिताएँ अर्थात मंत्र खंड ही नहीं अपितु गधा एंव दार्शनिक खंड अर्थात विभिन्न ब्राह्मण आरण्यक एवं उपनिषद भी आते है। हमारी सभ्यता और संस्कृति की प्रेरणा का सबसे बडा श्रोत वैदिक साहित्य है। यह माना जाता है, कि वेंदों का कोई रचयिता नहीं था। अपितु इनमें निहित ज्ञान की अनुभुति ऋषियों को हुई थी, जिसको उन्होनें शब्दों में लिख लिया था। वैदिक साहित्य के आधाार इस काल के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था किस प्रकार थी, उसकी जानकारी प्राप्त होती है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में यह दर्शाया गया है कि वैदिक युग के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थिति क्या थी। दूसरी ओर वैदिक साहित्य में प्रतिविम्बित भारत पर प्रकाश डाला गया है और अंत मे यह भी दर्शाया गया है कि वैदिक युग में विभिन्न आचार्यो की क्या भूमिका थी।

## परिचय

वैदिक युग (1500 ई. पू. से 600ई. पू.) भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण युग है। हमारे वर्तमान संस्कृति की शुरूआत इसी युग से होती हैं और हमारी बहुत सारी परम्पराएं भी इसी युग से प्रारम्भ होती हैं। वैदिक साहित्य के आधार पर हम इस युग को दो भागों में बांटते हैं। -

(1) ऋग्वैदिक कालीन सभ्यता और

(2) उत्तर वैदिक कालीन सभ्यता।

ऋग्वैदिक सभ्यता का काल 1500 ई0 पू0 से 1000 ई. पू. तक माना जाता है। इस काल में मुख्यत: ऋग्वेद की रचना हुई। उत्तर वैदिक काल 1000 ई. पू. से 600 ई. पू. के बीच माना जाता है और इस काल में तीन वेदों-यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यक ग्रंथों एवं उपनिषद की रचना हुई। ऋगवैदिक काल में जहाँ एक ओर राज्य संस्थान का विकास नहीं हुआ था, समाज का स्वरूप कबीलाई किस्म का था, कृषि से अधिक महत्वपूर्ण पशुपालन था तथा धर्म में सरलता थी, वहीं दूसरी ओर उत्तर वैदिक काल में राज्य संस्थान का विकास हुआ, वर्ण विभाजित समाज का गठन हुआ, कृषि की महत्ता बढ़ी एवं धार्मिक क्षेत्र में कर्मकाण्ड की जटिलता उत्पन्न हुई।

## अध्ययन उद्देश्य

प्रस्तुत अध्ययन ''वैदिक काल के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन: विश्लेषणात्मक अध्ययन'' को चुनने का निम्नलिखित उद्देश्य है :-

1. भारत शब्द का आशय किस भौगोलिक क्षेत्र से है।
2. वैदिक कालीन अर्थव्यवस्था किस प्रकार की थी।
3. वैदिक कालीन सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था कैसी थी।
4. वैदिक कालीन राजनीतिक जीवन किस प्रकार की थी।
5. वैदिक काल एवं उत्तर-वैदिक काल में तुलनात्मक अध्ययन।
6. वैदिक कालीन व्यवस्थाओं की विशेषताओं को आज के संदर्भ में प्रतिबिम्बित करना।
7. वैदिक कालीन व्यवस्थाओं की कमियों पर प्रकाश डालना। आदि।

## अध्ययन पद्धति

(1) प्रस्तुत अध्ययन में द्वितीयक श्रोतों के तहत विभिन्न पुस्तकालय में उपलब्ध अध्ययन विषय से संबंधित विभिन्न मानक पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं एवं आलेखों का सहारा लिया गया है।

**शोध छात्र, स्नातकोत्तर इतिहास विभाग, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा**

(2) प्रस्तुत शोध-अध्ययन में प्रमुख इतिहासविद् से इस विषय पर परिचर्चा कि गयी है तथा उससे प्राप्त तथ्यों को प्रमाण के साथ प्रस्तुत किया गया है।

## विश्लेषण

सिंधु घाटी सभ्यता के पतन के बाद जो नवीन संस्कृति प्रकाश में आयी उसके विषय में हमें सम्पूर्ण जानकारी वेदों से मिलती है। इसलिए इस काल को हम "वैदिक काल'' के नाम से जानते है। इस संस्कृति के प्रवर्तक आर्य लोग थे, इसलिए कभी-कभी "आर्य सभ्यता'' का नाम भी दिया जाता है। वैदिक सभ्यता का निर्माण आर्यो ने किया। इन आर्यो के मूल निवास स्थान का प्रश्न विवादास्पद है। अभी तक इस विषय में कोई सर्वस्वीकृत धारणा नहीं है। इतिहास, भाषा विज्ञान नस्ल, पुरातत्व संबंधी खोंजों आदि के आधार पर विभिन्न विद्वानों ने भारत, मध्य एशिया, उत्तरी ध्रुव आदि को आर्यो का मूल निवास स्थान बताया है।

ऋगवेद में जिस भौगोलिक क्षेत्र का वर्णन है उसे सप्त सिन्धव कहते है। इसमें सिन्धु नदी तथा उसकी पश्चिमी सहायक नदियों एवं सरस्वती आदि बहती थी। सहायक नदियों में गोमती, क्रुमु (कुर्रम), कुंभा (काबुल), सुवास्तु, यदु, सतुद्री इत्यादि का उल्लेख है। ऋगवेद में गंगा और यमुना की भी चर्चा है, किन्तु इनका उल्लेख प्रायः नगन्य है। उत्तर-वैदिक काल में भौगोलिक क्षितिज का विस्तार हो गया था और उस समय सामाजिक एवं राजनैतिक गतिविधियों का मुख्य केन्द्र गंगा-यमुना का दोआब तथा कुरू-पंचाल जनपद का क्षेत्र बन गया था। कुछ पूर्वी क्षेत्रों जैसे कि कोशल काशी विदेह इत्यादि की भी चर्चा उत्तर-वैदिक साहित्य में मिलती है।

## वैदिक साहित्य

हमारी सभ्यता संस्कृति की प्रेरणा का सबसे बड़ा श्रोत वैदिक साहित्य है। वैदिक साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथ चार हैं - ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। वेद का अर्थ है ज्ञान। यह माना जाता है कि वेदों का कोई रचयिता नहीं था, अपितु इनमें निहित ज्ञान की अनुभूति ऋषियों को हुई थी, जिसको उन्होने शब्दों में लिख लिया था। भारतीय विद्वानों का मत है कि इन संहिताओं में जो मंत्र किया गया है, उनकी अनुभूति ऋषियों को स्वंय ईश्वर से हुई थी, परंतु जिन शब्दों में प्राप्त ज्ञान को व्यक्त किया गया वे अवश्य आर्यो ने अपने प्रारंभ के जीवन में किस प्रकार समाज का विकास किया (धर्म, दर्शन ज्ञान, विज्ञान, कला और साहित्य के क्षेत्रों में क्या प्रगति की इस सब की जानकारी हमें ऋगवेद से मिलती है। सांस्कृतिक दृष्टि से ऋगवेद का बड़ा महत्व है।

इस ग्रंथ से उस समय के लोगों के आचार विचार, रहन-सहन, नीति, सदाचार तथा सामाजिक जीवन का अच्छा परिचय मिलता है। मनुष्य जीवन के विकास की ज्ञान, कर्म, और उपासना ये तीन सीढियाँ है। यजुर्वेद में यज्ञीय कर्मकाण्ड और विधि-विधान का उल्लेख है। मानव मात्र के कल्याण का रहस्य यजुर्वेद् के मंत्रों में निहित है। सामवेद में यज्ञों के अवसर पर गाये जाने वाले मंत्रों का संग्रह है। इसमें कुल 1549 ऋचायें है जिनमें 78 ही नई हैं, शेष ऋगवेद से ली गई है। वैदिक कर्मकाण्ड की दृष्टि से अथवर्वेद को सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अथर्वेद में जादू-टोना, तंत्र-मंत्र , स्तुति, औषधि आदि अनेक विषयों का समावेश है।

## वैदिक कालिन साहित्य

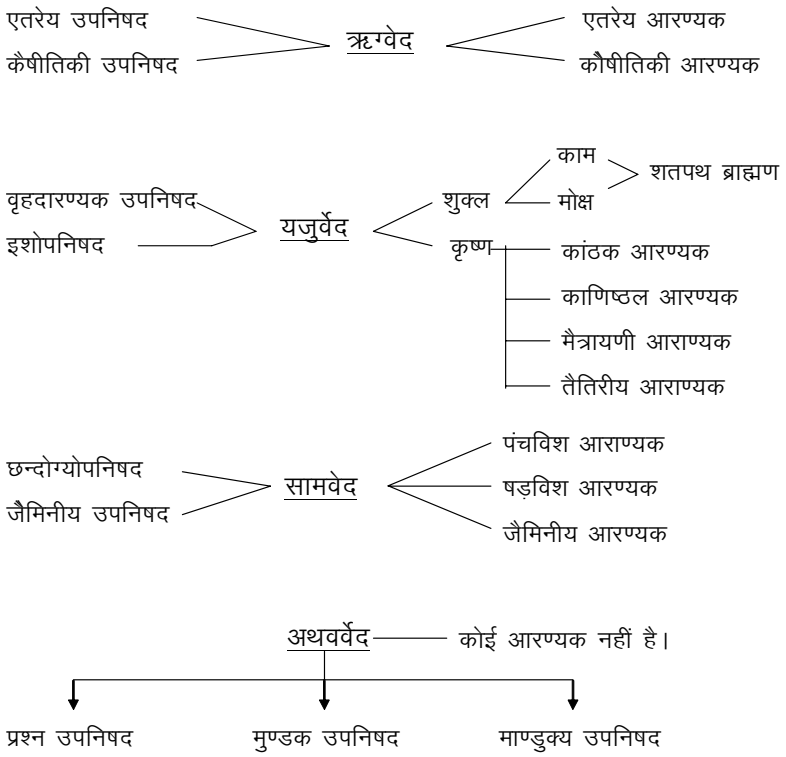

## वैदिक काल (सामाजिक जीवन)

प्रारंभ आर्य लोग तीन सामाजिक वर्गों में विभाजित थे - योद्धा, पुरोहित एवं सर्व-साधारण बाद में शुद्र मिलाकर इनकी संख्या चार हो गई। आर्य भारत आने के पहले से ही वर्ण व्यवस्था से परिचित थे। ऋग्वेद में पुरोहित का कार्य किसी जाति विशेष से नहीं जुड़ा था। परिवार का ही कोई वरिष्ठ पुरुष देवताओं की प्रार्थना के लिए नियत होता था। परिवार समाज की प्रमुख इकाई थी परिवार का मुखिया पिता होता था।

अत: पितृसत्तात्मक परिवार की अवधारणा थी। व्यक्ति की पहचान कुल या गोत्र से होती थी। अपने जन के प्रति लोगों की असीम आस्था होती थी। आर्य परिवार में पुत्र जन्म का स्वागत किया जाता था, परन्तु समाज में नारी को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। धार्मिक कृत्यों, सामाजिक उत्सवों एवं समारोंहों में तथा सभा और समिति मे वे भाग ले सकती थी। घोषा, लोपामुद्रा आदि उस काल की विदुषी स्त्रियां थी, जिन्होंने ऋृगवेद की मंत्र रचना में अपना योगदान दिया था।

बाल-विवाह का चलन नहीं था तथा अपना वर चुनने का स्त्रियों को अधिकार था। दहेज और वधू-मूल्य दोनों प्रथाएँ प्रचलित थी। विधवा विवाह पर प्रतिबंध नहीं था। पर्दा का चलन तथा सतीप्रथा की कोई चर्चा नहीं मिलती है। कुल मिलाकर इस काल के नारी की स्थिति अत्यंत संतोषजनक थी।

उतर-वैदिक युग में ही आर्यो ने अपने जीवन को आश्रमों मे विभक्त किया ये चार थे। ब्राह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास। गृहस्थाश्रम तीनों आश्रमों का मूलाधार था। प्रारंभिक आर्यो के धार्मिक विश्वास प्राकृतिक शक्तियों पर केन्द्रित थें अत: प्राकृतिक धटनाओं के लिए उन्होंने अलग-अलग देवताओं की कल्पना की। इस तरह वे अनेक देवताओं और देवियों की उपासना करने लगें।

## सामाजिक विभाजन

1 प्रथम विभाजन –

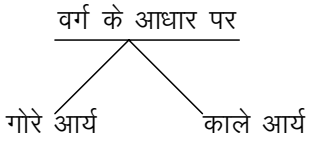


2 द्वितीय विभाजन –

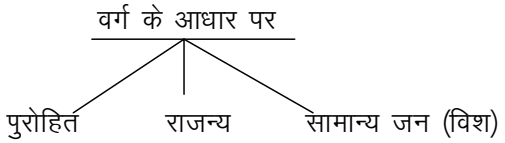


अन्त में चार वर्ग आए (जावालिपनिपद् 10वे मण्डल के 90वाँ पुरुष सुक्त में)

1. ब्राह्मण
2. क्षत्रीय
3. वैश्य
4. शुद्र।

## वैदिक काल (आर्थिक जीवन)

ऋग्वैदिक काल में कृषि एवं पशुपालन जीवन के महत्वपूर्ण आधार थे। गाय, बैल, धोड़ें, खच्चर, भेड़, कुत्ते आदि पालतू जानवर थे। ऋग्वेद के मंत्रों में जौ और 'घोडों' को धन कहा गया है, और इस धन के लिए बार-बार प्रार्थना की गई है। ऋग्वैदिक आर्य पशुपालक मात्र नहीं थे, उन्हें खेती कि भी जानकारी थी। वर्षा से सिचाई तो होती थी, कुओं और नदी नालों से भी सिचाई के प्रमाण मिले है। वे लोग खाद के महत्व से भी परिचित थे।

उत्तर-वैदिक काल में आर्यो के आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। आर्थिक विकास की प्रकिया को प्रभावित करने वाले तत्वों मे लोहे का प्रयोग इस काल की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि हैं। लोहा, तांबा और कांसा से अधिक कठोर धातु है इसलिए लोहे के हथियार और औजारों का उपयोगिता अधिक थी। श्रम करना गलत नहीं समझा जाता था। प्राचीन आख्यानों में इस बात की चर्चा हैं कि राजा जनक ने खुद हल चलाया था।

ऋग्वेद में केवल एक ही अनाज जौ और गेहूं की चर्चा है। परन्तु उत्तर-वैदिक साहित्य मे अनाज के अधिक किस्मों का उल्लेख है। इस समय तक आर्य चावल, गेहूं और जौ उपजाने लगें थे। यजुर्वेद में शिल्पों और धंधों की एक लंबी सूची दी गई है। इसमें लोहार, बढई, बुनकर, चर्मकार, रंगसाज, कुम्हार आदि के नामों का उल्लेख है। तॉबा, कांसा और लोहा के बर्तन बनाए जाते थे। 'शतमान' और 'निष्क' संभवत: निश्चित मानवाली मुद्राओं के रूप मे प्रचलित थे।

## वैदिक काल (राजनीतिक जीवन)

ऋग्वैदिक कालीन कबीलाई राज्यों का स्वरूप राजतंत्र के तर्ज पर ढल रहा था, परन्तु उनके राज्य का विस्तार क्षेत्र बहुत कम था। अलग-अलग आर्य कबीलों के अलग-अलग छोटे-छोटे राज्य थे। उनके राज्य को राष्ट्र कहा जाता था। राष्ट्र अथवा जन के प्रमुख को राजन कहा जाता था। राजन का पद कुलागत हो चुका था, परन्तु उसकी स्थिति परवर्ती राजा की स्थिति से भिन्न थी, उसके अधिकार असीमित नहीं थे, आयों की दो जनतांत्रिक संस्थाएँ, सभा एवं समिति राजा की शक्ति को नियंत्रित करती थी। सभा की सदस्यता कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को ही प्राप्त होती थी। समिति सारे जन की सामान्य परिषद् थी। समिति का काफी महत्व था, इसके बैठकों में राजा स्वयं उपस्थित होते थे। समिति में राजा का निर्वाचन और पुर्ननिर्वाचन हो सकता था। महिलाएँ भी सभा और समिति मे ं भाग ले सकती थी।

## राजनैतिक स्थिति

आर्य — जन (कबीला) ⟶ गोप (राजा)

↓

विश (विशपती) प्रधान

↓

ग्राम (ग्रामीण)

↓

कुटुम्ब (परिवार)

↓

कुलप ⟶ परिवार का वृध व्यक्ति

विदथ ⟶ सभा ⟶ समिति ⟶ ऋग्वैदिक संस्थाए।

सभा + समिति ⟶ उत्तर–वैदिक काल ।

उत्तर-वैदिक काल में राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन दिखलाई पडता है। इस काल में प्रादेशिक राज्यों का विकास होता है, पहले राजन अपने जन के प्रमुख और शासक थे, किसी भू-प्रदेश के स्वामी नहीं थे। उत्तर-वैदिक काल में जन का विकास जनपद मे हो गया। राजा का कुलागत अधिकार अब दृढ हो गया। विदथ, सभा, समिति आदि का महत्व उत्तर-वैदिक काल में धट गया। इन संस्थाओं में धीरे-धीरे अभिजात्य वर्ग का प्रभाव बढ गया, फिर भी इन संस्थाओं का अस्तित्व बिल्कुल समाप्त नहीं हुआ था।

## निष्कर्ष

उपरोक्त तथ्यों के अवलोकनोंपरांत हम कह सकते हैं कि वैदिक कालीन साहित्य के अध्ययनोपरांत हमे सामाजिक आर्थिक व राजनीतिक जीवन का सांगोपांग वर्णन देखने को मिलता है। दूसरी ओर ऋग्वैदिक काल के सामाजिक व्यवस्था अत्यंत ही महत्वपूर्ण एवं विशेषताओं से भरी हुई थी। आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन उत्तरोत्तर सुधार की दिशा मे अग्रसर थी। यदि हम वैदिक कालीन सम्पूर्ण व्यवस्थाओं पर प्रकाश डाले तो यह बात स्पष्ट हो जाता हैं, कि वैदिक युग भारतीय इतिहास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण युग है। हमारे वर्तमान संस्कृति एवं सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था की शुरूआत इसी युग से होती है। अतः इस युग को संस्कृतिक एवं सामाजिक, जीवन का प्रारंभिक विशेष युग कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगा।

## संदर्भ ग्रंथ सूची


1. A History of India, volum one Pengum books Great Britain, 1981- Romila Thapar.
2. Ancient India an introductory outline, Peoples publishing house, New DelhiJuly -1990-D.N Jha.
3. The Gazitteer of India (History and culture) volume II Publication Division. Government of the India New Delhi -1988.
4. TheAge of the Imperial unite – R.C. Majumdar.
5. The History and culture of the Indian people (the vedic age ) - R.C.Majumdar.
6. History ofAncient India –R.S. Tripathi.
7. Indian Historical Review – R.S. Sharma.
8. प्राचीन भारत (कथा -11)-एन. सी. ई. आर. टी.
9. प्राचीन भारत का इतिहास -द्विजेन्द्र नारायण झा एवं कृष्ण मोहन श्रीमाली।
10. प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास -डा. शिवस्वरूप सहाय।
11. अदभूत भारत - ए. एल. बाशम।
12. प्राचीन भारत का इतिहास -डा. सत्यनारायण।
13. प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति :- के. सी. श्रीवास्तव।
14. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास :- डा. जयशंकर मिश्रा।
15. प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था -डा. ओम प्रकाश प्रसाद।
16. ऋग्वेद, 10/61/10/62, वही ऋग्वेद 3/4/8-11
17. ऋग्वेद, 1/164/45 - चत्वारि वाक्परिमिता पदनितानि विदुब्राह्मण मनीषिणः वदन्ति।
18. अर्थवेद, 5/18 , 5/19।
19. शतपथ ब्रह्मण, 4/3/9 - यौ वै ज्ञातो* स ऋषिः
20. शतपथ ब्रह्मण, 2/2/26, 2/4/3/14 वही 2/3/4/4


❖❖❖

# प्लेटो का न्याय सिद्धान्त

**नीतू शर्मा**

प्लेटो (427-347ई.यू.) प्राचीन यूनानी दार्शनिक था। उसे पश्चिमी परंपरा का सबसे पहला व्यवस्थित राजनीतिक-सिद्धान्तकार माना जाता है। प्लेटो की पुस्तक 'द रिपब्लिक' का वैकल्पिक शीर्षक 'न्याय मीमांसा' है। इसमें न्याय क्या है? इस कथन का उत्तर देने की कोशिश की गई है।

तत्कालीन एथेंस में अराजकता की स्थिति थी। हर तरफ स्वार्थपरकता दिखायी पड़ती थी। शासन द्वारा सत्ता का दुरूपयोग किया जा रहा था। गरीब और अमीर के बीच के खाई बढ़ती जा रही थी। सोफिस्टों (वाक्पटुता) सिखाने वाले वैतनिक शिक्षक) की सहायता से सत्ता प्राप्त करने की परंपरा थी। वहाँ 'लॉटरी द्वारा नियुक्ति की व्यवस्था' थी। इसके अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक पद के लिए योग्य माना जाता था और विभिन्न पदों के लिए नियुक्ति का निर्धारण लॉटरियों द्वारा की जाती थी। प्लेटो तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों को दूर करना चाहिए था, इसलिए उसने अपने न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

प्लेटो की मान्यता है कि मानव की आवश्यकताएँ ही राज्य के जन्म के लिए उत्तरदायी हैं। हर मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य मनुष्यों पर निर्भर रहना पड़ता है। यहीं कारण है कि मनुष्य समाज या राज्य बनाकर रहते हैं। प्लेटो का ध्येय ऐसे आदर्श राज्य का निर्माण करना था जो कुरीतियों से मुक्त सद्जीवन का साधन हो। दूसरे शब्दों में, आदर्श राज्य न्याय पर टिका होगा। अपने न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादन करने से पूर्व प्लेटो अपने समकालिक न्याय सिद्धान्तों का खंडन करता है। न्याय से संबंधित कुछ प्रचलित सिद्धान्त थे-

1. सत्य बोलना और दूसरों का ऋण चुका देना ही न्याय है।
2. मित्रों के प्रति भलाई और शत्रुओं के प्रति बुराई करना ही न्याय है।
3. न्याय शक्तिशाली का हित है और अन्याय न्याय से श्रेयस्कर है।
4. न्याय का जन्म शक्तिशाली व्यक्तियों से दुर्बलों की रक्षा करने के लिए हुआ है,

अत: यह भय की संतान है।

न्याय के उपरोक्त सिद्धान्त न्याय को बाहरी वस्तु मानते हैं। जबकि प्लेटो न्याय को अंत:करण की वस्तु मानता है। प्लेटो के अनुसार, न्याय को व्यक्तियों के परस्पर संबंध के रूप में देखा जा सकता है, अत: इसे समुदाय की संरचना के संदर्भ में समझना ज्यादा उपयुक्त होगा न कि व्यक्ति के आचरण के संदर्भ में। इसलिए उसने सर्वप्रथम न्यायपूर्ण राज्य की संकल्पना प्रस्तुत की है, तत्पश्चात न्यायपूर्ण व्यक्ति की संकल्पना।

प्लेटो का मानना है कि राज्य व्यक्ति का वृहद रूप है, अगर मनुष्य की प्रकृति को जान लें तो राज्य की प्रकृति भी स्पष्ट हो जाएगी। उसने मनौवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करते हुए मनुष्य के व्यवहार के तीन स्रोतों की चर्चा की है - तृष्णा, मनोवेग और ज्ञान। ये गुण सभी मनुष्यों में पाये जाते हैं, लेकिन किसी गुण का बाहुल्य रहता है तो किसी में किसी और का। जिन व्यक्तियों में तृष्णा की प्रधानता रहती है, वे उत्पादन कार्य अच्छे से कर सकते हैं। जिन व्यक्तियों में मनोवेग की प्रधानता रहती है, वे सैनिक का कार्य कर सकते हैं। और जिन व्यक्तियों में ज्ञान की प्रधानता होती है, वे दार्शनिक के रूप में अपनी पहचान बना सकते हैं। अगर मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुरूप उपयुक्त सद्गुण को विकसित करें तो राज्य भी अपने उपयुक्त सद्गुण अर्थात न्याय में परिपूर्ण हो जाएगा। दूसरे शब्दों में, राज्य में, राज्य में न्याय की स्थापना होगी। प्लेटो के अनुसार, उत्पादक वर्ग जिनमें तृष्णा की प्रधानता होती है, उनके लिए उपयुक्त सद्गुण संयम है। अत: उन्हें न्यायपूर्ण जीवन जीने हेतु अपने भीतर संयम को

**एसिस्टेन्ट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, माता सुन्दरी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली**

विकसित करना चाहिए। इसी प्रकार, सैनिक वर्ग के लिए उपयुक्त सद्गुण साहस है और दार्शनिक वर्ग के लिए विवेक। चौथा सद्गुण न्याय है जो कि अन्य तीनों सद्गुणों से श्रेष्ठ है। यह सब अस्तित्व में आता है जब अन्य तीनों सद्गुणों का उपयुक्त संयोग बनता है।

वस्तुतः प्लेटो न्याय के दो स्तर मानता है- व्यक्तिगत और सामाजिक। व्यक्तिगत स्तर पर न्याय से तात्पर्य है कि मानवीय प्रकृति के तीनों तत्वों तृष्णा, मनोवेग और ज्ञान में उचित अनुपात रहे। साथ ही ये तीनों तत्व अपने-अपने उपयुक्त सद्गुण क्रमशः संयम, साहस, और विवके को विकसित करें। सामाजिक या राज्य के स्तर पर न्याय तब स्थापित होगा जब उत्पादक वर्ग सैनिक वर्ग द्वारा संरक्षित रहें और उन दोनों को दार्शनिक वर्ग द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त हो। वे तीनों एक-दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप किए बिना सुचारू रूप से अपना-अपना कार्य करें।

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त को न्याय का रचना-प्रकल्पमूलक सिद्धान्त का नाम दिया गया है। जिस प्रकार किसी इमारत को बनाते वक्त उसके विभिन्न हिस्सों का निर्माण अलग-अलग कारीगर करते हैं; लेकिन उन्हें कुशलतापूर्वक समन्वित करने का कार्य एक बढ़िया वास्तुकार ही कर पाता है। ठीक इसी प्रकार, न्याय रूपी सद्गुण अन्य तीनों सद्गुणों को समन्वित कर आदर्श राज्य को अस्तित्व में लाता है।

वर्तमान समय में न्याय का अर्थ है, न्यायधीश द्वारा कानून के अनुसार अपराधियों को दण्ड देना। लेकिन, प्लेटो के अनुसार, न्याय की स्थापना तब होती है जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार अपना-अपना कर्त्तव्य निभाए। यह एक प्रकार का नैतिक सिद्धान्त है। और इसलिए ही बार्कर इसकी आलोचना करते हुए कहता है, 'प्लेटो का न्याय वस्तुतः न्याय नहीं है, वह केवल मनुष्यों को अपने-अपने कर्त्तव्यों तक सीमित करने वाली भावना मात्र है। कोई ठोस कानून नहीं।'

इस सिद्धान्त में कार्य विशेषीकरण को महत्व दिया गया है। इसकी आलोचना में कहा जाता है कि इससे व्यक्ति के जीवन में परिवर्तन के अवसर समाप्त हो जाएंगे। यह भी अव्यावहारिक प्रतीत होता है कि उत्पादक वर्ग और सैनिक वर्ग स्वेच्छा से दार्शनिक वर्ग के अधीन रहना पसंद करेंगे जिसके पास आर्थिक और सैनिक शक्ति नहीं है। लेकिन प्लेटो इन प्रश्नों से अनजान नहीं था। यहीं कारण है कि उसने दो व्यवस्थाएं की। पहला, उसने ऐसे विचारों की अभिव्यक्ति पर रोक लगाने की बात की जो प्रचलित व्यवस्था के प्रति विरोधी प्रतीत होते हैं। दूसरा, नागरिकों के मन में यह विश्वास जगाया जाएगा कि आने वाली पीढ़ी अपने गुणों के अनुरूप ही किसी खास वर्ग में शामिल होगी न कि आनुवांशिक आधार पर। इस बात को 'उदात्त झूठ' का नाम दिया है।

प्लेटो हर हालत में दार्शनिकों को सत्ता देने के समर्थन में था। इस दृष्टिकोण को अपनाने के कारण ही उसे सत्तावाद और सर्वधिकारवाद का समर्थक माना जाता है। कार्ल पॉपर ने तो प्लेटो की विचारधारा को हिटलर की विचारधारा के समान माना है। लेकिन, ऐसा आरोप लगाना सही प्रतीत नहीं होता क्योंकि प्लेटो ने कभी भी नागरिकों पर अत्याचार करने की बात नहीं की। उसने दार्शनिकों को सत्ता सौंपने की बात इसलिए की है क्योंकि यह वर्ग ज्ञान के प्रति अनुरक्त होता है, यह विवेकपूर्ण निर्णय लेता है न कि भावनावश या लालच में आकर। वर्तमान में जो भ्रष्टाचार की समस्या का सामना करना पड़ रहा है, उसका समाधान प्लेटो के दर्शन में मिल सकता है।

प्लेटो ने दार्शनिकों के शासन को व्यावहारिक रूप देने के लिए एक उपयुक्त शिक्षा प्रणाली की संकल्पना दी है। इसके अंतर्गत जो परिक्षाएँ ली जाएंगी, उन्हीं से तय होगा कि कौन से नागरिक कौन से वर्ग में शामिल होंगे। इस प्रकार, व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार ही किसी वर्ग में शामिल किए जाएंगे। इसके अलावा, संरक्षक वर्ग (दार्शनिक और सैनिक) के लिए जिस जीवन पद्धति की व्यवस्था की गई है उसे संपत्ति और स्त्रियों का साम्यवाद कहा जाता है। इसके अंतर्गत संरक्षक वर्ग का परिवार और संपत्ति सब कुछ साझा होगा। आलोचकों के अनुसार, संरक्षक वर्ग को पारिवारिक सुख और संपत्ति से वंचित करना मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। अरस्तू जो प्लेटो का प्रिय शिष्य था, उसने भी इस बात की आलोचना की है।

इन आलोचकों के बावजूद प्लेटो आज भी प्रासंगिक है। प्लेटो का न्याय सिद्धान्त वर्ग विशेषीकरण पर आधारित है जो कि आज भी मान्य है। वह नारी-पुरूष समानता की बात करना है। प्लेटो चाहता है कि शासन कार्य ऐसे व्यक्तियों द्वारा हो जो विवेकवान हों। इसके लिए उसने शिक्षा के स्तर पर

अवसर की पूर्ण समानता की बात की है। उसका यह कथन आज भी प्रासंगिक है कि 'जब हम जूता बनवाने जैसे साधारण काम के लिए कुशल कारीगर ढूंढते है, तब हम यह कैसे सोच लेते हैं कि जो व्यक्ति बातें बनाकर लोगों के वोट हासिल कर लेता है, वह शासन जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण को संभालने के योग्य होगा।' उसने संरक्षक वर्ग के लिए जिस प्रकार की साम्यवादी व्यवस्था को अपनाने की बात की है, उसे जस का तस स्वीकार करना संभव नहीं है, लेकिन इसके माध्यम से उसने यह संदेश देने की कोशिश की है कि अगर शासक वर्ग भोग-विलास में लिप्त रहेगा तो राज्य का विकास नहीं होगा। वस्तुत: प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में वर्तमान की कई समस्याओं के समाधान ढूंढे जा सकते हैं।

## संदर्भ ग्रंथ


1- Sabine, A history of Political Philosophy
2- Barker, Greek Political Theory
3- E.M. Fosters, Masters of Political thought
4- Nettleship, Lectures on the Republic of Plato,
5- Will Durant, Story of Philosophy


❖❖❖

# लोकनायक जयप्रकाश नारायण और सम्पूर्ण क्रान्ति

**डॉ० नीतू कुमारी**

"खलक खुदा का, मुलुक वाश्शा का
हुकुम शहर कोतवाल का .....
हर खासो आम को आगाह किया जाता है
कि खबरदार रहें
और अपने-अपने किवाड़ों को अन्दर से
कुंडी चढ़ाकर बंद कर लें
और बच्चों को बाहर सड़क पर न भेजें
क्योंकि
एक बहत्तर बरस का बूढ़ा आदमी अपनी कांपती
कमजोर आवाज में
*सड़कों पर सच बोलता हुआ निकल पड़ा है।*"

उपर्युक्त पंक्तियाँ जे.पी. के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को सम्पूर्णता में व्यक्त करती है। जयप्रकाश नारायण - एक व्यक्ति, विचारधारा, आन्दोलन, मानवीय चिन्तन की श्रेष्ठता की पराकाष्ठा, सामाजिक परिवर्तन और आर्थिक प्रगति का सफल संवाहक - जे.पी. के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की ये विभिन्न आयाम हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इन सभी आयामों को एक शृंखला में आबद्ध करके निरन्तरता, गतिशीलता और स्थायित्व में समन्वय स्थापित करने का एक लघु प्रयास है; साथ ही यह शोध-प्रबन्ध उन सम्पूर्ण घटनाओं एवं परिस्थितियों का एक विवरण भी प्रस्तुत करेगा जिनकी पृष्ठभूमि में मार्क्सवादी जे.पी. सर्वोदयी जे.पी. बने। सर्वोदयी जे.पी. सम्पूर्ण क्रान्ति के महानायक बने। काँग्रेस में होते हुए भी सोशलिस्ट फोरम का निर्माण जे.पी. 1942 की क्रान्ति का महानायक और अन्ततोगत्वा प्रथम आम चुनावों के परिणामों से हताश और सक्रिय राजनीति से संन्यास .....

जय प्रकाश की इस वैचारिक यात्रा का प्रस्थान बिन्दु तो था किन्तु विचारों की यह निरन्तरता कभी स्थायित्व प्राप्त नहीं कर सकी और 8 अक्टूबर 1979 को 'भौतिक जे.पी.' चिर निद्रा में विलीन नहीं होते तो शायद चिन्तन-मनन और दर्शन की यह प्रक्रिया गतिशील रहती।

जय प्रकाश के सम्पूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व का मूल्यांकन इन पंक्तियों के माध्यम से किया जा सकता है:-

उनका नायकत्व उनकी जीतों में नहीं, उनकी हारों में निहित था..... क्योंकि 20वीं सदी की हिंसात्मक और सत्तामूलक राजनीति में एक नायक सिर्फ पराजित नायक हो सकता है, यह नहीं कि सफल नायक नहीं होते, किन्तु आधुनिक राजनीति की यह विडम्बना है कि वे हमेशा कॉमीसार बनकर ही सामने आते हैं।

कभी-कभी जय प्रकाश के बारे में सोचते हुए मुझे काफ्का की ये पंक्तियां याद आ जाती हैं- "लक्ष्य है, लेकिन रास्ता कोई नहीं है। जिसे हम रास्ता मानते हैं, वह सिर्फ हिचकिचाहट है।"

जे.पी. आज नहीं हैं लेकिन समस्याएँ हैं ..... सम्भावनाएँ हैं ..... आकांक्षाएँ हैं ..... उपेक्षाएँ हैं ..... सपने हैं ... .....

सपनों को हासिल करने का जज्बा है ..... उपेक्षाएँ हैं . ..... असंतोष है ..... शोषण है ..... शोषण से मुक्त होने की चाहत है ..... इस चाहत को अपनी बुलन्द आवाज देने वाला कोई नहीं है।

यह शोध-प्रबन्ध अपेक्षाओं एवं आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का एक सशक्त साधन सिद्ध हो सकेगा ..... ऐसा शोधकर्त्ता का विश्वास है।

यह शोध-प्रबन्ध किसी नवीन तथ्य का अन्वेषण नहीं है, बल्कि अतीत के गर्भ में छिपी हुई इतिहास की उन घटनाओं का क्रमबद्ध सम्बन्ध मात्र है जिन्होंने भारतीय राजनीति एवं समाज को एक नयी दिशा प्रदान किया।

जय प्रकाश ने कहा था - मेरे सपनों का भारत एक ऐसा समुदाय है, जिसमें हरेक व्यक्ति, हरेक साधन, निर्बल की

**सहायक शिक्षिका, बाल प्रा० विद्यालय, बलिहार, सिमरी, बक्सर**

सेवा के लिए समर्पित है। ..... वह समुदाय जिसमें हरेक व्यक्ति का अपनी अन्तरात्मा के अनुसार कार्य करने का अधिकार मान्य है और सब उसका सम्मान करते हैं। ..... वह ऐसा समुदाय है जिसमें मतभेद सभ्य तरीके से तय किये जाते हैं। ..... वह ऐसा समुदाय है जिसमें सबके पास काम है, जिसमें रचनात्मक क्षमता को विकसित होने की पूरी गंजाइश है।..... वह ऐसा समुदाय है जिसमें अधिकारी और निर्वाचित प्रतिनिधि जनता के सेवक हैं जिसमें जनता को उनके पथ-भ्रष्ट होने पर उन्हें दंडित करने का अधिकार और अवसर है। ..... मेरे मन में एक स्वतंत्र, प्रगतिशील एवं गांधीवादी भारत की तस्वीर है।

आज से लगभग 36 वर्ष पूर्व जो घटनाएँ हुईं, यह शोध-प्रबन्ध उनकी निरन्तरता को अक्षण्ण रखते हुए उनकी प्रासंगिकता को एक दर्पण के रूप में प्रस्तुतीकरण होगा जिसमें आज की पीढ़ी, जिसने न जे.पी. को देखा, न सुना और न समझने की कोशिश किया, माटी के अतीत एवं वर्तमान का आकलन करते हुए भविष्य के लिए मूल्यांकन कर सके। जय प्रकाश नारायण के सन्दर्भ में यह शोध-प्रबन्ध समसामयिक भी है और प्रासंगिक भी क्योंकि अभी भी 'इस मुल्क पर उधार है एक बूढ़ा आदमी'।

इस कर्ज को उतारना इस शोध प्रबन्ध की विवशता भी है और विशिष्टता भी। शोधकर्ता विवश है उन परिस्थितियों के, जो 1974 में भी और आज भी है, जिसमें छटपटाहट है, वह मौन है लेकिन उसका मौन मुखर से भी अधिक शक्तिशाली है और उसे तलाश है एक ऐसे बूढे आदमी की, जो केवल जय प्रकाश ही नहीं बल्कि लोक नायक जय प्रकाश की भाँति उसकी छटपटाहट को महसूस करे, उसकी पीड़ा और वेदना के साथ एक प्रत्यक्ष संवाद स्थापित कर सके। यह शोध-प्रबन्ध उसी संवाद के प्रयास का एक प्रयास है।

एक राष्ट्र जब एक राज्य के रूप में परिणत होने की कठिन प्रसव पीड़ा से ग्रसित था तो 1857 का तथाकथित सिपाही विद्रोह उस प्रसव वेदन की सशक्त अभिव्यक्ति थी। 15 अगस्त 1947 को 5,000 वर्ष की प्राचीन सभ्यता का उज्जवल प्रतिनिधि राजनीति विज्ञान की आधुनिक शब्दावली में जब सम्पूर्ण लोकतंत्रात्मक गणराज्य के रूप में परिणत हुआ तो स्वतंत्रता प्राप्ति के लगभग तीन दशक बाद 25 जून 1975 को आपातकाल की घोषण की गई जो जय प्रकाश ने तत्कालीन प्रधानमंत्री को जो पत्र लिखा था वह पत्र नहीं एक ऐतिहासिक दस्तावेज है जिसमें मानवीय भावनाएँ प्रजातांत्रिक मूल्यों के प्रति आस्था और राष्ट्रप्रेम की तीव्र चेतना विद्यमान है।

उस पत्र में जे.पी. ने लिखा:-

'..... मदाम प्रधानमंत्री! सिर्फ आप ही अकेली नहीं हैं जिन्हें देश की चिन्ता है। जिन्हें आपने नजरबंद कर गिरफ्तार कर रखा है उनमें अनेक ऐसे हैं जिन्होंने देश के लिए आपसे बहुत ज्यादा किया है और वे उतने ही देशभक्त हैं जितनी आप हैं। इसलिए कृपा करके हमें देश के बारे में भाषण देकर, हमारे घावों पर नमक मत छिड़किये।

..... आप जानती हैं कि मैं एक बूढ़ा आदमी हूँ। मेरे जीवन का काम हो चुका है और प्रभा के जाने के बाद मेरे लिए ऐसा कोई नहीं है जिसके लिए मैं जीऊँ। अपनी पूरी जिंदगी, शिक्षा समाप्त करने के बाद मैंने देश को दे दी और बदले में कुछ नहीं मांगा, इसलिए आपके राज्यकाल में एक बंदी के रूप में मरने में ही मुझे अपार संतोष होगा। ..... कृपा करके उस नींव को खत्म मत कीजिए जिसे राष्ट्रपिता ने और आपके महान पिता ने डाल रखा है। जो रास्ता अपने चुना है उसमें, कलह और कष्ट के अलावा और कुछ नहीं है। जिस जनता ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से संघर्ष किया है और उसे झुकाया है, वह अनिश्चित समय तक लोकतंत्र का अपमान नहीं सह सकती। ..... लगता है कि आप तभी जल्दी और नाटकीय काम करती हैं, जब धरातल पर 74 की पीढ़ी को महसूस करता है और उससे मुक्त होना चाहता है। शोध-प्रबन्ध उस मुक्ति की एक अभिव्यक्ति है, साथ ही लोकनायक के प्रति विनम्र श्रद्धांजली भी।

शोध-प्रबन्ध पूर्णत: ऐतिहासिक पद्धति पर आधारित है। घटनाओं और उनसे सम्बन्धित तथ्यों का संग्रह 1974 आन्दोलन के सक्रिय तत्कालीन छात्र नेताओं, कार्यकर्त्ताओं की अन्तर्वीक्षा, पत्र-पत्रिकाओं में वर्णित तथ्यों एवं विचारों पर आधारित है जिसमें अग्रलिखित अध्याय सम्मिलित है:

प्रथम अध्याय - जय प्रकाश नारायण : एक परिचय

द्वितीय अध्याय - भारत के स्वीधीनता संग्राम में जय प्रकाश की भूमिका

तृतीय अध्याय – सर्वोदय एवं जय प्रकाश नारायण

चतुर्थ अध्याय – 1974 का आन्दोलन और जय प्रकाश नारायण

पंचम अध्याय – सम्पूर्ण क्रान्ति की अवधारणा

षष्टम अध्याय – निष्कर्ष।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


1. J.P. His Biography Allen and Wendy Scarf; New Delhi, 1975.
2. J.P. and the Future of Democracy - T.K. Mahadevan, EWP, 1975.
3. Is J.P. The Answer - Minoo Masani, Mcmillan Com., New Delhi 1975
4. Jay Prakash Narayan - by Prof. H.G. Surya Narayan, R.U., B.H. Prakashan, Banglore, 1977.
5. J.P. Vindicated, Vasant Nargolkar, S. Chand & Com., New Delhi, May 1977.
6. J.P. From Marxism to Total Revolution - Dr. Ramchandra Gupta, Sterling Publishing Private Limited, New Delhi, 1981.
7. Gandhi Nehru and J.P. : Studies in Leadership - Dr. Vimal Prasad, Chankya Publication, New Delhi, 1985.
8. Total Revolution - Seborto L. Raj, Satya Nilyam Publication, Madras, 1986.
9. Jay Prakash Narayan and Indian Politics - D.K. Bajwa, Deep and Deep Publication, 1987.
10. J.P.'s Movement - Badri Narayan Sinha, I.P.S., Jay Shree Prakashan, Patna, February, 1993.
11. Jay Prakash Narayan - A Biography of his vision and idea,s Editor - Verinder Grover, Deep and Deep Publication, New Delhi, 1998.
12. लोक नायक जय प्रकाश नारायण – डॉ. शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार।
13. कारावास की कहानी – जय प्रकाश नारायाण (21 जुलाई 1975 से 4 नवम्बर 1975 तक)
14. समाजवाद, सर्वोदय और लोकतंत्र, जय प्रकाश नारायण, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।


❖❖❖

# महाभारतीयराजनीतेरपेक्षया भारविनीतेर्वैशिष्ट्यम्

**डॉ० चिन्मय चट्टोपाध्याय**

महाभारतीय राजनीतेरपेक्षया किरातार्जुनीयमगत राजनीतेर्वैशिष्ट्य प्रतिपादनार्थं महाभारतस्य वनपर्वे वा दीयते यतो हि तत एव किरातार्जुनीयस्य कथावस्तु गृहीतमस्ति।

महाभारत–

प्रिया च दर्शनीया च पण्डिता च पतिव्रता।

अथ कृष्णा धर्मराजमिदं वचनमब्रवीत्।। –वनपर्व, 29.2

किरातार्जुनीयम्–

निशम्य सिद्धिं द्विषतामया कृती–

स्ततस्य तस्या विनियन्तुमक्षमा।

नृपस्य मन्यु व्यवसायदीपनी

रूदाजहार द्रुपदात्मजा गिरः।। –वनपर्व, 1.27

**विमर्शः–**

महाभारतस्य प्राक्पद्ये सामान्य कथामात्रमेव निर्दिष्टमास्ते किरातार्जुनीय पद्ये तु द्विषत्सिद्धिश्रवणस्य मनस्वितागुणेनासह्यतां विनिर्दिश्य वचः प्रवृत्तिः।

द्वयदात्मनापदेन वीरस्वभावत्वं सूचितम्।

एवं प्रभवोः परस्य वैशिष्ट्यं सिद्धित्येव।।

नैतावदेव 'न किञ्चिदयुक्तं दुखितानाम्'। स्वदोषादेवाय–मनार्थागमः स च दोषः कुटिलेष्व कौटिल्यमेव। 'न च लक्ष्मी चाञ्चल्यादयमनर्थागमः किन्तु स्वोपेक्षादोषमूलत्वात्' इत्यादि अभिप्रायेण द्रौपदीवचः प्रववृत्तेः–

भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम्।

तथापि वक्तुं व्यवसायन्ति मां निरस्तनारी समया दुराध यः।। –वनपर्व, 1.28

अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभि–

श्चिरं धृताभूपतिभिः स्ववंशजैः।

त्वयात्महस्तेन महीमदच्युता

मतंगजेनस्तगिवापवर्जिता।। –वनपर्व, 1.29

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं

भवन्ति मायाविषु येन मायिनः।

प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथा–

विधानसंवृताङ्निशिता इवषेवः।। –वनपर्व, 1.30

अक्रोधनाया अपिक्रोधदीपिनीति वाक्कला तदीया।

क्रोधदीपिन्यापि तादृशवाचि 'आर्जवं कुटिलेषु न नीतिः'।।

इत्यादिनिरूपमनीतयो नितरां निवसन्तीति तदीयं वागवैदुष्यं विदुषामपि चेतश्चमत्कुरूते।

क्रोधोद्दीपन पद्यानि–

महाभारत–

दान्तं यच्च सभामध्ये आसनं रत्नभूषितम्,

दृष्ट्वा कुशमयीं चेमां शोको मां प्रदहत्यम्।

या त्वाहं चन्दनाग्धिमपश्यं सूर्यवर्चसम्

सा त्वां पंकमलादिग्धं दृष्ट्वा मुह्यामि भारत।। –27.12

या त्वाहं कौशिकैर्वस्त्रैः शुभैराच्छादितं पुरा।

दृष्टवत्यस्मि राजेन्द्र सा त्वां पश्चाभिचीरिणम्।। –27.14

ध्यायतः किं न मन्युस्ते प्राप्ते काले विवर्धते

भीमसेनं हि कर्माणि स्वयं कुर्वाणमन्युतम्।

दृष्ट्वा वनगतं पार्थमदुःखार्हं सुखोचितम्

न च ते वर्धते मन्युस्तेन मुह्यामि भारत।। –27.27

श्यामं वृहन्तं तरूणं चर्भिणामुत्तमं रणे।

न कुलं ते वने दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते।। –27.31

धृष्टद्युम्नस्य भगिनीं वीरपत्नीमनुव्रताम्।

मां वै वनगतां दृष्ट्वा कस्मात् क्षमसि पार्थिव।। –27.35

तत् त्वया न क्षमा कार्या शत्रून् प्रति कथंचन।

तेजसैव हि ते शक्या निहन्तुं नात्र संशयः।। –27.39

**व्याख्याता, जंगीपुर महाविद्यालय, जंगीपुर, प० बंगाल**

तथैव यः क्षमाकाले क्षत्रियो नोपशम्यन्ति।

अप्रियः सर्वभूतानां सोत्मुत्रेह च नश्यति।। -27.40

किरातार्जुनीयम्-

परिभ्रमन् लोहितचन्दनोचितः पदातिरन्तर्गिरि रेणुरूषितः।

महारथः सत्यधनस्य मानसं दुनोति नो कश्चिदयं वृकोदरः।। -1.34

विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान् कुरून् कुप्यं वसु वासवोपमः।

वल्कवासांसि तवाधुना हरन् करोतिमन्युं न कथं ध नञ्जयः।। -1.35

वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ।

कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोक्यन्तुत्सहसे न बाधि तुम्।। -1.36

पुराधिरूढ़ः शयनं महाधनं विबोध्यासे यः स्तुतिगितिमंगलैः।

अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारूतैः।। -1.37

पुरोपनीतं नृप रामणीयकं द्विजातिशेशण यदेतन्धसा।

तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः।। -1.38

**विमर्शः-**

यदयप्युभयत्र क्रोधोद्दीपनार्थं वाक् प्रवृत्तिस्तथापि द्वयोर्महदन्तरम्। किरातार्जुनीयपद्यानां महाकविकाव्यप्रतिभाप्रभावित्वात्। महाभारते द्रौपदी सर्वप्रथम युधिष्ठिरस्य दुर्दशां प्रकटयति येन स्वकीय दौगत्यश्रवणेन सदयो महाक्रोधरयो भवेदिति। किरातार्जुनीये पूर्व भीमार्जुनकुलसहदेवानां दुर्दशा वर्णन तदन्तरं युधिष्ठिरस्य।

अत्र कवेः प्रतिभानीति नैपुण्यञ्च समालोच्यताम्। वस्तुगत्या मानवमर्यादा परिपालको भूमी पालको यथा स्वाश्रित दुखैः परिपीडितो भवति न तथा स्वकीय दुःखदहनेनापि तदुक्तं चामियुक्तेः-

दुःखभाक् परदुःखेन' इति।

अतएव किरातार्जुनीये स्वाश्रितदुःखवर्णनं प्रागग्रे च नृपस्येति सिद्धमेवास्य नीतिवैशिष्ट्यम्।

तेजः क्षमानीति विषये समुदीरितं वनपर्वणि-

महाभारत-

न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा।

तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपि वर्जिता।। -28.8

काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारूणः।

स वै सुखमवाप्नोति लोकेमुष्मिन्निहैव च।। -28.24

मृदुर्भवत्यवज्ञातस्तीणादुद्विजते जनः।

प्राप्ते काले द्वयं चैतद् यो वेद स महीपतिः।। -28.36

किरातार्जुनीयम्-

सहसा विदधीत न क्रिया-

मविवेकः परमापदां पदम्।

वृणते हि विमृश्यकारिणं

गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः।। -2.30

अभिवर्षति योनुपालयन् विधिबीजानि विवेकवारिणः।

स सदा फल शालिनीं क्रियां शरदं लोक इवाधितिष्ठति।। -2.31

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया।

प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः।। -2.32

मतिभेदतमस्ति रोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम्।

सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरूते दीप इवार्थदर्शनम्।। -2.33

शिवमौपयिकं गरीयसीं फलनिष्पत्तिमदूषितायतिम।

विगणम्य नयन्ति पौरूषं विजितक्रोधरया जिगीषवः।।

. . . . . .

अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः।। -2.35

अविमिद्य निशाकृतं तम प्रभया नांशुमताप्युदीयते। -2.36

बलवानपि कोपजन्मनस्तमसो नाभिभवं रूणद्धि यः।

क्षयपक्ष इवैन्दवीः कलाः सकला हन्ति स शक्तिसम्पदः। -2.37

समवृत्ति रूपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम्।

अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदनीपतिः।। -2.38

श्रुतमप्यधिगम्य ये रिपून् विनयन्ते न शरीरजन्मनः।

जनयन्त्यचिराय सम्पदामयशस्ते खलु चापालाश्रयम्।। -2.41

अलिपातितकालसाधना स्वशयरीरेन्द्रिय वर्ग तापनी।

जनवन्न भवन्तमक्षमा नयसिद्धेरपनेतु मर्हति।। -2.42

उपकारकमायतेर्भृशं प्रसवः कर्मफलस्य भूरिणः।

अनपायि निबर्हणं द्विद्वाां न तितिक्षा सममसित साधनम्।। -2.43

**विमर्शः-**

महाभारते यथावसरं तेजः क्षमयोर्विधानं निर्दिष्टं मान्यतः किन्तु कदा कस्यावसरो भवतीति विवेकरहितानां दुर्विज्ञेयमेवेति विवेकस्य सर्वत्रात्यावश्यकता। तस्य च विवेकस्य न तत्र चर्चा स्पष्टीकृता। किञ्चानवसरे प्रयुक्तस्य तेजसः क्षमाया वा दुष्परिणामोपि विशद्य दर्शितो महाभारते।

किरातार्जुनीयं तु सर्वमेतत्प्रदर्शितम्। तथाहि- सहसत्यन विमृश्यैव कुत्रचिदपि प्रवर्तितव्यमिति। अभिवर्षतीत्यत्र स्पष्टनैवविवेकमहत्वम्। शुचिभूषयतीत्यनेन विवेकिनोवश्यं फलसिद्धिरिति।

मतिभेदेत्यत्र विमर्शोपायः प्रदर्शितः। शिवमित्यत्र मतिमान निष्फलं कर्म न कुर्यात् इति निर्जित क्रोध एव विजेता भवतीति च निर्धारितं, अपनेयमित्यत्र तमोविभिद्य सूर्यास्यापिनोदय इति निदर्शनम्। बलवानपीत्यत्र क्रुद्धस्य शक्तिसम्पद्विनाशरूपो भावी दुष्परिणामः प्रदर्शितः।

समवृत्तिरित्यत्र विमृश्य कुर्वतः क्रियाप्रकारः प्रदर्शितः। श्रुतमपीत्यत्र अजितारिषड्वर्गस्य कुतः सम्पदः अतिपातितेत्यत्र क्रोधात् कार्यहानिउपकारमित्यत्र क्षमा गुणगुणोस्ति गणितः। एतावता सुललित निखिलनितिमालामण्डित सन्दर्भेण भारविनीते वैशिष्ट्यमायातमेव।

यदत्यप्येकोनत्रिंशेध्याये महाभारतस्यापि युधिष्ठिरेण क्रोध स्य निन्दा क्षमायाश्च प्रशंसा विहितास्ति तथापि न तत्र तत्सौन्दर्यं यद् भारवेरत्रकाव्ये इति समीक्षा शक्तिमतामतिमतिमतां समक्षमाचक्षे। समीक्षन्तां समीक्षका लभन्ता चान्तस्तल सन्तोषम्।

छोपद्युक्ता पुरुषार्थनीतिः-

महाभारत-

यश्च दिष्टपरालोके यश्चापि हठवादिकः।
उमावपि शठावेतौ कर्मबुद्धिः प्रशस्यते।। -32.13
यो हि दिष्टमुपासिनो निर्विचेष्ट सुखं शयेत्।
अवसीदेत् स दुर्बुद्धिरामोधट इवोदके।। -32.39
कर्तव्यमेव कर्मेति मनोरेष विनिश्चयः।
एकान्तेन हयनी होयं पराभवति पुरूषः।। -32.39 इत्यादि।

किरातार्जुनीयम्-

द्रोपद्युक्ति विहाय शान्तिं नृपधाम
तत्पुनः प्रसीद सन्धेहि वधाय विद्विषाम्।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निस्पृहाः
शमेन सिद्धिं मुनयो न भूमृत।। -1.42 इत्यादि।

वृकोदरोक्तिः-

अभिमानवतो मनस्विनः प्रियमुच्चैः पदमारूरूक्षतः।
विनियात निवर्तनक्षमं मतमालम्बनमात्मपौरूषम्।। -2.13
विपदोभिभवन्त्य विक्रमं रहयत्यापदूपेत मायतिः।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः।। -2.14
तदलं प्रतिपक्षमुन्नतेरवलम्ब्य व्यवसाय बन्ध्यताम्।
निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः।। -2.15
कुरू तन्मतिमेव विक्रमे नृप! निर्धूर्य तमः प्रमादजम्।
ध्रूवमेतदवेहि विद्विषां त्वदनुत्साहहता वियत्त्यः।। -2.22 इत्यादि।

**विमर्श-**

महाभारत पद्येषु दैवाश्रिततायां दोषं प्रदर्श्य कर्मबुद्धि प्रशस्तिः परिकीर्तिता। किरातार्जुनीये पुनः कवित्व शक्त्या नीति संपृक्त पुरूषार्थ प्रवृत्ति।

तथाहि विहाय शान्तिमित्यत्र - कैवल्य कार्यवद्राज कार्यं न शान्ति साध्यमिति न तदर्थं सा साध्वीति दर्शितम्।

अभिमानवत इत्यत्रोत्साह शक्ति प्राबल्यं शूराणां पौरूषादन्यो न काश्चित्सहाय इति च चर्चितम् अविक्रम जन्यो दुष्परिणामश्च निर्दिष्टः। तदलमित्यत्र पौरूषसाध्याः सम्पदो नानुत्साहसाध्या इत्युदीर्य सोत्साहं पौरूषमवलम्बनीयं त्वरितमिति निर्णीतम्।

कुरूतन्मतिमित्यत्र फलितरूपेण विक्रमकरण प्रेरणा प्रदत्ता। एतावदुक्तयावश्यमेव भारविनीतिर्महाभारत- नीतिमतिशेते।

भीमसेन प्रदत्तो युद्धोत्साह-

महाभारत -

न तथा तपसा राजन् लोकान् प्राप्नोति क्षत्रियः।
यथा सृष्टेन युद्धेन विजयेनेतरेण वा। -33.73
तस्माच्छत्रुवधे राजन् क्रियतां निश्चरूत्वया।
क्षत्रियस्य हि सर्वस्य नान्यो धर्मोस्ति संयुगात्।। -35.35

किरातार्जुनयोर्युद्धम् - महाभारते -

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा किरातस्यार्जुनस्तदा।
रोषमाहारयामासं तायामासचेषुभिः।। -39.32

ततस्तौ तत्र संरब्धौ राजमानौ मुहुर्मुहुः।
शरैराशी विषकारैस्ततक्षाते परस्परम्।। -39.35
प्रगृह्याथ धनुष्कोट्या ज्यापाशेना व कृष्य च।
मुष्टिभिश्चापि हतवान् व्रजकल्पैर्महाद्युतिः।। -39.49
सम्प्रयुद्धो धनुष्कोट्या कौन्तेयः परवीरहा।
तदप्यस्य धनुर्दिव्यं जग्राह गिरिगोचरः।। -39.50 इत्यादि।

किरातार्जुनीयम् - व्यासवचनम् -

लभ्याधरित्री तव विक्रमेण
ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः
प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः।।

किरातार्जुनयोर्युद्धम्-

मुञ्चतीशे शरान् जिष्णौ पिनाकस्वनपूरितः।
दध्वान ध्वनयन्नाशाः स्फुटन्निव धराधरः।। -15.34
तद्गणा ददृशुर्भीम चित्र संस्था इवाचला।
विस्मयेन तयोर्युद्धं चित्रसंस्था इवाचलाः।। -15.35
परिमोध्यमाणेन शिक्षालाघवलीलया।
जैष्णवी विशिखश्रेणी परिजहे पिनाकिना।। -15.36
अवद्यन् पत्रिणः शम्भोः सायकैरव सायकैः।
पाण्डवः परिचक्रामः शिक्षया रणशिक्षया।। -15.37

किरातार्जुनीयम्-

सखीनिव प्रीतियुजोनुजीवनः
समान मानान सुदृदश्च बन्धुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः
कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम्।। -1.10
वसूनि वाञ्छन् न वशी न मन्युना
स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेपि वा
निहन्ति दण्डेन सधर्म विप्लवम्।। -1.13

**विमर्श -**

महाभारते प्रतिश्रुत परिपालनस्य परमावश्यकता प्रति वादिता, प्रतिज्ञा प्रणाशे राज्यादिकमपि न श्रेयसे भवतीति तद्भावः सुदृढ़ प्रतिज्ञानां प्रतिज्ञाधर्म समक्षे पुत्र पौत्रादिकमपि न किञ्चित्। किरातार्जुनीये तु धर्मनीतिनिर्देशने समुदीरितं पद्यद्वयमेव पर्याप्तम्। तत्र सूत्ररूपेणधर्मनीति सर्वस्वं समुदीरितमास्ते।

प्रथम पद्ये भृत्यादन्यनुरागः द्वितीये च समदर्शित्वं प्रदर्शितम्। समुचितमेतत् समदर्शित्वेन सानुरागं प्रजा परिपालनादिकमेव राज्ञां प्रधानं धर्मः। तत्सर्वमत्र पद्यद्वये दर्शितमित्यस्य धर्मनीति गर्भितता साध्वी।

सत्यपि धार्मिकानुशासने यद्यांशिकोपि धर्मविप्लवः स्यात्तदा न जातुचित्सफला धर्मनीतिर्भवितुमर्हति। अतो धर्मविप्लवनिरासः परमावश्यकः।

धर्मविप्लवनाशेन नाशिकोप्यधर्मोवशिष्यते इति यावत्। एतावतात्र भारवेधर्मनीतेरपि विशदं वैशिष्ट्यं समायातमेव।

भारविवर्णिताया नीतिर्वैशिष्ट्यप्रतिपादनमेतद् दिग्दर्शनमात्रमेव। एवम् न्यासामपि नीतानां बहुधा वैशिष्ट्यमस्त्येवेति विशिष्ट विदुषावगन्तव्यम्।

स्थालीपुलाकन्यायेनैकस्य कणस्य सिद्धाववगतायां कणान्तरस्यापि सिद्धि ज्ञानवत्।

काव्यरचनाचातुर्येणाभिनवकल्पनापि यथावसरं कृता कस्य न कवेर्महाकवेर्वा मानसं मोदयतितरां नितरामिति शम्।।

❖❖❖

# 'वाल्मीकि रामायण में ज्योर्तिविज्ञान एक अनुशीलन'

**डॉ० प्रसून दत्त सिंह**

महर्षि वाल्मीकि आदि कवि हैं। अपौरूषेय वेदों के बाद लोक में सर्वप्रथम काव्य रचना का श्रेय उन्हीं को है। वाणी के अधिदेवता ब्रह्माजी की प्रेरणा से उनके कंठ से अकस्मात् एक श्लोक "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः। यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः कामोहितम्" के रूप में काव्यमयी सरस्वती की धारा प्रस्फुटित हुई जिससे भगवान् श्रीराम की दिव्य लीलाओं का आश्रय लेकर उन्होंने रामायण महाकाव्य प्रणयन किया। यह रामायण रामचरितमानस आदि परवर्ती रामकथापरक ग्रंथों का उपजीव्य तो है ही, साथ ही राजनीति, धर्मनीति, युद्धनीति, नगर-निर्माण विद्या, विमान-विद्या, दिव्य शस्त्रास्त्र साधन विद्या, अध्यात्म-विद्या आदि का कोश है।

वेद सम्मत होने के कारण इस महाकाव्य में वेदांगों-यथा-ज्योतिष आदि का भी सम्यक् वर्ण है। त्रिजटा का स्वप्न, श्रीराम का यात्राकालिक मुहूर्तविचार, विभीषण द्वारा लंका में होने वाले अपशकुनों का वर्णन आदि प्रसंग महर्षि वाल्मीकि के ज्योतिष विज्ञान-सम्बन्धी अप्रतिम ज्ञान के ज्ञापक एवं समर्थक हैं। पस्तुत शोध-पत्र में रामायण के कतिपय ज्योतिष प्रकरण पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

**1. राजा दशरथ का दुःस्वप्नः** राजा दशरथ द्वारा राम को बुलाकर कुछ आवश्यक बातें उनको युवराज पद पर अभिषिक्त करने के पूर्व कही गयीं। इनमें भविष्य या ज्योतिष का आभाष होता है। वे राम से कहते हैं-श्रीराम! आजकल मुझे बड़े बुरे सपने दिखाई देते हैं। दिन में वज्रपात के साथ-साथ भयंकर शब्द करने वाली उल्काएँ भी गिर रही हैं। श्रीराम! ज्योतिषियों का कहना है कि मेरे जन्म नक्षत्र को सूर्य, मंगल और राहु नामक भयंकर ग्रहों ने आक्रान्त कर लिया है। ऐसे अशुभ लक्षणों का प्राकाट्य होने पर राजा आपत्ति में पड़ जाता है। अन्त में उसकी मृत्यु भी हो जाती है।[1] अतः रघुनंदन! तुम युवराज पद पर अपना अभिषेक करा लो। आज चन्द्रमा पुष्य से एक नक्षत्र पहले पुनर्वसु पर विराजमान हैं। अतः निश्चय ही कल वे पुष्य नक्षत्र पर होंगे-ऐसा ज्योतिषी बता रहे हैं। अतः तुम उस पुष्य नक्षत्र में अपना अभिषेक करा लो।[2]

**2. भरत का दुःस्वप्नः** भरत ननिहाल में महाभयानक दुःस्वप्न देखते हैं और इसे मृत्युसूचक स्वप्न मानकर अत्यंत दुःखित हो जाते हैं। वे अपने पिता दशरथ को लालचंदन का लेप किये हुए, लाल वस्त्र धारण किये हुए गर्दभ जुते रथ से दक्षिण दिशा की ओर जाते हुए देखते हैं। उनका हृदय इस आशंका से काँपने लगता है कि अब किसी-न-किसी की मृत्यु अवश्यंभावी है। मैं, श्रीराम, महाराजा दशरथ अथवा लक्ष्मण हममें से कोई भी मृत्यु का ग्रास बन सकता है।[3] परन्तु भरतजी ने स्वप्न में अपने पिता दशरथजी को ही दुर्गतिग्रस्त देखा था, अतः वे उनके ही दिवंगत होने की पीड़ादायक आशंका से व्यथित हो रहे थे।[4] भरतजी का दुःस्वप्न-दर्शन भी कालान्तर में महाराज दशरथ की मृत्यु के रूप में फलीभूत हुआ ही था।

**3. राम के वनगमन के समय हुए अपशकुनः** राम के वन जाने पर उस दिन अग्निहोत्र बंद हो गया, गृहस्थों के घर पर भोजन नहीं बना। सूर्यदेव अस्ताचल को चल दिये। हाथियों ने मुँह में लिया चारा छोड़ दिया, गौओं ने बछड़ों को दूध नहीं बिपलाया, पहले पुत्र को जनते हुए भी माता प्रसन्न नहीं हुई।

त्रिशंकु, मंगल, गुरू, बुध तथा अन्य समस्त ग्रह शुक्र, शनि आदि रात में चन्द्रका के पास वक्र गति से पहुँचकर क्रूर कान्तियुक्त होकर स्थित हो गये। नक्षत्रों की कान्ति फीकी पड़ गई। ग्रह निस्तेज हो गये। वे सब-के-सब आकाश में विपरीत मार्ग में स्थित हो धूमाच्छन्न प्रतीत हो रहे थे। आकाश में छायी हुई मेघमाला वायुवेग से उमड़े हुए समुद्र जैसी लगती थी। नगर में भूकम्प आ गया। समस्त दिशाएँ व्याकुल हो उठीं, उनमें अंधकार छा गया। उस समय न कोई ग्रह न ही कोई नक्षत्र प्रकाशित होता था।[5]

**अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जमशेदपुर वर्कर्स महाविद्यालय, जमशेदपुर**

**4. विभीषण द्वारा रावण से लंका में हो रहे अपशकुनों का वर्णन:** विभीषणजी लंका में हो रहे अपशकुनों का वर्णन करते हुए रावण से कहते हैं-जब से विदेह कुमारी सीता लंका में लायी गयी है, तभी से हमलोगों को अनेक प्रकार के अमंगल सूचक अपशकुन दिखाई दे रहे हैं। मंत्रों द्वारा विधिपूर्वक धधकाने पर भी अग्नि प्रज्वलित नहीं हो रही। उससे चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। उसकी लपटों के साथ धुँआ उठता है, वह प्रकट होती है तो धुएँ से मलिन रहती है।

रसोईघरों, अग्निशालाओं तथा वेदाध्ययन के स्थानों में साँप देखे जाते हैं, हवन सामग्रियों में चींटियाँ पड़ी दिखाई देती हैं। गायों का दूध सूख गया है, गजराज मदरहित हो गये हैं, घोड़े दीन स्वरों में हिनहिनाते हैं, गधों-ऊँटों तथा खच्चरों के रोंगटे खड़े हो जाते हैं, उनके नेत्रों से आँसू झरते हैं। विधि पूर्वक चिकित्सा करने पर भी वे स्वस्थ नहीं होते। क्रूर कौए एकत्र होकर कर्कश स्वर में काँव-2 करते हैं। वे सब महलों पर समूह रूप में देखे जाते हैं। लंकापुरी के ऊपर झुण्ड-के-झुण्ड गीध मंडराते रहते हैं। सुबह-शाम सियारिनें नगर के समीप आकर अमंगलसूचक शब्द करती हैं। मांसभक्षी पशु-पक्षियों की जोर-2 से की जा रही चीत्कार बिजली की गड़गड़ाहट के समान सुनायी देती है।[6]

**5. त्रिजटा का स्वप्न:** विदेह कुमारी को अत्यन्त दु:खी देख त्रिजटा ने उन्हें अपना स्वप्न सुनाया। वह कहने लगी-मैने स्वप्न में देखा रधुनाथजी आकाशगामी हाथी दाँत की बनी शिबिका, जिसमें हजार घोड़े जुते थे, श्वेत पुष्पों की माला धारण किये तथा श्वेत वस्त्र पहने, लक्ष्मण के साथ लंका में पधारे हैं। मैंने यह भी देखा कि सीता श्वेत वस्त्र पहने श्वेत पर्वत शिखर पर जो समुद्र से घिरा है, बैठी हैं।[7]

वहाँ वे रामजी से मिलीं। साथ ही मैंने रघुनाथजी को चार दाँतों वाले विशाल गजराज पर लक्ष्मण सहित आरूद देखा।[8]

सत्यपराक्रमी पुरुषोतम राम को लक्ष्मण और सीता सहित सूर्यतुल्य दिव्य पुष्पक विमान पर आरूढ़ हो उत्तर दिशा में गमन करते हुए भी मैंने देखा।[9]

त्रिजटा ने रावण के सभी पुत्रों को मूंड मुड़ाये तेल में नहाये देखा। उसने रावण को सुअर पर, इन्द्रजीत को सूँस पर, कुम्भकर्ण को ऊँट पर सवार होकर दक्षिण दिशा को जाते देखा।[10]

साथ ही त्रिजटा ने आगे कहा कि मैंने रावण द्वारा सुरक्षित लंकापुरी को दूत बनकर आये हुए वेगशाली वानर द्वारा जलाकर भस्म करते देखा।[11]

इन स्वप्नों का फलवर्णन करते हुए त्रिजटा ने कहा कि मुझे तो अब जानकी के अभीष्ट मनोरथ की सिद्धि उपस्थित दिखाई देती है। राक्षसराज रावण के विनाश तथा रघुनाथजी श्री विजय में कोई अधिक विलम्ब नहीं है।[12]

कहने की आवश्यकता नहीं कि त्रिजटा का यह स्वप्न शत-प्रतिशत सत्य सिद्ध हुआ था।

6. **श्रीराम का स्वप्न:** ऋष्यमूकपर्वत की रचना स्वयं प्रजापति ब्रह्मा ने की थी।[13]

इस पर्वत की अनेक विशेषताओं में एक प्रमुख विशेषता यह थी कि उसके शिखर पर सोने वाला व्यक्ति स्वप्न में जो कुछ भी अच्छा या बुरा देखा करता था, वह उसे अवश्यमेव प्राप्त हो जाया करता था।[14]

यह रहस्य कबन्ध नामक राक्षस ने श्रीराम को बताया था। लंकेश्वर रावण द्वारा अपहृत सीता की पुन: प्राप्ति का स्वप्न श्रीराम ने ऋष्यमूकपर्वत पर देखा था, जो कुछ ही समय बाद फलीभूत हो गया था।

शकुन-अपशकुन-स्वप्नदृष्ट पदार्थों की भाँति ही जाग्रतावस्था में देखे जानेवाले पदार्थ भी कार्यसिद्धि या कार्यहानि की सूचना दिया करते हैं जिन्हें लोक-व्यवहार में हम शकुन या अपशकुन कहा करते हैं। रामायण कालीन समाज में कोई भी मांगलिक कार्य करने से पहले अत्यन्त सावधानीपूर्वक शकुन आदि पिर विचार किया करता था। यात्रा, विवाह या यज्ञोपवीत, नूतन-गृह-प्रवेश, यज्ञ-यज्ञादि के अवसर पर, युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय देवदर्शन, राजदर्शन आदि महत्वपूर्ण कार्यों के उपस्थित होने पर अनिवार्य रूप से शकुन का विश्लेषण किया जाता था।

शरीर के अंग विशेष के फड़कने से, पक्षी विशेष के दर्शन से, आकाश के निर्मल अथवा मलिन होने से, अपने चित्त के शांत या उद्विग्न होने से शुभ या अशुभ फल देनेवाले शकुन-अपशकुन का निर्धारण किया जाता था। जैसे स्त्रियों के बाँये अंग का और पुरुषों के दायें अंग का फड़कना अत्यंत शुभ माना जाता था। श्रीराम और सुग्रीव की मित्रता के अवसर पर सीताजी, बाली और लंकावासी राक्षस-समुदाय सभी की बाँयी आँखें एक साथ फड़कने लगी थीं, जो सीता के अभ्युदय की और बाली तथा राक्षसों के विनाश की सूचना दे रही थीं।[15]

लंका में जानकी के वामनेत्र, वामभुजा और वामजंघा में स्फुरण को देखकर ही त्रिजटा ने उनके भावी अभ्युदय का विस्तार के साथ वर्णन किया था।[16]

एक तो श्रीराम के वियोग की मर्मान्तक असह्य पीड़ा और फिर ऊपर से राक्षसियों द्वारा डराना-धमकाना-इन दो महान् क्लेशों से खिन्न होकर जब जानकी जी ने अपनी ही वेणी से फाँसी लगाकर प्राण त्याग करने का निर्णय किया था, उस समय भी उनके तीनों वामांग-नेत्र, भुजा और जंघा सहसा फड़कने लगे थे। सुंदरकांड के 29वें अध्याय में इन शुभ लक्षणों का विस्तार से वर्णन किया गया है, जिन्हें अनुभव करते ही जानकीजी का समस्त शोक-संताप, उद्वेग, अन्तर्दाह क्षणभर में विलीन हो गया और वे आनंदातिरेक से रोमांचित हो गयी थीं। उस समय उनका मुखारविन्द रात्रि में खिले हुए पूर्णचन्द्र के समान शोभित हो रहा था।[17]

आँख के ऊपरवाले भाग का फड़कना भी मनोरथपूर्त्ति का सूचक माना जाता था। वानरसेना के साथ जब श्रीराम समुद्र तट पर पहुँचे थे तब उनकी आँख का ऊपरवाला भाग फड़कने लगा था। इस नेत्र स्फुरण को अनुभव करते ही उन्हें निश्चय हो गया कि अब मेरा मनोरथ अवश्य पूरा होगा, युद्ध में विजय सुनिश्चित है।[18]

रामायण में अपशकुनों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। उनमें से कुछ यहाँ संक्षिप्त दिग्दर्शन मात्र प्रस्तुत है:-

भयंकर गर्जना के साथ बादलों से गर्मागर्म रक्त की वर्षा होना, घोड़ों का करूण स्वर में रोना, गीदड़ों, भेंड़ियों और गीधों द्वारा भेरव नाद करना, गाय द्वारा गर्दभ को और नेवले द्वारा चूहों को जन्म देना, बिलाव का बाघ के साथ सूकर का कुत्ते के साथ, किन्नरों का राक्षसों या मनुष्यों के साथ मैथुन कर्म में प्रवृत होना, मुण्डित मस्तक किसी काले - कलूटे पुरुष का घर में घूमना, दिन में अचानक अन्धकार छा जाना, सूर्य की ओर मुँह करके कुत्तों का रोना, उल्कापात या भूकम्प आदि होना।

**मुहूर्त विज्ञान:** यद्यपि काल सर्वथा अविभाज्य एवं अमूर्त तत्व है तथापि व्यावहारिक प्रयोजनों की सिद्धि के लिए ज्योतिष शास्त्र में उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभाजन किया गया है। सूर्यादि ग्रहों तथा अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्रों की गति-विगति के तारतम्य से मुर्हूतों का अनुकूल प्रतिकूल प्रभाव देनेवाला होना भी स्वत: सिद्ध है। अत: कुछ मुहूर्त शुभ और कुछ कुत्सित कहे जाते हैं। रामायणकालीन समाज की ज्योतिषशास्त्र में गहन आस्था थी। वहाँ न केवल विवाह, नूतन गृह प्रवेश अथवा राज्याभिषेक जैसे मांगलिक कृत्यों के अवसर पर भी शुभ मुहूर्त का शोधन कराया जाता था, अपितु सामान्य शुभकर्मों के समय भी अनुकूल ग्रह-नक्षत्रदि का विचार करने की परम्परा थी। महर्षि वाल्मीकि ने प्रसंगानुसार कुछ मुहूर्तों का वर्णन किया है जो आज भी यथावत् स्वीकार्य है। यथा-प्रजापति भग से उपलक्षित उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र वैवाहिक नक्षत्रों में सर्वाधिक प्रशस्त माना जाता था। श्रीराम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न-चारों भ्रताओं का क्रमश: सीता, उर्मिला, मांडवी और श्रुतिकीर्ति नामक चारों राजकुमारियों के साथ विवाह-संस्कार एक-ही दिन उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में ही हुआ था।[19]

बुधवार को छोड़कर प्रत्येक दिन का आठवाँ मुहूर्त 'अभिजित' मुहूर्त कहलाता है- "अष्टमें दिवसस्यार्धो अभिजित् संज्ञक: क्षण:।" "मध्याह्नात् पूर्वापर" काल में होनेवाले इस मुहूर्त की समयावधि 2 घड़ी यानी 48 मिनट होती है। ज्योतिष शास्त्रानुसार दिनमान के आधे समय को सूर्योदय में जोड़ने से मध्याह्न काल हो जाता है। इसमें 24 मिनट घटाने और अपराह्न के 24 मिनट जोड़ने से अभिजित् का मान निकल आता है। इस मुहूर्त में समस्त दोशों के निवारण की एवं सभी शुभकर्मों को सफल करने की अद्भुत क्षमता है। इसे "विजय मुहूर्त" भी कहते हैं। युद्ध, यात्रा के लिए यह मुहूर्त सर्वाधिक उपयुक्त माना जाता है। शत्रु रावण पर विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से अपनी समर-यात्रा के लिए श्रीराम ने अभिजित-मुहूर्त को ही चुना था और उसी कालावधि में सैन्य-संचालन के लिए सुग्रीव को निर्देश दिया था।[20]

कभी-2 अज्ञानवश अथवा त्वरावश जब कोई व्यक्ति कुत्सित मुहूर्त में किसी कार्य को कर डालता है तो उसका कुफल भी उसे भोगना पड़ता है। रावण ने जिस मुहूर्त में जानकी जी का अपहरण किया था, तब उसे मालूम नहीं था कि उस समय "विन्द" नामक कुत्सित मुहूर्त था और उसका फल यह था कि उस मुहूर्त में चुराई गई वस्तु तो उसके स्वामी को यथाशीघ्र ही प्राप्त हो जाती है, परन्तु चोर के गले में काँटा फँस जाने से, व्याकुल मछली की भाँति तड़प-तड़पकर प्राणोत्सर्ग करना पड़ता है।[21]

आदि कवि महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण नामक महाकाव्य समस्त पापों का नाश और दुष्ट ग्रहों की बाध ा का निवारण करने वाला है। यह वेद सम्मत है। इसके पठन, श्रवण और मनन से दु:स्वप्नों का नाश हो जाता है। श्रीरामजी की लीला कथाओं से युक्त यह ग्रन्थरत्न समस्त कल्याणमयी सिद्धियों को देनेवाला है - रामायणं महाकाव्यं सर्ववेदेषु सम्मतम्। सर्वपापप्रशमनं दुष्टग्रह निवारणम्।। दु: स्वप्ननाशनं धन्यं युक्तिमुक्तिफलप्रदम्। रामचन्द्रकथोपेतं

सर्वकल्याणसिद्धिदम्।। (वा.रा.माहा. 1/19-20)

इस प्रकार हम देखते हैं कि महर्षि वाल्मीकि जी ने अपनी रामकथा में ज्योतिष तत्त्वों का निरूपण तो किया ही है, साथ ही दुष्टग्रहों एवं दु:स्वप्नों के शमन के साधन के रूप में भी इस ग्रन्थरत्न को प्रस्तुत किया है।

## संदर्भ-सूची


1. अपि चाद्याशुभान् राम स्वप्नान् पश्यामि राघव।
सनिर्घाता दिवोल्काश्च पतन्ति हि महास्वना:।।
अवष्टब्धं च में राम नक्षत्रं दारूणग्रहै:।
आवेदयन्ति-दैवज्ञा: सूर्यांगनरकराहुभि:।।
प्रायेणच निमित्तानामीदृशानां समुद्भवे।
राजा हि मृत्युमाप्नोति घोरां चापद्मृच्छति।।
-(वा.रा.अयो.का.2/4/17-19)
2. अद्य चन्द्रोऽभ्युपगमत् पुष्यात् पूर्वं पुनर्वसुम्।
श्व पुष्ययोगं नियतं वक्ष्यन्ते दैवचिन्तका:।।
तत्र पुष्येऽभिषिंचस्व मनस्त्वरयतीव माम।
श्वस्त्वाहमभिषेक्ष्यामि यौवराज्ये परन्तप।।
3. एवमेतन्मया दृष्टमिमां रात्रिं भयावहाम्।
अहं रामोऽथवा राजा लक्ष्मणो वा मरिष्यति।।
-(वा.रा.अयो.का. 2/69/17)
4. नरो यामेन य: स्वप्ने खरयुक्तेन याति हि।
अचि रात्रस्य धूम्राग्रं चितायां सम्प्रदृश्यते।।
-(वा.रा.अयो.का. 2/69/18)
5. त्रिशंकुर्लोहितांगश्चत बृहस्पतिबुधावपि।
दारूणा: सोममभ्येत्य ग्रहा: सर्वे व्यवस्थिता:।।
नक्षत्राणि गतार्चीपि ग्रहाश्च गततेजस:।
विशाखाश्च सधूमाश्चनभसि प्रचकाशिरे।।
कलिकानिलवेगेन महोदधिरिवोत्थित:।
रामेवनं प्रव्रजिते नगरं प्रचचाल तत्।।
दिश: पर्याकुला: सर्वास्तिमिरेणेव संवृता:।
न ग्रहो नापि नक्षत्रं प्रचकाशे न किंचन।।
-(वा.रा.अयो.का. 2/41/11-14)
6. यदाप्रभृति वैदेही सम्प्राप्तेह परंतप।
तदाप्रभृति दृश्यन्ते निमित्तान्यशुभानि न:।।
सस्फुलिंग: सधूमार्चि: सधूमकलुषोदय:।
मन्त्रसंघुक्षितोऽप्यग्निर्न सम्यगभि वर्धते।।
अग्निष्टेष्वग्निशालासु तथा ब्रह्मस्थलीषु च।
सरीसृपाणि दृश्यन्ते हव्येषु च पिपीलिका:।।
गपरं नसरं... कल्लानि विमदावरकुंजरा:।
दीनमखा: प्रहेषन्ते नवग्रासाभिनन्दिन:।।
खरोष्ट्राश्वतरा राजन् भिन्नरोमा: स्रवन्ति च।
न खभावेऽवतिष्ठन्ते विधानैरपि चिन्तिता:।।
वायसा: संघष: क्रूरा व्याहरन्ति समन्तत:।
समवेताश्च दृश्यन्ते विमानाग्रेषु संघश:।।
गृध्राश्चत परिलीयन्ते पुरीमुपरिपिण्डिता:।
उपपन्नाश्च संध्ये द्वे व्याहरन्त्य शिवं शिवा:।।
क्रव्यादानां मृगामां च पूरीद्वारेषु संघश:।
श्रूयन्ते विपुला घोषा: सविस्फूर्जितनि: स्वना:।।
- (वा.रा.लं.का. 6/10/14-21)
7. गजदन्तमयीं दिव्यां शिबिकामन्तरिक्षग्।
युक्तां वाजिसहक्षेण स्वमास्याय राघव:।
शुक्लमाल्यम्बरधरो लक्ष्मणेन समागत:।।
स्वप्ने चाद्य मया दृष्टा सीता शुक्लाम्बरावृता।
सागरेण परिक्षिप्तं श्वेतपर्वतमास्थिता।।
रामेण संगता सीता भास्करेण प्रभा यथा।
- (वा.रा.लं.का. 5/27/9-12)
8. राघवश्च पुनर्दृष्टश्चतुर्दन्तं महागजम्।
आरूढ़: शैल संकाशंचकाश सहलक्ष्मण:।।
-(वा.रा.लं.का. 5/27/12-13)
9. ततोऽन्यत्र मया दृष्टो राम: सत्यपराक्रम:।।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्र सीतया सह वीर्यवान्।।
आरूह्य पुष्पकं दिव्यं विमानं सूर्य संनिभम्।। उत्तरां दिशमालोच्य प्रस्थित: पुरुषोतम:।।
-(वा.रा.लं.का. 5/27/18-20)
10. रावणस्य सुता: सर्वे मुण्डास्तैल समुक्षिता:।
वराहेण दशग्रीव: शिशुमारेण चेन्द्रजित्।।
उष्ट्रेण कुम्भकर्णश्च प्रयातो दक्षिणां दिशम्।
-(वा.रा.लं.का. 5/27/31-32)
11. लंकादृष्टा मया स्वप्ने रावणेनाभिरक्षिता।
दग्धा रामस्य दूतेन वानरेण तरस्विना।।
-(वा.रा.लं.का. 5/27/38)
12. अर्थसिद्धिं तु वैदेह्या: पश्याम्यहमुपस्थितम्।
राक्षसेन्द्रविनाशं च विजयं राघवस्य च।।
-(वा.रा.लं.का. 5/27/49)
13. ऋष्यमूकस्तु पम्पाया: पुरस्तात् पुष्पितद्रुम:।
उदारो ब्रह्मणा चैव पूर्वकालेऽभिनिर्मित:।।
-(वा.रा.3/73/31-32)
14. शयान: पुरुषो राम तस्य शैलस्य मूर्धानि।
यत् स्वप्नं लभते वित्तं तत् प्रबुद्धोऽधिगच्छति।। -(वा.रा.3/73/33)
15. सीता कपीन्द्रक्षणदाचराणां राजीवहेमज्वलनोपमानि।
सुग्रीव रामप्रणय प्रसंगे वामानि नेत्राणि समं स्फुरन्ति।।
- (वा.रा. अ.कि.का. 4/5/31)
16. निमित्त भूतमेतत् तु श्रोतुमस्या महत् प्रियम्।
दृश्यते च स्फुरच्चक्षु: पद्ममत्रमिवायतम्।।
ईषद्धि हृषितो पास्या दक्षिणाया हृयदक्षिण:।
अकस्मादेव वैदेह्या बाहुरेक: प्रकम्पते।।
करेणुहस्त प्रतिम: सत्यश्चोरूरनुत्तम:।
वेपन् कथयतीवास्या राघवं पुरत: स्थितम्।।
-(वा.रा. सु.का. 5/27/50-52)
17. सावीतशोका व्यपनीतवन्द्रा शांतज्वरा हर्षविबुद्धसत्वा।
अशोभतार्या वदनेन शुक्ले शीतांशुना रात्रिरिवोदितेन।। -(वा.रा. सु.का. 5/29/8)
18. उपरिष्टाद्धि नयनं स्फुरमाणमिमं मम।
विजयं समनुप्राप्तं शंसतीव मनोरथम्।।
-(वा.रा. अ.का. 6/4/7)
19. एकाह्ना राजपुत्रीणां चतसृणां महामुने।
पाणीन् गृहणन्तु चत्वारो राजपुत्र महाबला:।।
उत्तरे दिवसे ब्रह्मन फाल्गुनीभ्यां मनीषिण:।
वैवाहिकं प्रशंसन्ति भगो यत्र प्रजापति:।।
- (वा.रा. अयो.का. 1/72/12-13)
20. अस्मिन् मुहूर्ते सुग्रीव प्रयाणमभिरोचय।
युक्तोमुहूर्ते विजये प्राप्तो मध्यं दिवाकर:।।
उत्तराफाल्गुनी हृद्य श्वस्तु हस्तेन योक्ष्यते।
अभिप्रयाम सुग्रीव सर्वानीक समावृता:।।
-(वा.रा. 6/4/3-5)
21. येन याति मुहूर्तेन सीतामादाय रावण:।
विप्रणष्टं धनंक्षिप्रं तत्स्वामी प्रतिपद्यते।।
विन्दो नाम मुहूर्तोऽसौ न च काकुत्स्थ सोऽबुधत्। झषवत् बडिशं गृह्य क्षिप्रमेव विनश्यति।।
न च त्वया व्यथा कार्या जनकस्य सुतां प्रति। वैदेह्या रंस्यसे क्षिप्रं हत्वा तं रणमूर्धानि।।
-(वा.रा. 3/68/12-14)


❖❖❖

# वेदों में विश्वबंधुत्व की भावना

**डॉ० उमेश प्रसाद**

'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से ओतप्रोत होकर आर्यों ने सर्वत्र ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करके प्राणी मात्र को ममत्व और एकत्व की भावना से सबल बनाने का स्तुत्य प्रयास किया है। समग्र देश को एकसूत्र में बांधकर सुसंगठित राष्ट्र के रूप में गहरे महत्व के साथ प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयास किया है।

यह तथ्य सर्वविदित है कि भारत वर्ष में प्राचीन समय से ही देश प्रेम और विश्वबंधुत्व की भावना के दर्शन होते हैं और वह हमें संस्कृत भाषा और उनके विभिन्न ग्रंथों के द्वारा ज्ञात होता है। राष्ट्र के लिए त्याग भाव, समृद्धि और संपत्ति की जो व्यवस्थाएं हैं वह हमें अथर्ववेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद, शुक्लयर्जुवेद जैसे अनेकानेक ग्रंथों में दर्शन होते हैं। हमारी समस्त उपासना और सांप्रदायिक भेदभावों की निर्मलता इस वैदिक उदघोषणा से प्रमाणित होती है।

*सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे संतु निरामयाः ।*

*सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद दुःखभाग्भवेत् ।।*

ऐसी वैदिक प्रार्थनाओं में समष्टिभाव और पूर्ण साम्राज्य दृष्टिगोचर होता है और वेदों में विश्वशांति और विश्वबंधुत्व की भावना मानव के लिये सौहार्द की, मित्रता की भावना प्रकट करता है। भारतभूमि को संस्कृत भाषा की जननी माना जाता है और विविधता में एकता भारतीय संस्कृति की विशेषता है। संस्कृत भाषा राष्ट्रीय ऐक्य का मूल स्रोत है। संस्कृत जैसी प्राचीनतम भाषाओं में भी देशभक्ति, देश के प्रति भावना और उनके प्रति प्रतिबद्धता दिखाई देती है। हमारे वेद जैसे की अथर्ववेद, ऋग्वेदादि और पुराणों में राष्ट्र और उसके समीप की अनेकानेक बातें हमें सुक्तों में देखने को मिलती है।

हमारे वेदों में 'राष्ट्र' शब्द हम देख सकते हैं कि वह भूमि या उसमें निवास करने वाली जनता के अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ किन्तु उसकी वेदसंमत परिभाषा है–

*'राजते तद राष्ट्रम्'[1] ऐसा अर्थ दिया गया है।*

वेदों में हमारे राष्ट्र के प्रति, भूमि के प्रति भावना व्यक्त करने वाले कई सूक्त है की जिसमें राष्ट्र के प्रति अगाध भावना का प्रगटीकरण मिलता है। जैसे कि भूमि सूक्त से जाना जाता है। भारतीय परंपरा में मातृभूमि के प्रति अपार प्रेम और श्रद्धा को व्यक्त करता हुआ यह वैदिक ''राष्ट्रगीत' से पहचाना जाता है।

अथर्ववेद के भूमि सूक्तों में जगत के सर्वप्राणी और मनुष्य मात्र के कल्याण की कामना दिखाई देती है। और अन्य एक मंत्र में कहा गया है कि प्रभु हमारे दो पैर वाले और चार पैर वाले पशुओं के लिए कल्याणमय और सुखमय बनो तथा ऐसी भावना भी अभिव्यक्त की हुई मिलती है कि हे प्रभु कृपा करो कि मैं प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्राणीमात्र के प्रति समभाव के प्रति समभाव रख सकूं और हे मातृभूमि जो हमारा द्वेष करते हैं जो सेना के द्वारा हमें पराजित करना चाहते हैं।

कुचेष्टा करते हैं। जो हमारा संहार करके पीड़ा पहुचाना चाहते हैं उन शत्रुओं का आप समुल नाश करें।

*यो नो द्वेषत पृथिवी यः पृतन्याद योऽभिद्रासान्मनसा ।*

*यो वधेन तं नो भूमेः रन्धय पूर्वकृत्वरि ।।*[2]

अथर्ववेद में कहा गया है कि हममें मातृभेदभाव भले ही हो लेकिन परस्पर समता की ओर ऐक्य की अथवा मैत्री की भावना है। तथा मनुष्यों ने एक-दूसरे के साथ संगठन किया अर्थात् एकत्रित हुए हैं। उसके समाज में हमें स्थापित करके और इस तरीके से हमारी रक्षा की है। भूमि तुम हमारी माता हैं और हम सभी तेरे पुत्र हैं–

*माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ।*[3]

वेदों में सहभाव के साथ सहभोजन पर अत्याधिक भार दिया हुआ मिलता है। अथर्ववेद में कहा गया है कि हम सब साथ मिलकर खान-पान करें। वेदों में भिन्न-भिन्न धर्म, जाति और भाषा में भी राष्ट्र की एकता का निर्देशन किया गया है। और भारत में विविधता में एकता वह भारतीय संस्कृति की विशेषता है।

**सहायक शिक्षक, मध्य विद्यालय, पचमेरिया, डोरीगंज (सारण)**

भारत के विविध प्रदेशों में भिन्न-भिन्न भाषा होने पर भी भारत में भाषा शिक्षण ऐक्य भी विद्यमान है जैसे कि–

*ता नः प्रजाः दुह्यतां समग्रा बाचो मधु पृथिवी धेहि मह्यम् ।।*[4]

अर्थात् सर्वलोक, तेरी संपूर्ण प्रजा मधुरवाणी बोलकर प्रेमपूर्ण तरीके से एकत्र होकर रहे और हमें वचन बोलने की शक्ति दे और लोगों में किसी भी प्रकार का द्वेष न रहे तथा सभी लोग परस्पर मित्रता से रहे।

ऋग्वेद के संज्ञान सूक्त में भी हमें राष्ट्रीय भावना से संबंध विचार सर्वत्र दिखाई देते हैं संज्ञानसूक्त के चारों मंत्रों में मानव मन में सद्भाव उदय की कामना की गई है सद्भाव की संज्ञान है। संज्ञान वह प्रेरणा स्त्रोत है जो मानव मन में भावात्मक एकता को सुस्थापित करता है और संसार के प्राणियों को सुसंगठित करते है।

*समानी वः आकूतिः समानी*
*हृदयानि वः ।*
*समानमस्तु वो मनः यथा वः*
*सुसहासति ।।*[5]

अर्थात् हमारे विचार एक रूप हो, हमारे हृदय एक प्रकार के बने, हमारे मन समान बने, जिससे हमारा सुंदर सहभाव हो सके। इस तरह यहां पर समान रूप से विचार और भावों को अभिव्यक्त करने का उपदेश दिया गया है। और इस उपदेश के द्वारा ऋषि भावात्मक एकता लाना चाहते हैं।

*सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो*
*मनांसि जानताम् ।*
*देवाभागं यथा पूर्वे सं जनाना*
*उपासते ।।*[6]

अर्थात् जिस तरह से प्राचीन देव एकमत होकर तत्वभाग को ग्रहण करते हैं उस तरह हम सब साथ मिलकर चले और आपके मन समान रूप से तत्व की स्थिति आदि को समझे इस तरीके से संज्ञान सुक्त के द्वितीय मंत्र में भावात्मक एकता प्रस्थापित करने की प्रेरणा प्रदत्त है।

उपरोक्त मंत्रों में संवनन ऋषि द्वारा संज्ञान के सभी प्राणियों में पारस्परिक भेदभाव भूलकर एकता के सूत्र में आबाद होने की प्रेरणा दी गई है। हजारों वर्ष पूर्व कैसी अद्भुत सद्भावना है। सभी एक बने वैसी प्रार्थना, राष्ट्र ऐक्य भावना की पवित्र कामना सर्व प्रथम ऋग्वेद और अन्य वेदों में मिलती है। राष्ट्र अविचल सुदृढ़ और सर्व प्रकार से संपन हो वैसी प्रत्येक आर्यो में भावना थी। यज्ञों में वरुण, इन्दू, बृहस्पति तथा अग्नि जैसे शक्तिशाली देवों को, वह राष्ट्र को स्थिर बनाने की प्रार्थना करते हैं।

*ध्रुवं ते राजा वरूणो ध्रुवं देवो*
*बृहस्पतिः ।*
*ध्रुवं ते इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां*
*ध्रुवम् ।।*[7]

समस्त राष्ट्र में निवास करने वाले वेदिक युगी मानव एकता के सूत्र में आबद्ध थे। वह राष्ट्र के किसी भी भाग में निवास करते हुए भी एक परिवार के समान रहते थे। और दुग्धदात्री धेनु जैसी पृथ्वी के पास अनेक प्रकार से धन और ऐश्वर्य का संदोहन करके आनंदमय जीवन व्यतीत करते थे।

अथर्ववेद में भी राष्ट्र की एकता पर ही गौर किया गया है। और बताया गया है कि–

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।।[8]

अर्थात् भाई भाई का द्वेष न करे और बहन-बहन का द्वेष न करे वह सभी एक विचार तथा एक कर्म वाले होकर परस्पर कल्याण की बात करे–

समानी प्रपा सह वोडन्नभागः समान योक्त्रे सह वो युनज्मि ।।[9]

अर्थात् हे समानता की कामना करने वाले मनुष्यो! आपके पानी पीने का स्थान एक ही है और अन्न का भाग भी साथ होता हैः हम आपको एकता के प्रेमपाश में बांध रहे हैं। भाषा अथवा स्थान विशेष के कारण उस वक्त ऐक्य की भावना ज्यादा प्रबल थी। विभिन्न धर्मानुयायि होने पर भी सब एक थे।

वेद के बहुत से सूक्तों में शत्रुओं से देश की रक्षा करने और उत्तमवीर पुरुषों से शत्रुवध करवाकर राष्ट्र को अधःपतन से बचाने की बात की गई है। हमेशा निरोगी जीवन आप बनाये जिससे हम राष्ट्र को तेजोमय बना सके।

इसके अलावा ऋग्वेद में भी उनके सूक्तों में राष्ट्र भावना के बीज दिखाई देते हैं। ब्रह्मा इन्द्र को अपने स्वराज्य के प्रति देशभक्ति और उसको बचाने के लिए कहते हैं कि स्वराज्य का सत्कार करके तू शत्रुओं का नार करके और तेरे शत्रुओं के सामने जा और उसे हराकर तेरे राज्य में से दूर कर तथा अपने देश के प्रति वफादारी तू दिखा एवं स्वराज्य की रक्षा के लिए और अपने राज्य में सदा समृद्धि रहे और पर्याप्त मात्रा में अन्न की उत्पति हो ऐसी प्रार्थना की गई है।

स्वराज्य की स्थापना के लिए नदियों के नजदीक रहकर स्थिर करने की बात करते हैं। और स्वराज्य सत्कार कर इत्यादि बात इस सूक्तों में कही गई है। जैसे कि–

*सहसं साकमर्चत परिष्टोभत विंशतिः ।*
*रातेनमन्वनोनवुरिन्द्राय ब्रह्मोध्यत गर्चन्नतु*
*स्वराज्यम् ।।*[10]

अर्थात् राज्य की शांति और समृद्धि के लिए सभी को एक होकर प्रार्थना करने के लिये सूचित किया गया है। तथा सभी एकत्र न हो सके तो 20 की संख्या में एकत्र होकर प्रार्थना करने को कहा गया है। स्वराज्य सूक्त में स्वराज्य के लिए किसी भी प्रकार का भोग देने की बात कही गई है।

यजुर्वेद अर्था यज्ञ का वेद। हमारे ऋषि मुनि यज्ञ करते वक्त राष्ट्र प्राप्ति की कामना से ऐक्य की भावना के लिए देवताओं को भावपूर्ण आहुति देते थे। जैसे कि–

*राष्ट्रया राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा ।।*[11]

शुक्लयजुर्वेद में कहा गया है कि परमेश्वर हमारे निश्चित राष्ट्र में ब्रह्मतेजस्वि परम जितेन्द्रिय बालक एकत्र हो, सूरवीर अस्त्र-शस्त्र में प्रवीण क्षत्रिय उत्पन्न हो। तथा राष्ट्र की शक्ति स्वरूप गौ-माता अतिशय दुग्ध देने वाली हो और अतिशय बोझ वहन करने वाले सक्षम बैल तथा क्षिप्रगामी अश्व भी उत्पन्न हो। नगर की रक्षा कर सके ऐसी विरांगना और रूपवती नारियां भी उत्पन्न हो राष्ट्र के पुरुष और तरुण सभा में कुशल ऐसे शूरवीर पुत्र उत्पन्न हो। हम सभी का योगक्षम सुखमय बने।

*उफं आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसि*
*जायताम् वीरो जायताम् ।*[12]

इस तरह उपरोक्त सूक्तों से स्पष्ट होता है कि वैदिक वाङमय का मूल उद्देश्य देशवासियों में राष्ट्र भक्ति की भावना का संचार करके उसे स्वावलंबी बनाने का था। अन्य अर्थ में कहें तो ऋषिओं ने इन मंत्रों के द्वारा देशवासियों को यह बोध दिया है। और विभिन्न धर्म संप्रदाय, जाति के साथ संबंधित होने पर भी एक ही माता के और पुत्र होने से हम देश बान्धव हैं। इस तरह भारतीय वैदिक साहित्य विश्व बंधुत्व की भावना से संपन्न हैं। इस भावना का अर्थ है केवल राष्ट्र के प्रति अपार आस्था, प्रकट करना ही नहीं अपितु राष्ट्र अथवा उसके धर्म भाषा, इतिहास, एवं संस्कृति में सभी संपूर्ण श्रद्धा रखना है।

इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक वाङमय का मूल उद्देश्य देशवासियों में राष्ट्रभक्ति की भावना का विस्तार करके उसे स्वावलंबी बनाने का था इसके लिए उन ऋषियों ने कहा है कि मातृभूमि, मातृ संस्कृति और मातृभाषा नामक त्रिविध सुख प्रदान करने वाली देवी आपके अंत:करण में सर्वदा निवास करे।

## संदर्भ सूची तथा पाददीप


– वैदिक रत्न मंजुषा–प्रो. डॉ. हिना बहन कीकानी, बहाउद्दीन कॉलेज–जुनागढ़
– संस्कृत साहित्य का इतिहास–वाचस्पति गैरोला, चोखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
– अथर्ववेद भूमिसूक्त–डॉ. रजनीभाई जोशी, श्री पाद् सातवेलकरजी
– ऋग्वेद–स्वराज सूक्त-अनुवाद पं. श्री पाद् सातवेलकरजी
– अथर्ववेद–6/87-6/88
– ऋग्वेद–1/173


## पाददीप

1. यजुर्वेद
2. अथर्ववेद–12/1/18
3. अथर्ववेद–12/1/12
4. अथर्ववेद–12/1/16
5. ऋग्वेद–10/191/8
6. ऋग्वेद–10/191/2
7. अथर्ववेद–6/88/2
8. अथर्ववेद–3/30/3
9. अथर्ववेद–3/30/6
10. ऋग्वेद–1/80/8
11. यजुर्वेद–9/80
12. शुक्लयजुर्वेद।

❖❖❖

# 'उर्वशी' में सौन्दर्य-भावना के विभिन्न आयाम

**शिल्पी कुमारी**

छायावाद की कुहेलिका से हिन्दी काव्य को बाहर निकालकर उसे जीवन के ठोस धरातल पर प्रतिष्ठित करनेवाले, राष्ट्रकवि स्व. डॉ. रामधारी सिंह 'दिनकर' प्रणीत 'उर्वशी' नाट्य-काव्य के अन्तर्गत जहाँ दार्शनिकता और कामाध्यात्म की व्यंजना हुई हैं, वहाँ उसमें सौन्दर्य भावना का भी अनुस्यूतीकरण हुआ है। सृष्टि के आरंभ से ही मनुष्य सौन्दर्य का उपासक रहा है और किसी-न-किसी रुप में सौन्दर्य-भाव को अवश्यमेव व्यक्त करता रहा है। यह सौन्दर्य-भावना जहाँ वेदों, उपनिषदों तथा अन्यान्य धर्मग्रन्थों में व्यंजित हुई हैं – वहाँ साहित्य में भी उसकी अभिव्यक्ति होती रही है। मानव-मन की विभिन्न प्रवृत्तियों में तीन प्रवृत्तियाँ प्रधान हैं – जिज्ञासा, चिकीर्षा एवं सौन्दर्य के प्रति आकर्षण। इन तीनों के पूर्त्यर्थ वह ज्ञान, कर्म और सौन्दर्य के अन्वेषण में लीन रहता है।

चूँकि परम ब्रह्म, सत्यं, शिवं, सुन्दरं से युक्त है, अतः उसके द्वारा निर्मित सारी सृष्टि भी सौन्दर्य से पूरित है।

व्याकरणानुसार 'सुन्दर' शब्द 'सौन्दर्य' शब्द की भाववाचक संज्ञा है, जिसके तीन अर्थ किये गये हैं –

(क) 'सु' का अर्थ होता है अच्छी तरह से तथा – 'उन्द' का अर्थ होता है 'आर्द्र करना' या सरल बनाना।

(ख) 'सु' का अर्थ होता है अच्छी तरह से और 'नन्दयति' का अर्थ है 'आनन्दित करना' अर्थात् जो अच्छी तरह से प्रसन्न कर दे।

(ग) 'सुन्दराति इति सुन्दरं' अर्थात् जो सुन्द (कर्तनी) ले आये वही सुन्दर है। यहाँ भाव यह है कि जो कर्तनी (कैंची) की तरह प्रभावपूर्ण और गहरा असर डाले, वही सुन्दर है।

इस दृष्टि से प्रसन्नता और सरसता प्रदान करनेवाला वह तत्त्व सौन्दर्य तत्त्व है जो मन पर गहरा प्रभाव डाल सके।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सृष्टि का मूल कारण सौन्दर्य ही है श्रीमद्भग्वदगीता में भगवान श्री कृष्ण ने स्वयं ही कहा है –

'यद् यद् विभूतिमत्सत्वं श्री मदूर्जितमेव वा,
तत्तदेवागच्छत्वं मम तेजोंशसम्भवम्।।'[1]

यह 'श्रीमदूर्जितमेव वा' सौन्दर्य-शक्ति का ही बोधक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, 'कुछ रुप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उनका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तः सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति हैं।'[2] सौन्दर्य के सम्बन्ध में भारतीय मनीषियों और चिन्तकों का दृष्टिकोण प्रायः आध्यात्मिक ही रहा है।

यों तो सौन्दर्य का क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है, फिर भी 'उर्वशी' में निहित सौन्दर्य-भावना को ठीक ढंग से समझने के लिए इसे निम्नलिखित चार रुपों में विभक्त किया जा सकता है–

**(क) मानवीय सौन्दर्य** – 'उर्वशी' में मानवीय सौन्दर्य के चित्रण-क्रम में कवि ने बड़ी ही कुशलता का परिचय दिया है। दिनकर ने 'उर्वशी' की भूमिका में कहा भी है – ''कला, साहित्य और विशेषतः काव्य में भौतिक सौन्दर्य की महिमा अखण्ड है फिर भी श्रेष्ठ कविता, बराबर, भौतिकता से परे भौतिकोत्तर सौन्दर्य का संकेत देती है, फिजिकल को लाँघकर 'मेटा फिजिकल' हो जाती है'' 'उर्वशी' का काव्य-सौन्दर्य कुछ ऐसा ही है।

मानवीय सौन्दर्य दो प्रकार के होते हैं–पुरुष-सौन्दर्य और नारी-सौन्दर्य। फिर इन सौन्दर्यों के भी दो उपभेद किये जा सकते हैं–बाह्य सौन्दर्य तथा आन्तरिक सौन्दर्य।

**शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा**

'उर्वशी नाट्य-काव्य में उसके नायक पुरुरवा के माध्यम से कवि ने पुरुष-सौन्दर्य के सम्बन्ध में निपुणिका से औशीनरी को कहलवाया है –

'कार्तिकेय-सम शूर, देवताओं के
गुरु-सम ज्ञानी,
रवि-सम तेजवन्त, सुरपति के
सदृश प्रतापी, मानी;
धनद-सदृश संग्रही, व्योमवत्
मुक्त, जलद-निभ त्यागी
कुसुम-सदृश मधुमय, मनोज्ञ,
कुसुमायुध-से अनुरागी।'[3]

उर्वशी के प्रति पुरुरवा के निम्न कथन में भी उसके बाह्य सौन्दर्य की झाँकी देखी जा सकती है; यथा–

'यह शिला-सा वक्ष, ये
चट्टान-सी मेरी भुजाएँ,
सूर्य के आलोक से दीपित,
समुन्नत भाल,
मेरे प्राण का सागर अगम, उत्ताल,
उच्छल है।
सामने टिकते नहीं वनराज, पर्वत
डोलते हैं,
काँपते है कुण्डली मारे समय
का व्याल,
मेरी बाँह में मारुत, गरुड़, गजराज
का बल है।'[4]

पुरुष के बाह्य सौन्दर्य में बड़ा ही आकर्षण होता है जिसका प्रभाव किसी भी व्यक्ति पर पड़े बिना नहीं रह सकता। उस बाह्य सौन्दर्य से सुन्दर-से-सुन्दर रमणियाँ भी मोहित हो जाती हैं। पुरुरवा का बाह्य सौन्दर्य कुछ ऐसा ही है। तभी तो उर्वशी उनके उस सौन्दर्य पर रीझकर कहती है –

'यह ज्योतिर्मय रुप ? प्रकृति ने
किसी कनक-पर्वत से
काट पुरुष-प्रतिभा विराट निज
मन के आकारों की
महाप्राण से भर उसको, फिर भू
पर गिरा दिया है;
स्यात् स्वर्ग की सुन्दरियों, परियों
को ललचाने को
स्यात् दिखाने को धरती जब
महावीर जनती है,
असुरों से वह बली, सुरों से भी
मनोज्ञ होता है।'[5]

बाह्य सौन्दर्य की ही भाँति पुरुरवा में आन्तरिक सौन्दर्य भी है। यही आन्तरिक सौन्दर्य अन्य लोगों की अपेक्षा किसी को महान बना देता है। पुरुरवा हृदय से बड़ा ही उदार और शांतिप्रिय व्यक्ति है। वह स्वयं ही कहता है –

'नहीं बढ़ाया कभी हाथ पर के
स्वाधीन मुकुट पर,
न तो किया संघर्ष कभी पर की
वसुधा हरने को।'[6]
मैं मनुष्य कामना-वायु मेरे भीतर
बहती है
कभी मन्द गति से प्राणों में
सिहरन-पुलक जगाकर;
कभी-डालियों को मरोड़ झंझा
की दारुण गति को।
मन का दीपक बुझा, बनाकर
तिमिराच्छन्न हृदय को।
किन्तु पुरुष क्या कभी मानता है
तम के शासन को ?
फिर होता संघर्ष, तिमिर में दीपक
फिर जलते हैं।'[7]

जिस प्रकार पुरुरवा से बाह्य और आन्तरिक दोनों ही सौन्दर्य है उसी प्रकार उर्वशी में भी बाह्याभ्यन्तरिक सौन्दर्य है उर्वशी के सौन्दर्य-चित्रण में कवि का मन खूब रमा है स्वर्ग की अप्सरा होने के नाते उसके बाह्य सौन्दर्य का तो कहना ही क्या? उसके रूप-सौन्दर्य में एक गजब का जादू भरा है। लगता है, जैसे उसके अंग-प्रत्यंग से सौन्दर्य चू रहा हो। रम्भा के प्रति सहजन्या के इन शब्दों में उर्वशी का बाह्य-सौन्दर्य निखरा है –

'सुरपुर की कौमुदी, कलित
कामना इन्द्र के मन की,
सिद्ध विरागी की समाधि में राग
जगाने वाली,
देवों के शोणित में सचमुच
आग-लगाने वाली,
रति की मूर्ति, रमा की प्रतिभा,
तृषा विश्वमय नर की,
विधु की प्राणेश्वरी, आरती शिखा
काम के कर की।'[8]

लगता है जैसे उर्वशी के शरीर के निर्माण में विधि ने अपनी सारी कला उड़ेल दी हो। उसके इस सौन्दर्य के सम्बन्ध में कवि ने चित्रलेखा के मुख से कहलवाया है –

'लाल-लाल वे चरण कमल-से,
कुंकुम-से, जावक-से,
तन की रक्तिम कांति शुद्ध, ज्यों
घुली हुई पावक से।
जग भर की माधुरी, अरूण अधरों
में भरी हुई-सी,
तन प्रकांति मुकुलित अनंत
ऊषाओं की लाली-सी
नूतनता सम्पूर्ण जगत की संचित
हरियाली-सी,
पग पड़ते ही फूट पड़े
विद्रुम-प्रवाल धूलों से,
जहाँ खड़ी हो, वहीं व्योम भर
जाय श्वेत फूलों से।'[9]

उर्वशी में बाह्य सौन्दर्य ही नहीं, आन्तरिक सौन्दर्य भी है। 'शील आदि

गुण आन्तरिक सौन्दर्य के अन्तर्गत आते हैं। उर्वशी में शील का अथाह तरंगित है।'[10] यह आन्तरिक सौन्दर्य ही उसकी मर्यादा को त्रिगुणित कर देता है। बाह्य सौन्दर्य के साथ-साथ अगर नारी में आन्तरिक सौन्दर्य भी हो तो वह वस्तुतः देवी कहलाने योग्य हो जाती है। उर्वशी का प्रेयसी रूप प्रेम-भाव से ओत-प्रोत दीखता है तभी तो प्रेम के आगे वह अपना सब कुछ समर्पित कर देने को तत्पर है। वह पुरुरवा हो कहती है –

'आ मेरे प्यारे तृषित ! श्रान्त
अन्तः सर में मज्जित करके,
हर लूँगी मन की तपन चाँदनी,
फूलों से सज्जित करके।
रसमयी मेघमाला बनकर मैं तुझे
घेर छा जाऊँगी,
फूलों की छाँह-तले अपने अधरों
की सुधा पिलाऊँगी।'[11]

नारी में अपने सम्मान के प्रति स्वाभिमान का भाव भी होता है। इस दृष्टि से वह कोमल कुसुम ही नहीं, बल्कि दहकती कली भी होती है।

उर्वशी के प्रेमिका रूप में जहाँ प्रेम पराकष्ठा पर दीखता है, वहाँ उसके मातृ रूप में वात्सल्य की भावना भी कूट-कूट कर भरी हुई है। तभी तो वह छिप-छिप कर अपने पुत्र आयु के निकट आकर उसकी सुधि लेती है और उसके प्रति अपने हृदय के सारे लाड़-प्यार और दुलार उड़ेलकर भी अतृप्त बनी रहती है। शिशु आयु में उसे समस्त सृष्टि का वैभव परिलक्षित होता है :–

'अरी देखती नहीं लाल की
नन्हीं-नन्हीं आँखों में
अब भी तो सुस्पष्ट स्वर्ग के
सपने झलक रहे हैं ?
टुकुर-टुकुर संतुष्ट भाव से कैसे
ताक रहा है ?
मानों हो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी समर्थ
देवों-सा।'[12]

'उर्वशी' में दिनकर ने परिणीता नारी के रूप को भी खड़ा किया है। सुकन्या महर्षि च्यवन की परिणीता हैं। पत्नी के लिए पति ही सर्वस्व होता है। उसे अपने पति पर बड़ा ही गर्व होता है। भारतीय संस्कृति में पत्नी के लिए पति देवता होता है, पूज्य होता है सुकन्या को भी पति पर बड़ा ही गर्व है। तभी तो वह कहती है –

'गृहिणी के तो परम देव आराध्य
एक होते हैं,
जिससे मिलता भोग, योग भी
हमें वही देता है
क्या कुछ मिला नहीं मुझको
दयिता महर्षि की होकर।'[13]

* * * * *

'किन्तु चित्रलेखे ! मुझको अपने
महर्षि भर्ता पर
ग्लानि नहीं, निस्सीम गर्व है।'[14]

**(ख) प्राकृतिक सौन्दर्य –** 'उर्वशी' नाट्य काव्य में प्रकृति-सौन्दर्य के भी एक- से-एक सुन्दर चित्र मिलते हैं सृष्टि के आरंभ से ही प्रकृति अपने सौन्दर्य-भण्डार से मानव को आनन्द-प्रदान करती आ रही है। इसीलिए जहाँ दार्शनिक लोग इसके रहस्य को जानने का प्रयास करते आ रहे हैं, वहाँ कवि लोग इसे अपने-अपने काव्य में चित्रित करते आ रहे हैं। रामधारी सिंह 'दिनकर' ने भी अपने काव्यों में प्रकृति का बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा हैं। 'उर्वशी' में तो इसका चित्रण बड़े ही विराट फलक पर हुआ है। 'उर्वशी' का आरंभ ही प्रकृति-सौन्दर्य के चित्रण से हुआ है। वसंत ऋतु के शुक्ल पक्ष की चाँदनी रात की मनोहारी सुषमा का वर्णन करते हुए कवि कहता है –

'नीचे पृथ्वी पर वसन्त की
कुसुम-विभा छाई है,
ऊपर है चन्द्रमा द्वादशी का निर्मेध
गगन में।
खुली, नीलिमा पर विकीर्ण तारे
यों दीप रहे हैं।
चमक रहे हों नील चीर कर टूटे
ज्यों चाँदी के,
या प्रशान्त, निस्सीम जलधि में
जैसे चरण-चरण पर
नीर वारि को फोड़ ज्योति के
दीप निकल आये हों।
इन द्वीपों के बीच चन्द्रमा
मन्द-मन्द चलता है;
मन्द-मन्द चलती है नीचे वायु
श्रान्त मधुवन की,
मद-विह्वल कामना प्रेम की
मानों अलसायी-सी,
कुसुम-कुसुम पर विरम मन्द
मधु-गति में धूम रही हो।'[15]

प्रकृति का सौन्दर्य इतना मनोरम और मादक है कि उसे देखकर सारा संसार तो आह्लादित और विभोर हो ही उठता है, स्वयं प्रकृति भी अपने आपको भूल जाती है –

'स्वच्छ कौमुदी में प्रशान्त जगती
यों दमक रही है,
सत्य रूप तजकर जैसे हो समा
गयी दर्पण में।

शांति, शांति सब ओर मंजु, मानो,
चन्द्रिका-मुकुर में
प्रकृति देख अपनी शोभा अपने
को भूल गयी हो।'[16]

इस प्रकार 'उर्वशी' में उस प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण हुआ है जो सर्वत्र भासित हो रहा है और सबके मन में आनन्द तथा सुख का संचार कर रहा है।

**(ग) वस्तुगत सौन्दर्य** – वस्तुगत सौन्दर्य से तात्पर्य विषयगत सौन्दर्य से है। 'यह सौन्दर्य वर्ण्य विषय के सौन्दर्य में निवास करता है। कथावस्तु की उदात्तता ही उसका सौन्दर्य है। उत्तम काव्य की कथावस्तु प्रख्यात हो और उसकी परिणति धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष में होती है। जहाँ तक उर्वशी की कथावस्तु का प्रश्न है, वह देशकाल के बराबर भारतीय कवियों के हृदय को स्पर्श करती रही है। इसकी सुन्दरता या प्रभाविष्णुता बनाये रखने के लिए कवि ने सर्वत्र सफल योजना की है। इसके नायक-नायिका में वे सभी गुण हैं जो उदात्त कथावस्तु के नायक और नायिका के लिए चाहिए।'[17] उर्वशी की कथा में तो सौन्दर्य है ही, 'यह कथा केवल कल्पना के सुनहले पंखों पर उन्मुक्त आकाश में उड़कर ही अलम् नहीं कर देती, वरन् मानव-जीवन के निगूढ़ रहस्य में पड़कर अपनी सुन्दरता में चार चाँद लगा लेती है।'[18] इस प्रकार वस्तुगत सौन्दर्य से 'उर्वशी' की गरिमा और अधिक बढ़ गयी है।

**(घ) शिल्पगत सौन्दर्य** – कलागत सौन्दर्य ही शिल्पगत सौन्दर्य है। इस सौन्दर्य से तात्पर्य अभिव्यंजना के सौन्दर्य से है। अभिव्यंजना-सौन्दर्य के अंतर्गत भाषा के सौन्दर्य तो आता ही है, उसमें शब्द-सौन्दर्य, नाद-सौन्दर्य, भाव-सौन्दर्य, संगीत-सौन्दर्य, अलंकार-सौन्दर्य, बिम्ब-विधान, प्रतीक-योजना आदि भी आ जाते हैं। 'उर्वशी' की भाषा पूर्णतः भावानुकूल और पात्रानुकूल है। कवि ने शब्दों के चयन में भी बड़ी ही कुशलता का परिचय दिया है। शब्दों के नाद-सौन्दर्य से सम्बन्धित निम्नलिखित पंक्तियाँ यहाँ द्रष्टव्य हैं –

'शांति-शांति सब ओर किन्तु
क्वणन-क्वणन स्वर कैसा
अतल व्योम-उर में ये कैसे नूपुर
झनक रहे हैं ?'[19]

यहाँ 'क्वणन-क्वणन' और 'झनक' शब्द में नाद-सौन्दर्य देखने योग्य है।

शब्द-संगीत में लय के अनुरूप ही स्वर का आरोह-अवरोह भी होता है, मगर स्वर-संगीत में स्वर-साम्य का होना आवश्यक नहीं होता। उर्वशी में दिनकर ने दोनों ही प्रकार के संगीतों की योजना की है। यहाँ स्वर-संगीत का एक उदाहरण प्रस्तुत है –

'बरस रही मधु धार गगन से,
पी ले यह रस रे !
उमड़ रही जो विभा, उसे बढ़
आँखों में कस रे !
इस अनन्त रसमय सागर का
अतल और मधुमय है,
डूब-डूब फेनिल तरंग पर मान
नहीं बस रे।'

इसी प्रकार यहाँ शब्द-संगीत का भी एक उदाहरण दर्शनीय है –

'हम गीतों के प्राण सधन,
छूम छनन छन्, छूम छनन।
बजा व्योम-वीणा के तार,
भरतीं हम नीली झंकार,
सिहर-सिहर उठता त्रिभुवन।
छूम-छनन छन्, छूम छनन।'[20]

'उर्वशी' में अलंकार-सौन्दर्य भी देखने योग्य है। यथास्थान अलंकारों का सहज और स्वाभाविक प्रयोग होने से इस नाट्य काव्य का सौन्दर्य बहुत अधिक बढ़ गया है। कवि ने शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के प्रयोग में बड़ी ही बारीकी से काम लिया है। यहाँ शब्दालंकार का एक उदाहरण प्रस्तुत है –

'खुली नीलिमा पर विकीर्ण तारे
यों दीप रहे हैं।
चमक रहे हों नील चीर पर बूटे
ज्यों चाँदी के।'[21]

इसी भाँति अर्थालंकारों के विधान में भी कवि ने अपने अद्भुत कौशल का परिचय किया है यथा –

'हिम कण-सिक्त-कुसुम-सम
उज्जवल अंग-अंग झलमल था,
मानों, अभी-अभी जल से
निकला उत्फुल्ल कमल था।'[22]

इसी प्रकार बिम्ब-विधान, प्रतीक-योजना आदि में भी कवि ने बड़ी ही कुशलता दिखाई हैं। इन्हीं सब कारणों से 'उर्वशी' में नयापन आ गया है। 'शब्द तो पुराना था, स्वर नया हो गया, प्रतिमा तो पुरानी थी, भंगिमा नयी हो गयी, चित्र तो पुराना था, रंग नया हो गया।'[23]

जो भी हो, इतना तो मानना ही होगा कि 'उर्वशी' में सौन्दर्य का बड़ा ही

व्यापक चित्र उकेरा गया है। 'गोस्वामी तुलसीदास ने सीता के सौन्दर्य को इतना व्यापक बनाया कि समूचे संसार में उसी के सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब दिखा दिया। सूफी कवि जायसी ने पद्मावती के सौन्दर्य से ही सूर्य और चन्द्रमा को दीपित बताया।'[24] 'उर्वशी' के सौन्दर्य वर्णन में भी यही व्यापकता दृष्टिगोचर होती है। उर्वशी कहती है –

'कब था ऐसा समय कि जब
मेरा अस्तित्व नहीं था ?
कब आयेगा वह भविष्य जिस
दिन मैं नहीं रहूँगी ?
कौन पुरुष जिसकी समाधि में
मेरी झलक नहीं है ?
कौन त्रिया, मैं नहीं राजती हूँ
जिसके यौवन में ?
कौन लोक, कौंधती नहीं, मेरी
ह्लादिनी जहाँ पर ?
कौन मेघ, जिसको न सेज मैं
अपनी बना चुकी हूँ ?

इसी व्यापकता के कारण सौन्दर्य जब धरातल से ऊपर उठकर आत्मा के उस धरातल का स्पर्श कर लेता है तो सीमा का कोई बन्धन नहीं जाता और उसमें देवत्व आ जाता है।

'उर्वशी' में इसी सौन्दर्य-भाव की प्रतिष्ठा की गयी है।

## टिप्पणी

1. श्रीमद्भग्वदगीता - 17वाँ संस्करण, गीता प्रेस, गोरखपुर, अध्याय 10, श्लोक सं. 41
2. सं. ज्ञानशंकर आर्य - साहित्य विभूति, वर्ष 1, अंक-1, जनवरी 1924, पृ. सं. 6
3. उर्वशी प्र. सं. उदयाचल, राष्ट्रकवि दिनकर-पथ राजेन्द्र नगर, पटना, पृ. सं. 65
4. वही, पृ. सं. 40
5. वही, पृ. सं. 59
6. वही, पृ. सं. 34
7. वही, पृ. सं. 34
8. वही, पृ. सं. 8
9. उर्वशी, पृ. सं. 16
10. प्रो. देशराज सिंह भारी – दिनकर और उनकी उर्वशी, अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-6, प्र. सं., पृ. सं. 77
11. उर्वशी, पृ. सं. 44
12. उर्वशी, पृ. सं. 44
13. वही, पृ. सं. 44.
14. उर्वशी, पृ. सं. 1
15. वही, पृ. सं. 2
16. डॉ. सतीश कुमार भार्गव – उर्वशी : एक नवीन दृष्टि, दिनमान प्रकाशन, 3014, चर्खेवालान, दिल्ली, प्र. सं., पृ. सं. 93
17. प्रो. देशराज सिंह भाटी – दिनकर और उनकी उर्वशी, अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-6, प्र. सं., पृ. सं. 80
18. उर्वशी, पृ. सं. 2.
19. उर्वशी, पृ. सं. 2.
20. उर्वशी, पृ. सं. 2.
21. उर्वशी, पृ. सं. 2.
22. उर्वशी, पृ. सं. 20.
23. सं. डॉ. त्रिभुवन सिंह – साहित्यिक निबन्ध, रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी, प्र. सं. (वचनदेव कुमार का निबंधद्ध, पृ. सं. 714.
24. प्रो. देशराज भाटी – दिनकर और उनकी उर्वशी, अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली, प्र. सं., पृ. सं. 82

❖❖❖

# प्रेमचन्द्र की परम्परा का मतलब

**चन्द्रशेखर कुशवाहा**

प्रेमचन्द्र का जन्म 31 जुलाई 1880 में हुआ था जबकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना इनके जन्म के ठीक पांच वर्ष बाद 1885 में हुई थी। यह वह काल था जब देश भर में नई राष्ट्रीयता बोध का उदय हो रहा था। प्रेमचन्द्र इस नयी राष्ट्रीयता बोध को बड़ी सजगता से आत्मसात करते हैं।

यह देश के नवाजारण का युग था। अतीत का गौरवगान, सामाजिक सुधार और राजनीतिक मुक्ति, इस आन्दोलन के स्वर थे। शुरू में प्रेमचन्द्र इन आन्दोलनों से प्रभावित होकर कहानियाँ लिखते हैं। लेकिन समय के बदलते प्रवाह के साथ उन्होंने अपने विचारों को बदला। यह बात सही है कि उनकी पूरी जिन्दगी में जितने भी आन्दोलन हुए, चाहे वे राजनीतिक हों, सामाजिक सुधार के हों, धार्मिक या साम्प्रदायिक हों या सांस्कृतिक हों, जिनसे राष्ट्र की जनता प्रभावित होकर आगे बढ़ने के लिए क्रियाशील हुई, गुलामी और पाखंड से मुक्ति पाने के लिए आन्दोलित हुई, नए जीवन की ओर उन्मुख हुई–वह सब प्रेमचन्द्र साहित्य में रचनात्मक स्तर पर रूपायित हुआ। जैसे-जैसे आदाजी की लड़ाई तेज होती गई–उसका विकास होता गया–प्रेमचन्द्र उसके साथ-साथ आगे बढ़ते चले गये, बाद में तो वे आगे निकल गये और राजनीति के आगे-आगे मशाल दिखाते हुए दिखाई पड़े। उनके सम्पूर्ण जीवन काल में जिस किसी ने उनको पढ़ा और उनको जानने का प्रयास किया–वह प्रभावित हुए बिना नहीं रहा।

इस जानकारी के बड़े प्रमाण तो गाँधीजी थे। प्रेमचन्द्र की मृत्यु पर अपनी श्रद्धांजलि प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा–''हमारा देश जब स्वाधीन होगा और जब यहां के ग्रामीण समाज, बेगारी गरीबी, शोषण और अशिक्षा से मुक्त हो जायेगा तब लोग यह कल्पना भी न कर सकेंगे कि कभी भारत का किसान और मजदूर उस हालत में रहा था। तब प्रेमचन्द्र के उपन्यास और कहानियां क्लासिक (कालजयी साहित्य) के रूप में पढ़े जायेंगे और उनसे ही पता चलेगा कि तत्कालीन समजा कैसा था।''

प्रेमचन्द्र ने अपनी कहानियों, उपन्यासों, अग्रलेखों और लेखों में भारतीय समाज को जितनी गहराई से जानने का प्रयास किया–वह अन्यत्र कहीं दिखाई नहीं पड़ता है। उनकी गहराई में पूरा सामाजिक जीवन बिम्बित होता हैं–गांवों के जीवन के सबसे निचले सिरे पर स्थित भूमिहीन किसान तथा खेतिहर मजदूर वर्ग से लेकर बड़े भूमिपति तथा जमीन्दार वर्ग के लोग अपने तमाम संबंधों के साथ उनमें दिखायी देते हैं; बीच के पात्र-बनियें, मुंशी, पंडित आदि भी अपनी सामान्य भूमिका के साथ प्रस्तुत हैं। जमीन्दारों के अमले भी हैं, सरकारी तंत्र के बहुत छोटे-बड़े कल पुर्जे भी, पुनः उनमें एक ओर कफन के घीसू और माधव जैसे अर्द्ध-सामाजिक परजीवी पात्र दिखायी देते हैं, खेतिहर मजदूर के रूप में सहसा रूपांतरित होता हुआ 'पूस की रात' का हल्कू मिलता है, आपसी विद्वेष के चलते मजदूर बन गये 'मुक्ति मार्ग' के बुद्धू और झींगुर हैं, 'दो बैलों की कथा' का मंझोला किसान झूरी है; सामाजिक स्तर पर तिरस्कृत और सामंती वर्ण व्यवस्था की शिकार 'मंदिर' की सुखिया है तो दूसरी ओर इन्हीं कहानियों में ठाकुर साहब, हैं, राय साहब हैं, चौधरी साहब हैं; गांव का बनिया है, मंदिर का पुजारी है, रामलीला का ठीकेदार है, बहुत सारे लोग उनमें हैं; सिर्फ ग्रामीण जीवन के ही नहीं, शहरों के भी–निम्न मध्यवर्ग के पात्रों से लेकर उसके ऊपरी सिरे तक के पात्र, छात्र और युवा समुदाय, नौकरी के पेशे के भीतर और बाहर के लोग, अधेड़ और बुजुर्ग; असहयोग आन्दोलन में हाथ देते हुए–मृदुला (जेल), नोहरी, (समर यात्रा), जयराम (जुलूस), उससे लाभ उठाते 'चकमा' के सेठ चंदूमल जैसे पात्र, उसे तोड़ने की कोशिश करते मोटेराम शास्त्री (सत्याग्रह) जैसे लोग; फिर इस सामंती व्यवस्था की रूढ़ियां, परम्पराओं औ प्रथाओं की शिकार कुसुम जैसी लड़कियां; आधुनिक सभ्यता के प्रभावों के बीच घिरी मिस जोशी, मिस पद्मा; अलग-अलग जाति और धर्मो के लोग–सकीना और हामिद, जेनी और पादरी मोहन दास-सभी इसमें दिखाई देते हैं और प्रेमचन्द्र इन सबको जानते है; इनके अड़ोस-पड़ोस से भी परिचित हैं, इनके दोस्तों और दुश्मनों से भी वाकिफ हैं; सिर्फ इन्हें ही नहीं बल्कि इनके पूरे पारिवारिक जीवन को, इनके आस-पास के सम्बन्धों को तथा इनके तमाम सामाजिक अंतर्विरोधों को भी पहचानते हैं।

**यू०जी०सी० नेट जे०आर०एफ०, आजाद नगर, छपरा**

इस तरह प्रेमचन्द के साहित्य में समाज के विभिन्न वर्गों के तकरीबन छः हजार पात्र हैं साथ ही सरकारी मशीनरी की एक क्रमबद्ध परम्परा भी उनमें मौजूद है। भारतीय इतिहास के पचास संघर्षपूर्ण वर्षों का यह साहित्य अपने भीतर समेटे हुए हैं। इस रूप में इसे अपने समय का वस्तुनिष्ट और प्रामाणिक इतिहास कहा जा सकता है। प्रेमचन्द्र ने रैयतवारी व्यवस्था, ग्रामीण ऋण ग्रस्तता और सूदखोरी, बैंकिंग और सबसे बढ़कर 'गोदान' में अवकाश भोगी वर्ग के बारे में जो कुछ लिखा है, उसे अपने उपन्यासों और कहानियों के पात्रों के माध्यम से समझाया है वैसा किसी अर्थशास्त्री की पुस्तक में भी नहीं देखने को मिलता है।

प्रेमचन्द्र शत-प्रतिशत सामाजिक जीव थे। सामाजिक होने के नाते ही वे समसामयिक थे; अपने समय के जीवन की समस्याओं को समझने, विसंगतियों को उजागर करने, उनके समाधान ढूंढने और समाधान पाने के लिऐ जनता के साथ-साथ आजीवन जूझते रहे थे। रूढ़ि, पाखंड, अनाचार, अत्याचार, अन्याय और शोषण के विरुद्ध उन्होंने जो आजीवन लड़ाई लड़ी, वह बाद के हिन्दी रचनाकारों में शायद ही वैसी लड़ाई लड़ने वाली कोई दिखाई पड़ा।

प्रेमचन्द्र जिस समय लिख रहे थे समाज के प्रमुख वर्ग सामन्त, महाजन और किसान थे। समज के मूलभूत कार्य इन्हीं के द्वारा सम्पन्न होते थे। स्वभाव से महाजन अभी पूंजीपति नहीं बने थे। निम्न मध्यवर्ग और मध्यवर्ग का प्रादुर्भाव हो चुका था। लेकिन प्रेमचन्द्र के कथा साहित्य के प्रमुख पात्र सामन्त और किसान ही हैं। उनकी लेखनी का अधिकांश भाग ग्रामीण समाज का है। ग्रामीण जीवन की विषमताओं, हीन अवस्थाओं, दुःखों, विपन्ननाओं, सामन्ती प्रतारणाओं और महाजनी शोषण ही उनकी रचनाओं का केन्द्रबिन्दु है। 1919 में लिखे गये अपने लेख 'पुराना जमाना : नया जमाना' और 1936 में अपनी मृत्यु के तीन सप्ताह पहले 'हंस' में लिखे गए अपने लेख 'महाजनी सभ्यता' में सामन्तवादी और पूंजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्थाओं और शोषण पर आधारित उनकी अमानवीय और पतनशील संस्कृति के अनिवार्य अन्त की घोषणा उन्होंने की थी। उन्होंने अपने समाज की सारी समस्याओं और उनके सारे अन्तर्विरोधों के हल करने की शक्ति अपनी जनता में देखी थी।

प्रेमचन्द्र ने भारतीय समाज को बहुत हद तक उसी रूप में देखा जिस रूप में 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में फांस में पनपे वाणिज्यिक पूंजीवाद और उसके ऊपरी ढांचे के विभिन्न अंगों पर होने वाले प्रभाव को बाल्जाक ने देखा था। मार्क्स ने फ्रांसीसी क्रांति के उपरान्त फांस में हुए सामाजिक, राजनीतिक आर्थिक बदलावों को जानने के लिए उसी उपन्यासकार बाल्जाक की कृतियों को पढ़ने की सलाह दी थी। उन्होंने कहा था यदि फांस के सामाजिक-आर्थिक इतिहास को जानना चाहते हैं तो बाल्जाक के उपन्यासों को पढ़िए। उन्होंने यह भी कहा था कि अर्थशास्त्रियों तथा अन्य समाज विज्ञानियों की उबाऊ रचनाओं से यथार्थ की वह समझ प्राप्त नहीं हो सकती जो बाल्काक की साहित्यिक कृतियों से मिल सकती है।

प्रेमचन्द्र के बाद, प्रेमचन्द्र की परम्परा के वाहक होने का दावा करने वाले कहानीकारों-उपन्यासकारों ने इस व्यापक जीवन के प्रवाह, इसके अतिशय विस्तृत और वैविध्यपूर्ण कैनवास को अपनी रचनाओं में शायद ही किसी ने चित्रित किया है। सामाजिक जीवन के जिस व्यापक परिवेश को, उनके अनेक संबंध-सूत्रों को, उसके बीच के अन्तर्सम्बन्ध के क्षेत्रों को, विभिन्न जाति और धर्म के लोगों को एक प्रकार का सामाजिक जीवन जीते, एक दूसरे के सुख-दुःख में शरीक होते, एक तरह से सामाजिक अन्तर्विरोधों का मुकाबला करते दिखाया है, बाद के लेखकों की रचनाओं में वैसा कुछ दिखाई नहीं पड़ता है, बल्कि वह परम्परा भी व्यापक सामाजिक जीवन को ग्रहण करने में चूक गई है। आज के लेखक, बदले समाज के सामाजिक-आर्थिक परिवेश और परिस्थिति को गहराई में जाकर समझने की कोशिश नहीं करते हैं जैसा प्रेमचन्द्र ने किया था। परम्परा का अर्थ कतई दुहराना नहीं बल्कि एक ऊँचाई पर जाकर उसे दुहराना होता है। परम्परा का अर्थ अपने समय और समाज की बदली हुई परिस्थिति को रेखांकित करना है।

## संदर्भ


1. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्ति, नामवर सिंह, पांचवा सं. 1971, लोकभारती प्रकाशन।
2. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, रामविलास शर्मा 1973, राजकमल प्रकाशन।
3. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, दि. सं. 1971, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
4. उपन्यास और लोक जीवन, राल्फ फाक्स अनुवादक, नरोत्तम नागर पहला सं. 1957, पी.पी.एच।
5. आधुनिक परिवेश और नवलेखन, शिव प्रसाद सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।


❖❖❖

हिन्दी

# तुलसी-रामायण और पम्प-रामायण में साम्य-वैषम्य

**स्वाति कुमारी**

अवधी भाषा में गोस्वामी तुलसीदास प्रणीत 'रामचरित मानस' तथा कन्नड़ भाषा में नागचन्द्र जैनरचित 'रामचरित-पुराण' दोनों ही उच्च कोटि के महाकाव्य हैं। 'रामचरित मानस' को लोग 'तुलसी-रामायण' और 'रामचरित-पुराण' को 'पंप-रामायण' भी कहते हैं। नागचन्द जैन का उपनाम 'पम्प' है। गोस्वामी तुलसीदास वैष्णव भक्त थे जबकि नागचन्द्र जैनधर्मावलम्बी थे। धार्मिक और भावनागत भिन्नता के कारण दोनों ही की रामायणों में कहीं-कहीं साम्य दृष्टिगोचर होता है तो कहीं-कहीं वैषम्य भी दिखलाई पड़ता है। किन्तु इन कारणों के अतिरिक्त कुछ और भी कारण हैं जिन पर यहाँ विस्तृत ढंग से विचार किया जा रहा है।

गंभीरतापूर्वक विचार कर देखा जाय तो ज्ञात होगा कि दोनों ही के ग्रन्थों के आधार-ग्रन्थ भी भिन्न-भिन्न हैं। इतना होते हुए भी यह बात विचारणीय है कि तुलसी रामायण दोनों ही पर संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा के समस्त वैदिक, बौद्ध[1] तथा जैन रामकाव्यों का प्रभाव न्यूनाधिक मात्रा में पड़ा है। ''वाल्मीकीय रामायण से ही मूल धन ग्रहण कर बौद्ध-जैन कवियों ने अपने राम-काव्यों में अपने-अपने धर्मों का सार-धन जोड़ दिया है। प्राकृत कवि विमल सूरि ''पउम चरिय'' में ''रामचरित'' को इसी ढंग का जैन धार्मिक रूप प्रदान करते हैं। पम्प रामायण इसी प्राकृत कृति का संक्षिप्त रूप है।[2] विमल सूरि प्रणीत ''पउम चरिउ'' रविषेण-रचित ''महा-पुराण'', हेमचन्द्र कृत ''जैन रामायण'' देवविजय गुणि लिखित ''रामचरित'', गुणभद्राचार्य विरचित ''उत्तर पुराण''[3] चाखुण्डराय-कृत ''चाखुण्डराय पुराण'' आदि में जो राम-कथा आयी है, उसी का समवेत सारांश पम्प रामायण है। तुलसीकृत ''रामचरित मानस'' पर वाल्मीकीय रामायण, अद्‌भुत रामायण, आश्चर्य रामायण, आनन्द रामायण, प्रसन्न राघव, हनुमान्नाटक आदि का प्रभाव परिलक्षित होता है। माता प्रसाद गुप्त ने ठीक ही कहा है कि तुलसी वाल्मीकीय रामायण तथा आध्यात्म रामायण से बहुत कम हटते हुए दिखाई पड़ते हैं।[4] पम्प रामायण के अध्ययन से विदित होता है कि नामचन्द्र अभिव्यंग्य तथा अभिव्यंजना-विधान में प्रधानतः विमल सूरि तथा रविषेण से बहुत अधिक प्रभावित हैं।[5] इसमें सन्देह नहीं कि वस्तु क्षेत्र में नामचन्द्र विमल सूरि के विनय शिष्य हैं[6], जबकि गोस्वामी तुलसीदास इस क्षेत्र में किसी शिष्यत्व नहीं स्वीकारते। इन्हीं सब कारणों से तुलसी-रामायण और पम्प रामायण में कतिपय मूलभूत साम्यवैषम्य दृष्टिगोचर होते हैं।

दोनों ही ग्रन्थों में भूलभूत साम्य यह है कि दोनों ही कृतियाँ मूलतः वाल्मीकीय रामायण पर आधृत हैं।[7]

संस्कृत की अन्य राम-कथाओं का भी प्रभाव इन दोनों ग्रन्थों पर दिखाई पड़ता है। दोनों ही ग्रन्थों में अवतारी पुरुष श्री राम के जीवन की कथा है। दोनों ग्रन्थों में मानवता के मूल सिद्धान्तों का तात्विक विवेचन क्रमशः वैदिक धर्म तथा जैन धर्म के आधार पर किया गया है।

तुलसी रामायण के दशरथ, जनक, राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुध्न, हनुमान, सुग्रीव आदि वैदिक धर्म के अनुयायी हैं, तो पम्प रामायण के सभी पात्र जैन मतावलंबी हैं। यहाँ तक कि रावण भी जैन धर्म का ही अनुयायी है। हिन्दू धर्म की प्रतिनिधि रचना ''रामचरित मानस'' के अन्तर्गत रामभक्ति की भावना आदि से अंत तक है तो रामचन्द्र चरित पुराण में जिन - भक्ति की भावना आद्योपान्त दृष्टिगोचर होती है। दोनों ही ग्रन्थों में भक्ति, कर्म-सिद्धान्त विधि-विलास, धर्म-विजय आदि बातें लगभग एक जैसी कही गयी हैं।

जहाँ तक मूलभूत वैषम्य की बात है, यद्यपि दोनों ही ग्रन्थों में भक्ति की भावना है, तथापि दोनों ही की भक्ति-भावना के स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं। यदि गोस्वामी तुलसीदास रचित ''रामचरित मानस'' को रामभक्ति का मानसरोवर मान लिया जाय, तो नागचन्द्र लिखित पम्प रामायण को जिन-भक्ति की एक उपधारा कहना अधिक उचित होगा। सम्पूर्ण पम्प रामायण में केवल जैन-भक्ति-भावना की धारा प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है, जबकि ''रामचरित मानस'' में विष्णु के

**एम0 ए0 (हिन्दी), रीसर्च स्कॉलर**

अवतार श्री राम की भक्ति तथा देवादिदेव भगवान शिव की भक्ति के साथ-साथ अन्यान्य देवताओं के प्रति भी भक्ति की भावना दर्शायी गयी है तथा ज्ञान एवं योग-साधना की भी बात कही गयी है। पम्प-रामायण के अन्तर्गत हम समन्वय की वह भावना नहीं देखते जो भावना हमें ''रामचरित मानस'' में दिखाई पड़ती है। ''रामचरित मानस'' में के राम समस्त चरचर जगत के स्वामी, साक्षात् परब्रह्म और विष्णु के अवतार हैं, जबकि पंप रामायण के राम अवतारी पुरुष या परब्रह्म ने होकर जिन के भक्त हैं।[8] तुलसी रामायण में राम के हाथों रावण का वध होता है, जबकि पम्प रामायण में राम द्वारा रावण का वध नहीं दिखाया जाकर लक्ष्मण द्वारा उसका वध दिखाया गया है। जहाँ तुलसी का रामत्व ब्रह्म पदांचित है वहाँ नागचन्द्र का रामत्व जिनत्वाश्रित तथा नरत्वमात्र है।

इस प्रकार 'तुलसी-रामायण' और 'पम्प-रामायण' में उपर्युक्त साम्य-वैषम्य दृष्टिगोचर होते हैं। दोनों ही रामायणों का अपना पृथक्-पृथक् महत्त्व है।

## सन्दर्भानुक्रम -


1. The Jatak: Tr. rousel, vol. 4, page no. 72.
2. डॉ० सरगु कृष्णमूर्ति: तुलसी रामायण और पम्प रामायण, प्रथम, संस्करण, हिन्दी-साहित्य-भंडार, लखनऊ, पृ0 सं0 16.
3. श्री आर0 यन0: कर्णाटक कवि चरित, तीसरा भाग, पृ0 सं0 150.
4. डॉ0 माता प्रसाद गुप्त: तुलसीदास, पं0 सं0 हिन्दी परिषद् प्रकाशन, हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, पृ0 सं0 331.
5. Catague of Sanskrit and Prakrit manuscripts in C.P. and berar introduction' xxi
6. श्री सी0 पी0 कृष्ण कुमार: नागचन्द्र, प्र0 सं0, पृ0 सं0 50.
7. रामचन्द्र रंगनायम्: रामचन्द्र चरित पुराण तथा रामचरित मानस का पौराणिक आधार, प्र0 सं0, दिगम्बर प्रकाशन, मद्रास, पृ0 सं0 34.
8. श्री डी0 वी0 शेषगिरि राव: नागचन्द्र काव्यगल, पृ0 सं0 27.


❖❖❖

# हिन्दी पत्रकारिता में गिरते भाषायी स्तर की प्रवृत्तियों का अध्ययन

**शशि प्रकाश राय**

## भूमिका

भूमण्डलीकरण के दौर में उदार आर्थिक नीतियों को अपनाते हुए देश को वैश्वीकरण की उस धारा में बहने की खुली छूट दे दी गयी, जिस धारा में पाश्चात्य जगत काफी पहले से बहकर अपने पुराने आवरण को त्यागकर नया लिवास धारण कर चुका था। इस लिबास के अनेक सकारात्मक और नकारात्मक पहलू हैं। उदारीकरण और वैश्वीकरण की नीतियों के परिणामस्वरूप भारत में भी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर कई क्रांतिकारी बदलाव हुए।

इन परिर्वतनों में एक खास परिवर्तन देश के साक्षरता दर में हुई वृद्धि है। जनमाध्यमों ने भी समय की जरूरतों और मांग के अनुसार खुद को बदला है और बदलाव की यह प्रकिया लगातार जारी है। इन दो दशकों में हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में अभूतपूर्व परिवर्तन दृष्टिगत हुए हैं। वर्ष 1995 के बाद केबल टीवी और निजी चैनलों के आगमन का असर भी हिन्दी पत्रकारिता पर खासतौर पर पड़ा। इस दौरान तकनीकी क्रांति भी अभूतपूर्व रही। हिन्दी के नए-नए न्यूज चैनल्स वजूद में आने लगे। उन पर 24 घंटे खबरें प्रसारित की जाने लगी। इस तरह हिन्दी पत्रकारिता ने देश के उन सात हिन्दी भाषी प्रदेशों में सफलता के नए आयाम गढ़े हैं और बहुत हद तक अपनी जिम्मेदारियों को निभाया भी है। लेकिन इसके बावजूद पिछले कुछ समय से हिन्दी पत्रकारिता में भाषा के स्तर को लेकर एक नई बहस छिड़ी हुई है। बहस इस बात को लेकर हो रही है कि हिन्दी पत्रकारिता में भाषायी गिरावट हो रही है।

पत्रकारिता की भाषा मानक हिन्दी भाज़ा से दूर होती जा रही है और उसमें एक बनावटीपन आ गया है। इस भाषा को एक सस्ती और बाजारू भाषा के तौर पर देखा जा रहा है। इस भाषायी गिरावट के लिए कभी बाजार तो कभी हिन्दी भाषी पत्रकारों को जिम्मेदार ठहराया जा रहा है।

आलोचकों को हिन्दी पत्रकारिता में उर्दू, फारसी, इंग्लिश या किसी अन्य भारतीय भाषाओं के लोकप्रिय शब्दों के प्रयोग पर एतराज है और वे इसका पुरजोर विरोध करते हैं। वे इसे हिन्दी के लिए एक बड़ा खतरा मानते हैं। इसके विपरीत हिन्दी के प्रगतिशील लेखक, विचारक और साहित्यकार हिन्दी पत्रकारिता के वर्तमान भाषा और स्वरूप से पूरी तरह संतुष्ट दिख रहे हैं। वे हिन्दी पत्रकारिता में इंग्लिश या किसी दूसरी भारतीय भाषा के जनप्रिय शब्दों का प्रयोग करना गलत नहीं मान रहे हैं बल्कि भाशा के इस संक्रमण से उन्हें हिन्दी का ही फायदा नजर आ रहा है। उनका मत है कि इससे हिन्दी आम जन की भाषा बन रही है। इसके साथ ही यह बाजार और रोजगार की भाषा बन रही है। ऐसे में इस समस्या का अध्ययन करना प्रासंगिक जान पड़ता है।

## शोध का उद्देश्य

* हिन्दी पत्रकारिता में हो रही भाषायी गिरावट के स्वरूप का अध्ययन करना।
* हिन्दी पत्रकारिता में भाषायी गिरावट के पीछे के कारणों का पता लगाना।

## शोध प्रविधि

इस शोधा समस्या के अध्ययन के लिए गहन अध्ययन विधि का प्रयोग किया गया है। जो एक गुणात्मक अध्ययन विधि है। इसमें शोध समस्या के बारे में गहन साक्षात्कार के माध्यम से समस्या के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया गया है।

**शोधार्थी, माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय, भोपाल**

## समग्र एवं निदर्शन

**समग्रः** इस अध्ययन में समग्र के रूप में पत्रकारिता जगत के स्तंभ पत्रकारों और संपादकों को धामिल किया गया है।

**निदर्शनः**

उद्देश्यपूर्ण निदर्शन(Purposive sampling)

साक्षात्कार के लिए उद्देश्यपूर्ण निदर्शन विधि के माध्यम से इकाई का चुनाव किया गया है। जब शोध समस्या की प्रकृति वैशेषिक होती है तब निदर्शन के लिए उद्देश्यपूर्ण निदर्शन विधि का प्रयोग किया जाता है, क्योंकि यह शोध समस्या विशेष प्रकार की है। जहां विषय विशेषज्ञों के साक्षात्कार की जरूरत थी। इस अध्ययन के लिए उद्देश्यपूर्ण निदर्शन विधि से इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में कार्यरत प्रतिष्ठित पत्रकार शान्तनु श्रीवास्तव, नवीन कुमार और प्रिंट मीडिया से आउटलुक हिन्दी के संपादक नीलाभ मिश्र, दैनिक हिन्दुस्तान के वरिष्ट पत्रकार प्रताप सोमवंशी का चयन किया गया है।

## अधययन का विवेचन

पत्रकारिता में प्रयोग की जाने वाली भाषा आम बोलचाल की भाषा है क्योंकि पत्रकारिता का लक्ष्य आमजन को संबोधित करना होता है। बोलचाल की भाषा का प्रचलन बढ़ा है और हिन्दी हिंग्लिश हो गई है। देशज तथा लोकल भाषा का चलन तेजी से बढ़ रहा है। पत्रकारिता की हिन्दी ने साहित्य या बुद्धिजीवी वर्ग की शुद्ध या संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के आवरण को उतार फेंका है। उसने वैसी हिन्दी का लिबास ओढ़ लिया है जो आम जन के समझ में आने वाली भाषा हो। इसके लिए हिन्दी ने इंग्लिश, उर्दू और फारसी के अलावा अन्य भारतीय भाषाओं के उन लोकप्रिय शब्दों को भी अपना लिया है जो अब हिन्दी भाषियों के जुबान पर रच-बस गया है।

शान्तनु श्रीवास्तव का कहना है कि पत्रकारिता की भाषा साहित्य की भाषा नहीं होती। साहित्य एक विशेष लक्ष्य समूह के लिए लिखा जाता है, जबकि समाचारपत्र आम जन को लक्षित कर प्रकाशित किए जाते हैं। ऐसे में पत्रकारिता पर यह आक्षेप लगाना तर्कसंगत नहीं है।

यह बदलाव पत्रकारीय भाषा के जनोन्मुखी होने का परिणाम या प्रतिफल है। किसी भी भाषा की जड़ें उस भाषा के बोलने वाले लोगों के सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक विरासत में छुपी होती है। जब किसी समाज के इन तीन तत्वों में बदलाव या परिर्वतन की बयार चलती है तो उसका असर उस समाज द्वारा बोले जाने वाली भाज़ा पर भी समान रूप से पड़ता है।

नीलाभ मिश्र ने बताया कि मीडिया समाज का प्रतिबिंब है और वह अपने पाठक या दर्शक से अपना संवाद उसी भाषा में करता है जो लोगों द्वारा आसानी से समझी और बोली जाती हो। हिन्दी के साथ भी कुछ ऐसा ही है। समय के अनुसार हिन्दी ने खुद को बदला है और ढाला है। यह बदलाव समय सापेक्ष है। इससे हिन्दी फल-फूल रही है। हिन्दी अपने देश की सीमा लांघ कर विदेशों तक पहुंच रही है। यह आज गैर हिन्दी भाषियों को अपनी ओर आकर्षित कर रही है और कहीं न कहीं इस बदलाव से हिन्दी ज्यादा सरल और आकर्षक बन कर उभरी है।

वर्तमान दौर में बाजार के दबाव ने पत्रकारिता में आमूल-चूल परिवर्तन किया है। भाषा का भी बाजारीकरण हुआ है। जैसे-जैसे मीडिया का चरित्र बदल रहा है यह एक बाजारू उत्पाद के रूप में तब्दील होता हुआ दिख रहा है। इसका लक्ष्य उपभोक्ताओं को आकर्षित करना है। हालांकि अगर हिन्दी भाषा के दृष्टि से देखा जाए तो यह उचित नहीं है। पत्रकारिता में आयी इस भाषायी गिरावट के लिए कहीं न कहीं अल्पज्ञान वाले नौसिखिए पत्रकार भी जिम्मेदार हैं। इस भाषायी गिरावट ने मानक हिन्दी भाषा के स्वरूप में भी बदलाव का सृजन किया है और इस गिरावट से हिन्दी पूरी तरह प्रभावित दिख रही है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि पत्रकारिता में हिंग्लिश के चलन को रोका जाए। मानक हिन्दी भाषा के सरलीकरण पर जोर दिया जाए, क्योंकि उधार, उधार ही होता है और अपना, अपना ही होता है।

भाषायी समृद्धि के लिए हिन्दी के साहित्यकारों को आगे आने की जरूरत है। उन्हें अपनी साहित्यिक सृजनात्मकता में सरल शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।

अगर मानक शब्दों का प्रयोग प्रासंगिक और जरूरी हो तो शब्द प्रयोग के साथ उसे आम बोलचाल की भाषा में स्पष्ट करने का प्रयास करना चाहिए जिससे पाठक को उसे समझने में सहजता हो। हिन्दी भाषा में सरल शब्दों के प्रयोग को बढ़ावा देना चाहिए। यह बदलते दौर की मांग है कि अन्य भाषायी शब्दों का भी हिन्दीकरण किया जाए।

वहीं प्रताप सोमवंशी ने बताया कि समाचार पत्रों की भाषा में हो रहा बदलाव आज की आवश्यकता है क्योंकि तकनीकी विकास ने लोगों की जीवन शैली में व्यापक परिवर्तन किया है। आज भारत की आबादी में युवा बहुसंख्यक हैं उनकी आवश्यकताएं और बढती प्रतिस्पर्धा ने पठनीयता की प्रवृत्ति को तेजी से बदला है। ऐसे में कम

समय में खबरों की संप्रेषणीयता अखबार के लिए एक चुनौती है। वहीं इलेक्ट्रानिक मीडिया से मिल रही प्रतियोगिता भी इसके पीछे एक महत्वपूर्ण कारक साबित हो रही है।

**निष्कर्ष:-** हिन्दी पत्रकारिता में भाषायी बदलाव का मुख्य कारण बदलते सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक परिर्वतन का परिणाम है। पत्रकारिता वैसी भाषा का प्रयोग अपने संप्रेषण में करता है जो आम लोगों के लिए बोधगम्य हो। पत्रकारिता की भाषा साहित्य की भाषा नहीं होती। साहित्य एक विशेष लक्ष्य समूह के लिए लिखा जाता है जबकि समाचारपत्र आम जन को लक्षित कर प्रकाशित किए जाते हैं। भाषायी समृद्धि के लिए हिन्दी के साहित्यकारों को आगे आने की जरूरत है। उन्हें अपनी साहित्यिक सृजनात्मकता में सरल शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। हिन्दी भाषा में सरल शब्दों के प्रयोग को बढ़ावा देना चाहिए। यह बदलते दौर की मांग है कि अन्य भाषायी शब्दों का भी हिन्दीकरण किया जाए। क्योंकि उधार, उधार ही होता है और अपना, अपना ही होता है। पत्रकारिता का लक्ष्य आमजन को संबोधित करना होता है। इसमें बोलचाल की भाज़ा का प्रचलन बढ़ा है और हिन्दी हिंग्लिष्ठा हो गई है। देष्ठाज तथा लोकल भाषा का भी चलन तेजी से बढ़ रहा है। बाजार के सामने भाषा की शुद्धता के बजाए नए-नए उपभोक्ताओं की तलाश और पहचान कर उन तक अपना उत्पाद बेचेने का लक्ष्य है।

बाजार की जरूरत एक ऐसी हिन्दी भाषा की है जो सामान्य हिन्दी भाषियों के साथ-साथ देश में तेजी से उभर रहे उन मध्यमवर्गीय परिवारों की भी भाषा हो जिनके पास अपार क्रयशक्ति है। भाषायी परिवर्तन आज समय की मांग है परन्तु बदलाव इतना न किया जाय कि हम अपनी पहचान ही भूल जाएं। आज कहीं न कहीं ऐसा लग रहा है कि हिन्दी भाषा अपनी पहचान को खो रही है। इसलिए जरूरत है कि हिन्दी को समृद्ध और सरल बनाया जाय।

## संदर्भग्रंथ


हिन्दी पत्रकारिता का बदलता स्वरूप, श्रवण कुमार, ओमेगा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2009

पत्रकारिता के विविध आयाम, डॉ यू सी गुप्ता, अर्जून पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2012

मीडिया के रूझान, योजना, मई 2009

पत्रकारिता के नये परिप्रेक्ष्य, राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005


❖❖❖

# काम के दौरान पत्रकारों में तनाव का अध्ययन

## (दिल्ली एवं एनसीआर से प्रकाशित प्रमुख अखबार एवं चौनलों के विशेष संदर्भ में)

**अनिल निगम**

संप्रति, मीडिया को लोकतंत्र का चौथा स्त्तंभ कहा जाता है। आम आदमी के समक्ष सूचना प्राप्त करने का सबसे बड़ा माध्यम मीडिया है। बिना मीडिया के व्यक्ति सूचनाविहीन हो जाएगा। यही नहीं, समाज और राष्ट्र निर्माण में मीडिया की महती भूमिका से हम इनकार नहीं कर सकते। सूचना प्राप्त करने का मुख्य स्रोत अखबार, पत्रिकाएं, रेडियो, टीवी चौनल और न्यू मीडिया हैं। पाठकों, श्रोताओं और दर्शकों को सबसे पहले खबरें परोसने की गलाकाट प्रतिस्पर्धा इन माध्यमों के बीच छिड़ी हुई है। इसी प्रतिस्पर्धा का सकारात्मक परिणाम यह है कि पाठकों को रोचक, मनोरंजक और ज्ञानवर्धक गुणात्मक समाचार मिल रहे हैं, लेकिन इसका नकारात्मक पहलू यह है कि इन मीडिया माध्यमों में काम करने वाले पत्रकार तनाव का शिकार होकर बीमार भी हो रहे हैं।

इस तथ्य के मद्देनजर इस शोध लेख में दिल्ली-एनसीआर से प्रकाशित और ब्रॉडकास्ट होने वाले समाचार-पत्रों और न्यूज चौनलों में कार्यरत पत्रकारों में बढ़ते दबाव का अध्ययन किया गया है। अध्ययन में इस क्षेत्र में कार्यरत 30 से 45 आयु वर्ग के 1000 पत्रकारों में 100 का चयन (रैंडम सैंपलिंग के आधार पर) किया गया। एक प्रश्नावली के माध्यम से इस तथ्य की खोज की गई कि पत्रकारों में तनाव के क्या कारण हैं? अध्ययन को अधिक यथार्थपरक बनाने के लिए कुछ वरिष्ठ पत्रकारों और चिकित्सकों का साक्षात्कार भी किया गया। अध्ययन में पाया गया कि पत्रकारों में तनाव बढ़ रहा है। इसके कारण वे विभिन्न प्रकारण की बीमारियों की चपेट में आ रहे हैं। आर्थिक असुरक्षा, अनियमित दिनचर्या, बिना अवकाश के काम करने, श्रम कानूनों की अवहेलना इत्यादि तनाव के प्रमुख कारक निकल कर आए हैं। सभी कार्यरत पत्रकारों का मानना है कि पत्रकारों के तनाव को कम करने के लिए अविलंब ठोस सकारात्मक उपाय करने की आवश्यकता है।

### शोध का उद्देश्य एवं उसकी सीमाएं–

1. दिल्ली व एनसीआर में प्रमुख समाचार-पत्रों और चौनलों में कार्यरत पत्रकारों में काम के दौरान होने वाले तनाव का अध्ययन करना
2. तनाव के कारणों का परीक्षण करना
3. तनाव के कारण पत्रकारों के स्वास्थ्य और परिवार पर पड़ने वाले दुष्परिणाम का अध्ययन करना
4. पत्रकारिता के पेशे में कार्यरत पत्रकारों में अन्य पेशों की तुलना में तनाव के स्तर का परीक्षण एवं अध्ययन
5. पत्रकारों के तनाव को कम करने के लिए किए जाने वाले उपायों का परीक्षण करना
6. शोध के निष्कर्ष दिल्ली व एनसीआर स्थित प्रमुख अखबारों और चौनलों में कार्यरत पत्रकारों के बीच किए एक सर्वे पर आधारित है। इसलिए ये संपूर्ण देश के शहरों पर लागू नहीं होते।
7. सर्वे 20 दिनों में 1 से 20 जुलाई 2015 के बीच किया गया
8. समय और संसाधनों के अभाव में सर्वे को संपूर्णता के करीब नहीं पहुंचाया जा सका।

### साहित्य सर्वेक्षण–

वर्ष 2015 में पियु रिसर्च सेंटर द्वारा किए गए अध्ययन में इस तथ्य की खोज की गई कि सोशल मीडिया, मोबाइल फोन और इंटरनेट के प्रयोग से क्या लोगों को तनाव हो रहा है? इसके लिए 1, 801 वयस्कों के बीच सर्वे किया गया। प्रत्येक उत्तरदाता से 10 सवाल यह जानने के लिए पूछे गए कि

**एसोसिएट प्रोफेसर, आईएमएस, गाजियाबाद**

तनाव के चलते उनको किस तरह की जटिलताओं से गुजरना पड़ता है। उनसे यह भी बात की गई कि उनको किस तरह के मनोवैज्ञानिक और शरीरिक बीमारियों से जूझना पड़ता है। इसमें लोगों में तनाव होने के कई कारकों का पता चला। तनाव के कारकों में बेरोजगारी के चलते आर्थिक अनिश्चितता, जीवन साथी का साथ न रहना इत्यादि शामिल हैं। हालांकि यह तथ्य सिद्ध नहीं हो सका कि लोग नई तकनीक या इंटरनेट का प्रयोग करने से तनाव का शिकार हो रहे हैं।

18 मई 2015 को हफिंगटन पोस्ट में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार, पत्रकारिता और ट्रामा का अध्ययन करने वाली मनोविज्ञान विषय की प्रोफेसर एलाना न्यूजमैन का कहना है, "प्राकृतिक आपदाओं और युद्ध का कवरेज करने वाले पत्रकार ही अभिघातक तनाव का शिकार नहीं होते बल्कि लगभग सभी पत्रकारों को तनाव झेलना पड़ता है।" इसमें उनको पत्रकारों ने बताया कि जब किसी कार, ट्रेन का हादसा हो जाता है या किसी की हत्या कर दी जाती है अथवा आतंकी हमला होता है तो फोटो और वीडियो शूट करने वाले फोटो पत्रकारों, वीडियो एडीटर्स और स्वतंत्र पत्रकारों को भारी तनाव से गुजरना पड़ता है। पत्रकार अपने बारे में सूचनाएं देने के इच्छुक नहीं रहते। पत्रकारों के मानसिक स्वास्थ्य के बारे में विशेष आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। इस विषय पर शोध का कार्य 1990 के दशक में शुरु हुआ। वर्ष 2001 के एक अन्य अध्ययन में पाया गया कि 85 फीसदी पत्रकारों को काम के दौरान तनाव से गुजरना पड़ता है। एक अन्य अध्ययन से पता चलता है कि अपने कैरियर में काम के दौरान 20 फीसदी लोग अवसाद की चपेट में आ जाते हैं।

एनसीबीआई रिसोर्स ने 2014 में पुर्तगाल में टीवी, रेडियो और अखबारों में कार्यरत 211 पत्रकारों का अध्ययन किया। पत्रकारों में तनाव का पता करने के लिए साईकोलॉजिकलरिस्क स्केल (पीआरएस) पद्धति का प्रयोग किया गया। अध्ययन से पता चला कि काम के दौरान सभी पत्रकारों को तनाव का सामना करना पड़ता है। लेकिन अन्य पेशेवरों की तुलना में पत्रकारों को तनाव कम झेलना पड़ता है। इस दौरान यह भी पता चला कि पत्रकारों के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल असर इस बात पर निर्भर करता है कि उनको काम के दौरान किस तरह का और कितना जोखिम उठाना पड़ता है।

## शोध पद्धति-

उद्देश्यों के मद्देनजर गुणात्मक एवं मात्रात्मक शोध पद्धति का प्रयोग किया गया। अपेक्षित सूचना प्राप्त करने के लिए वृहद प्रश्नावली तैयार कर उत्तरदाताओं को ई-मेल द्वारा प्रेषित कर दी गई। प्रश्नावली को इस प्रकार तैयार किया गया, जिसमें विशिष्ट प्रश्नों के साथ-साथ उत्तरदाताओं के बारे में सांख्यिकीय और मनोवृत्तिपरक जानकारी हासिल की जा सके। सांख्यिकीय जानकारी में उत्तरदाताओं की आयु, लिंग, शिक्षा, अनुभव और पारिवारिक आय को शामिल किया गया, जबकि अन्य कारकों में पत्रकारिता में काम के दौरान आने वाले दबाव और तनाव, नियोक्ताओं द्वारा श्रम कानूनों का उल्लंघन और उसके दुष्परिणामों के सबंध में उनके नजरिया को शामिल किया गया है।

चूंकि सर्वेक्षण का क्षेत्र दिल्ली-एनसीआर के प्रमुख समाचार-पत्र और चौनल हैं। इसलिए यहां के 1000 पत्रकारों में 100 का चयन सर्वेक्षण के लिए सैंपल के तौर पर किया गया। सर्वेक्षण में 30 से 45 आयु वर्ग के पत्रकारों को शामिल किया गया। उत्तरदाताओं का न्यूनतम अनुभव 5 वर्ष और अधिकतम 20 वर्ष का था।

## तनाव (Stress) का तात्पर्य-

वरिष्ठ फिजीशियन डॉ० जी०सी० वैष्ण्व के अनुसार, तनाव स्वतरू प्रेरित समस्या है। इसका कारक कोई अन्य होता है। जब मानव की दिनचर्या नियमित नहीं होती और काम का दबाव अत्यधिक बढ़ जाता है अथवा उसके जीवन में कोई ऐसा हादसा हो जाता है, जिससे उसका आत्मविश्वास डगमगा जाता है तो व्यक्ति तनाव का शिकार हो सकता है। तनाव दो तरह का होता है-सकारात्मक और नकारात्मक। सकारात्मक तनाव से कोई नुकसान नहीं होता लेकिन नकारात्मक तनाव खतरनाक होता है। हमारे दिमाग की गति और याददाश्त किसी भी कंप्यूटर की तुलना में बहुत तेज होती है। अगर व्यक्ति भूतकाल के बारे में सोचता है तो वह अवसाद विकार से ग्रस्त हो जाता है और अगर वह भविष्य के बारे में अत्यधिक सोचता है तो इससे उसे दुष्चिंता विकार हो जाता है। जब वह सोने की कोशिश करता है तो उसका दिमाग अवचेतन अवस्था में चला जाता है। सर्वप्रथम उसकी नींद गायब हो जाती है। इसके चलते मानव के शरीर में एसटिरॉयड्स इकट्ठा होने लगता है। इससे व्यक्ति पर बीमारी आसानी से हमला कर सकती है। तनाव के चलते व्यक्ति अर्थराइटिस, सांस लेने में तकलीफ, मधुमेह, उच्च रक्तचाप, अवसाद इत्यादि बीमारियों की चपेट में आ जाता है।

## परिणाम एवं परीक्षण-

सर्वेक्षण में पुरुष और महिला दोनों ही वर्ग के लोगों को शामिल किया

गया। इसमें 65 पुरुष और 35 महिला पत्रकार शामिल थे। अध्ययन में जिनको शामिल किया गया, उनमें 48 फीसदी पत्रकार अखबारों से और 52 प्रतिशत टीवी न्यूज चैनल थे। इनमें से 70 फीसदी पत्रकार रिपोर्टिंग या इनपुट में और 30 प्रतिशत डेस्क अथवा आउटपुट में कार्यरत थे। सभी पत्रकारों की मासिक आय 30,000 रुपये या उससे अधिक प्रतिमाह थी। इनमें 10 फीसदी पत्रकार ऐसे थे जिनकी मासिक आय एक लाख रुपये से ज्यादा थी।

पत्रकारों से प्रश्नावली के माध्यम से पूछे गए सवालों और वैयक्तिक साक्षात्कार के आधार निमनलिखित तथ्य प्रकाश में आए-

सभी 100 पत्रकारों ने इस बात को स्वीकार किया कि काम के दौरान उनको तनाव की स्थिति से गुजरना पड़ता है। इनमें से 80 फीसदी पत्रकार ऐसे पाए जो किसी न किसी बीमारी से ग्रस्त हैं। 59 प्रतिशत लोग अवसाद, मधुमेह, अर्थराईटिस, उच्च रक्तचाप, इनसोमनिया (नींद न आना), दुष्चिंता विकार (एंजाइटी), फोबिया इत्यादि बीमारियों की चपेट में आ चुके थे (देखें सारिणी नंबर-2)। तनाव का सबसे बड़ा कारक पत्रकारों के अंदर आर्थिक सुरक्षा का भाव है। नौकरी खोने का भय पत्रकारों के मन मस्तिष्क में हमेशा बना रहता है। यही कारण है कि औपचारिक तौर पर काम के घंटे तय होने के बावजूद पत्रकार मानसिक तौर पर हमेशा काम पर होता है। 90 फीसदी पत्रकारों ने माना कि काम के दौरान नौकरी खोने का खतरा मंडराता रहता है। राष्ट्रीय हिंदी समाचार-पत्र दैनिक जागरण के स्थानीय संपादक मुकेश भूषण का कहना है, "अगर पत्रकारों का बॉस कोई अयोग्य व्यक्ति होता है तो वह खुद को सुरक्षित रखने के लिए योग्य व्यक्तियों को परेशान करता रहता है।"

श्रम विभाग द्वारा तय मानकों के अनुसार पत्रकारों के लिए काम के घंटे तय हैं। मसलन अगर सप्ताह में पांच कार्य दिवस हैं तो आठ घंटे और अगर पांच कार्य दिवस हैं तो नौ घंटे काम करना चाहिए। लेकिन सौ फीसदी पत्रकारों ने स्वीकार किया कि किसी भी चौनल या अखबार का नियोक्ता इन नियमों का पालन नहीं करता। जहां डेस्क पर कार्यरत पत्रकारों को 10 से 11 घंटे काम करना पड़ता है, वहीं रिपोर्टरों को 12 से 14 घंटे तक काम करना पड़ता है (देखें सारिणी नंबर-1)। सहारा समय चौनल में कार्यरत विशेष संवाददाता आलोक द्विवेदी का कहना है, "घर से निकलते ही पत्रकार पर काम का दबाव शुरु हो जाता है। दबाव का सिलसिला एसाइनमेंट डेस्क से चालू होता है और इनपुट एवं आउटपुट डेस्क इस दबाव को बढ़ा देती हैं। चूंकि हर खबर समयबद्ध है, इसलिए खबर को समय से फाइल करने के लिए पत्रकार पर कई स्तरों पर दबाव बनाया जाता है।" हालांकि आलोक यह भी मानते हैं कि इस दबाव के चलते दर्शकों को लाभ होता है। इसके कारण लोगों को खबरें गुणात्मक और समय से प्राप्त होती हैं।

अखबारों और चैनलों में अवकाश तय होने के बावजूद पत्रकारों को छुट्टियां बहुत कम मिल पाती हैं। उनको दिवाली, दशहरा, होली इत्यादि में भी बिना अवकाश के लगातार काम करना पड़ता है। कई बार उनको साप्ताहिक अवकाश में भी बुला लिया जाता है। आईबीएन 7 चौनल के एडीटर (इंवेस्टीगेशन) श्री आलोक वर्मा को वर्ष 2012 में काम के दौरान ही हृदयाघात हुआ था। श्री वर्मा का कहना है, "एसाइनमेंट और आउटपुट डेस्क में कुछ ऐसे लोग बैठे हैं, जिन्हें जमीनी हकीकत का ज्ञान नहीं है, इसलिए वे पत्रकारों को बिना सोचे समझे हांकते रहते हैं।" जबकि श्री मुकेश भूषण कहते हैं, "हिंदी अखबारों के मालिक अंग्रेजी अखबारों से प्रभावित हैं जबकि वे जमीनी दुश्वारियों से वाकिफ नहीं हैं। उनके पास अनुभव और ठोस कार्ययोजना की कमी है। वे अखबार की तुलना तो न्यूयॉर्क टाइम्स से करते हैं लेकिन वे मानव संसाधन में निवेश और अन्य गुणात्मक सुधार करने पर ध्यान नहीं देते।" उनका यह भी मानना है कि कई बार सीमित दबाव गुणात्मक सुधार के लिए अच्छा भी होता है।

पत्रकारों में तनाव की एक अन्य प्रमुख वजह शिफ्टों में काम करने के कारण उनकी अनियमित दिनचर्या है। जो पत्रकार शिफ्टों में काम करते हैं, उनकी ड्यूटी का समय बदलता रहता है। लेकिन जो फील्ड में काम करते हैं, उनके काम की समयावधि बढ़ जाती है। इसलिए उनके खाने-पीने, सोने-जागने और व्यायाम का कोई समय नहीं है। इसका सीधा असर उनके दिमाग और स्वास्थ्य पर पड़ता है। वरिष्ठ पत्रकार वर्षा सिंह कहती हैं, "अखबारों और चैनलों में पत्रकारों की संख्या लगातार घट रही है। इसलिए कार्यरत पत्रकारों को अवकाश के दिनों में भी बुला लिया जाता है। शिफ्ट बदलते रहने और बिना ब्रेक के काम करने से उनका तनाव और दबाव में रहना स्वाभाविक है।" डॉ० जी०सी० वैष्णव का कहना है कि दिनचर्या अनियमित होने के कारण पत्रकार विभिन्न बीमारियों की चपेट में आ रहे हैं।

52 फीसदी पत्रकारों का मानना है कि पत्रकारों के पास तनख्वाहें और अन्य सुविधाएं कम हैं। उनमें तनाव की

अन्य वजह विलंब से होने वाली प्रोन्नतियां भी हैं (देखें, सारिणी नंबर-3)। ज्यादातर अखबारों ने मजीठिया वेतन आयोग की सिफारिशों को लागू करने से इनकार कर दिया है। चैनलों में भी उच्च पदों पर तैनात पत्रकारों को छोड़कर वेतन का पैकेज संतोषजनक नहीं है। उनको प्रोन्नतियां काफी विलंब से दी जाती हैं। नियोक्ताओं ने सिर्फ 30 फीसदी पत्रकारों और उनके परिवार के सदस्यों का ही स्वास्थ्य बीमा करा रखा है। फोकस न्यूज चैनल में सहायक कार्यकारी प्रोड्यूसर श्री विनोद गुप्ता कहते हैं, "पत्रकारों पर काम का अत्यधिक दबाव है और वह हमेशा सुविधाओं के अभाव में जीता है। यही कारण है कि पत्रकार तेजी से बीमार हो रहे हैं।"

90 फीसदी पत्रकारों का मानना है कि खबरों को छापने की अंधाधुंध होड़ से पत्रकार दबाव में रहते हैं। बाजार में खबरों को सबसे पहले दिखाने की गलाकाट प्रतिस्पर्धा मची हुई है। टीआरपी अथवा पाठक संख्या की होड़ में आगे रहने के उद्देश्य से कई बार पत्रकार बिना पुष्टि के खबर चला देते हैं। इससे अखबारों और चैनलों की विश्वसनीयता घटी है। तनाव के अन्य कारणों में पत्रकारों के हुनर को विकसित करने के लिए कुछ न करना, तनाव कम करने के लिए मनोरंजन न कर पाना अथवा नियोक्ता द्वारा तनाव कम करने के लिए कोई कार्यशाला या पाठशाला का आयोजन न करना शामिल हैं।

80 फीसदी पत्रकारों का मानना है कि मीडिया का पेशा अन्य पेशों की तुलना में अधिक तनावपूर्ण है। उनका मानना है कि अन्य पेशों में ज्यादातर लोग काम के दौरान ही योजनाएं बनाने और उसके कार्यान्वयन के बारे में सोचते हैं। लेकिन पत्रकारिता में पत्रकारों को मानसिक तौर पर 24 घंटे रहना पड़ता है। वर्षा सिंह का कहना है, "अन्य पेशों में कार्यरत कर्मचारियों के तनाव को कम करने के लिए नियोक्ता कई तरह के प्रयास करता है मसलन कर्मचारियों की समय-समय पर पोन्नतियां देना, वेतन वृद्धि करना और स्वास्थ्य बीमा कासपस जैसी सुविधाएं शामिल हैं। इसके अलावा उनके तनाव को कम करने के लिए योग और ध्यान जैसे शिविर भी लगाए जाते हैं।"

इसका दुष्परिणाम यह हो रहा है कि पत्रकार अपने परिवार को बहुत कम समय दे पा रहा है। वह अपने परिवार को दो से चार घंटे ही समय दे पाता है। वह अपने परिवार व बच्चों से दूर होता जा रहा है। अगर पति व पत्नी दोनों वर्किंग हैं तो उनके वैवाहिक जीवन पर प्रतिकूल असर पड़ रहा है। बीमार पत्रकारों की संख्या भी बढ़ रही है। मनोरोग विशेषज्ञ डॉ० आर०के० बंसल बताते हैं कि दिल्ली-एनसीआर क्षेत्र में कार्यरत अनेक पत्रकार उनके पास इलाज करा रहे हैं। वे अवसाद, इनसोमनिया (नींद न आना), दुष्चिंता विकार, फोबिया इत्यादि बीमारियों से ग्रस्त हैं। कुछ रोगी ऐसे हैं जो समय न देने के कारण अपने वैवाहिक जीवन में खटास आ जाने से अवसाद की चपेट में आ चुके हैं। इससे पत्रकारों की न केवल काम करने की क्षमता प्रभावित होती है बल्कि अवसाद ग्रस्त व्यक्ति आत्महत्या जैसे घातक कदम उठा सकता है। दूसरी ओर वरिष्ठ फिजीशियन डॉ० जी०सी० वैष्णव का भी कहना है कि दिल्ली-एनसीआर में कार्यरत अनेक पत्रकार उनके पास तनाव के कारण होने वाली बीमारियों अवसाद, उच्च रक्तचाप, मधुमेह, हृदय रोग, अर्थराइटिस, दुष्चिंता विकार इत्यादि का इलाज करा रहे हैं।

## निष्कर्ष-

दिल्ली-एनसीआर में कार्यरत पत्रकार तनाव का शिकार चुके हैं। खबरें सबसे पहले दिखाने या छापने की अंधी होड़ में सभी भाग रहे हैं। पत्रकारों में आर्थिक असुरक्षा, संसाधनों के घोर अभाव, बिना विराम के अनवरत काम करने के कारण वे मानसिक अवसाद, उच्च रक्तचाप, मधुमेह, दुष्चिंता विकार, इनसोमनिया (नींद न आना), फोबिया, अर्थराइटिस इत्यादि बीमारियों की बीमारियों की चपेट में आ रहे हैं। कई पत्रकारों के स्वास्थ्य पर तो प्रतिकूल असर पड़ ही रहा है। नियोक्ता द्वारा पत्रकारों की सुविधाएं बढ़ाने और उनको स्वस्थ्य रखने के लिए विशेष प्रयत्न नहीं किए जा रहे। इसका प्रतिकूल असर समाचार-पत्रों और चैनलों की गुणवत्ता पर भी पड़ना शुरु हो गया है और अगर समय रहते काम की अनुकूल परस्थितियां नहीं पैदा की गई तो इसका दूरगामी प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है।

## संदर्भ-


हम्पटन, कीथ, रैनी ली, लू वीक्सू, शिन इनयंग और पुरसेल क्रिसटेन (15 जनवरी 2015). "सोशल मीडिया एंड कॉस्ट ऑफ केयरिंग". पियु रिसर्च सेंटर. http://www-pewinternet-org/2015/01/15/social&media&and&stress/

हम्प्पटन कोहेन, डेविड (15 जनवरी 2015). "क्या सोशल मीडिया से तनाव होता है?". सोशल टाइम्स.

http://www-adweek-com/socialtimes/pew&cost&of&caring/612409

टैम. रुथ. (15 जनवरी 2015), "इस तरह मीडिया से होता है तनाव?". पीबीए न्यूजऑवर. पीबीएस न्यूजऑवर

http://www-pbs-org/newshour/rundown/social&media&stress&contagious/

अराना, गैब्रील. (18 मई 2015), "न्यूजरूम में मानसिक स्वास्थ्य की महामारी". द हफिंगटन पोस्ट

http://www-huffingtonpost-com/2015/05/18/mental&health&journalism&trauma_n_7305460html\ir¾India&adsSiteOverride¾in

नाजदेर. ए. (Med pr.2014;65(1):85-97.). "पत्रकारों में व्यावसायिक तनाव और मनावैज्ञानिक जोखिम" एनसीबीआई रिसोर्सेज

http://www-ncbi-nlm-nih-gov/pubmed/24834696

ऐक्ष्टन, ऐशटन. ब्रेन डिसीजेज अडवांसेस इन रिसर्च अप्लीकेशन, अलांटा, जॉर्जिया, संस्करण 2013, पृ.सं.16, 18, 19

नोट-(शोधकर्ता डॉ० मनोज सिंह के मार्ग दर्शन में शोध कार्य कर रहे हैं।)

***सारिणी-1***

| *क्रम संख्या* | *प्रतिदिन कार्य अवधि* | *उत्तरदाताओं की संख्या* | *प्रतिशत* |
|---|---|---|---|
| 1. | 12-14 घंटे | 60 | 60% |
| 2. | 10-11 घंटे | 31 | 31% |
| 3. | 8-9 घंटे | 9 | 9% |

***सारिणी-2***

| *क्रम संख्या* | *बीमारी* | *उत्तरदाता* | *प्रतिशत* |
|---|---|---|---|
| 1. | अवसाद/एंग्जाइटी/इनसोमनिया | 38 | 38% |
| 2. | हृदय रोग/उच्च रक्तचाप | 10 | 10% |
| 3. | मधुमेह/उच्च रक्तचाप/फोबिया | 11 | 11% |
| 4. | अर्थराइटिस | 10 | 10% |
| 5. | अन्य बीमारियां | 11 | 11% |
| 6. | कोई बीमारी नहीं | 20 | 20% |

***सारिणी-3***

| *क्रम संख्या* | *तनाव का कारण* | *उत्तरदाता* | *प्रतिशत* |
|---|---|---|---|
| 1. | अधिक समावधि | 25 | 25% |
| 2. | आर्थिक असुरक्षाकम तनख्वाहें | 42 | 42% |
| 3. | सुविधाओं का टोटा | 10 | 10% |
| 4. | अनियमित दिनचर्या | 18 | 18% |
| 5. | अन्य कारण | 5 | 5% |

❖❖❖

# समाचार पत्रिकाओं का अंतर्वस्तु विश्लेषण

## (इंडिया टुडे, शुक्रवार, आउटलुक हिंदी के विशेष संदर्भ में)

**ओमशंकर गुप्ता**

हिंदी की समाचार पत्रिकाओं में इंडिया टुडे साप्ताहिक पत्रिका सर्वश्रेष्ठ है। ले-आउट, रंग-रूप, समाचार विश्लेषण, विषयवस्तु, अंतर्वस्तु और प्रस्तुतिकरण के मानक पर सबसे बेहतर है। शुक्रवार पत्रिका साज-सज्जा, रंग-रूप के मानक पर तो ठीक है। लेकिन समाचार विश्लेषण, विषयवस्तु और उसकी अंतर्वस्तु के मानक पर इंडिया टुडे पत्रिका से बहुत पीछे है। आउटलुक पत्रिका समसामयिक हलचल और फीचर की मासिक पत्रिका है। आउटलुक ले-आउट, रंग-रूप, विषयवस्तु और उसकी अंतर्वस्तु के मानक पर ठीक है। लेकिन इंडिया टुडे की तुलना में आउटलुक पत्रिका में समाचार विश्लेषण कम होते है। इंडिया टुडे में खबरों के अंदर की खबर होती है। लेकिन आउटलुक में ऐसा देखने को नहीं मिलता।

समाचार पत्रिकाओं में क्या छप रहा है? कैसे छप रहा है? क्यों छप रहा है? उसमें जो छप रहा है उसका मानक क्या है? वह पाठक के कितने सरोकार का है? इन्ही प्रश्नों का उत्तर जाने के लिए समाचार पत्रिकाओं की अंतर्वस्तु का विश्लेषण किया गया। भारत में प्रकाशित हिंदी की चर्चित पत्रिकाओं इंडिया टुडे, शुक्रवार और आउटलुक के ऑनलाइन यानि मुद्रित संस्करण के अप्रैल 2013 से लेकर मार्च 2014 तक के सभी अंकों का गहन अध्ययन करने के लिए उन सभी अंकों की अंतर्वस्तु का विश्लेषण और उसके लिए तीनों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया गया है।

पत्रिकाओं की अंतर्वस्तु विश्लेषण की जो प्रविधि है इसका विकास सामाजिक अनुसंधान के क्रम में पत्रकारों की प्रेरणा से हुआ है। परंतु उनके विश्लेषण में किसी पद्धति या शास्त्रीय परंपरा का आभाव रहा। पत्रकारों द्वारा इन्ही तरीकों से अंतर्वस्तु विश्लेषण का कार्य कर महत्वपूर्ण निष्कर्ष भी निकाले गए। इन्ही विश्लेषणों से प्रेरित होकर सामाजशास्त्रीय अनुसंधानकर्ताओं ने अंतर्वस्तु विश्लेषण को एक प्रविधि के रूप में मान्यता दी और बाद में इसका विकास भी किया।[1]

पालिन यंग के अनुसार- 'अंतर्वस्तु विश्लेषण साक्षात्कारों, प्रश्नावलियों, अनुसूचियों तथा अन्य लिखित या मौखिक भाषा तथा अभिव्यक्तियों द्वारा प्राप्त अनुसंधान तथ्यों अंतर्वस्तु का क्रमबद्ध, वस्तुनिष्ठ तथा परिणामात्मक वर्णन के लिए अपनाई जाने वाली एक प्रविधि है।'[2]

केपलान के अनुसार- 'अंतर्वस्तु विश्लेषण राजनैतिक बातचीत का सांख्यकीय रूप है। सामग्री विश्लेषण एक दी हुई बातचीत के अंग के अर्थों को एक व्यवस्थित एवं मात्रात्मक ढंग से व्याख्या करने की कोशिश करती है।'[3]

कीट राइट के मुताबिक- 'हम कोडिंग और विश्वेषण को परस्पर परिवर्तित अर्थों में व्यक्त करते हैं जो कि संकेतात्मक व्यवहार का वैषयिक, व्यवस्थित एवं मात्रात्मक अध्ययन करते हैं।'[4]

कर्टलिंगर लिखते है- 'वस्तु विश्लेषण दरों को मापने के लिए संचारों के व्यवस्थित, वस्तुनिष्ठ और मात्रात्मक ढंग से अध्ययन और विश्लेषण करने की पद्धति है।'[5]

बर्नार्ड बेरेल्सन ने अंतर्वस्तु विश्लेण की अपनी परिभाषा में लिखा- 'अंतर्वस्तु विश्लेषण संचार के प्रकट अंतर्वस्तु का वस्तुनिष्ठ क्रमबद्ध तथा परिमाणात्मक वर्णन के लिए अपनाई जाने वाली एक अनुसंधान प्रविधि है'[6]

इस तरह सामाजिक अनुसंधान की पुस्तकों में अंतर्वस्तु विश्लेषण की कई तरह की परिभाषाएं लिखी गई हैं। इन परिभाषाओं में अलग-अलग विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से अंतर्वस्तु विश्लेषण को परिभाषित और विश्लेषित किया है। किसी ने शास्त्रीय पद्धति मानने से इंकार किया है तो किसी ने इसे उत्तम श्रेणी की प्रविधि माना है। कुछ विद्वानों ने इसे बेहद कमजोर पद्धति माना है और इसकी प्रक्रिया पर बड़े

**शोध छात्र, महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट, सतना (एमपी)**

सवाल उठाए हैं तो कुछ विद्वानों ने इस प्रविधि को सबल और श्रेष्ठ माना है।

कुल मिलाकर विद्वानों ने अंतर्वस्तु विश्लेषण की परिभाषा भले अलग-अलग दी है लेकिन उनके मत तकरीबन एक जैसे हैं। अंतर्वस्तु विश्लेषण को भले ही किसी विद्वान ने सामाजिक अनुसंधान की शास्त्रीय प्रविधि न माना हो लेकिन बदलते परिवेश, काल और संचार के दिनोदिन बढ़ते और बदलते हालात में यह एक महत्वपूर्ण अनुसंधान की प्रविधि है। विद्वानों ने अंतर्वस्तु विश्लेषण की वस्तुनिष्ठता और इसके मात्रात्मक अध्ययन की श्रेष्ठता का उल्लेख अपनी अपनी परिभाषाओं में हर संभव देने कोशिश की है। यानि मीडिया और संचार शोध में अंतर्वस्तु विश्लेषण एक बेहद महत्वपूर्ण अनुसंधान प्रविधि है। खासकर टीवी , रेडियो और सामाचार पत्र-पत्रिकाओं के बारे में हो रहे या होनेवाले अनुसंधानों के लिए अंतर्वस्तु विश्लेषण एक बहुत ही विश्वसनीय प्रविधि है। इसी प्रविधि के अंतर्गत तीनों सामाचार पत्रिकाओं इंडिया टुडे, शुक्रवार और आउटलुक हिंदी के एक साल यानि 12 माह की समयावधि के सभी अंकों का विश्लेषण किया गया है।

भारत की चर्चित पत्रिकाओं इंडिया टुडे, शुक्रवार और आउटलुक में से इंडिया टुडे पत्रिका की प्रस्तुति और विषय-वस्तु उच्च कोटि की है। इसमें राजनैतिक समाचारों की प्रधानता है। इंडिया टुडे के प्राय हर अंक में सप्ताह की उन सभी प्रमुख घटनाओं का विश्लेषण किया गया है जो देश के एक से अधिक राज्यों के लोगों को और उनके लिए नीति निर्धारण करने वालों को प्रभावित करती हों। शुक्रवार पत्रिका के पूरे वर्ष भर यानि अप्रैल 2013 से लेकर मार्च 2014 के सभी अंकों में खबरों की भरमार रही। इंडिया टुडे के प्रत्येक अंक में औसतन 15 से 20 ऐसी खबरें ली गई जो घटना प्रधान थीं और महत्वपूर्ण की भी थीं। जबकि शुक्रवार पत्रिका के वर्ष भर के अंकों में औसतन 30 से 35 खबरें और किसी किसी अंक में 40 तक खबरें शामिल की गई। आउटलुक मासिक प्रकृति की पत्रिका है। इस प्रकृति के चलते यह पत्रिका खबरों पर कम से कम आश्रित रही। उसमें समाचार विश्लेषण और फीचर अधिक रहे।

आउटलुक में खबरों को आमतौर पर एक से दो पृष्ठों में ही जगह मिली। आउटलुक तीनों पत्रिकाओं में इकलौती पत्रिका रही जिसमें पूरे वर्ष भर के सभी अंकों में 3 से 4 खबरें प्रेस विज्ञाप्ति वाली दी गई। तीनों पत्रिकाओं की अंतर्वस्तु विश्लेषण से क्या निकला, इसे तीनों पत्रिकाओं के अप्रैल 2013 के अंकों का उदाहरण के तौर पर विश्लेषण करने से आसानी से पता चलता है। अप्रैल 2013 में इंडिया टुडे के कुल 4 अंक निकले। शुक्रवार साप्ताहिक के कुल 4 अंक निकले तो आउटलुक मासिक का एक नियमित अंक और एक विशेष अंक प्रकाशित हुआ। यह विशिष्ट अंक पर्यटन पर केंद्रित रहा। तीनों पत्रिकाओं में सबसे आकर्षक डिजाइन, साज-सज्जा और रंग रूप इंडिया टुडे का रहा। इडिया टुडे ने लाल रंग के बार्डर के साथ समाजवादी पार्टी के मुखिया मुलायम की फोटो का बेहतरीन इस्तेमाल किया। 'यूपी के रहमो करम पर कांग्रेस के साथ करुणा नहीं' जैसा बेहद प्रभावशाली, सारगर्भित शीर्षक दिया गया। आवरण पृष्ठ का ले-आउट बेहद चित्ताकर्षक था। अंदर के 11 पृष्ठों में 2014 के लोकसभा चुनावों को लेकर यूपीए की ताकत घटने को लेकर पूरी आवरण कथा को पेश किया गया। आवरण कथा में तीन अन्य शीर्षक के साथ भी खबरें दी गईं। उदाहरण के लिए

*"मुलायम को आई सत्ता की गंध"*

*"नीतिश का दिल्ली प्लान"*

अर्थात 2 शीर्षकों वाली आवरण कथा को 11 पृष्ठों में जगह दी गई। इसमें बारीक और तटस्थ विश्लेषण किया गया। सुदूर दक्षिण से लेकर उत्तर के राजनैतिक क्षत्रपों के बयानों और उनकी चुनावी संभावनाओं का बारीक विश्लेषण इस आवरण कथा में किया गया।

इसके साथ पिछले चुनावों के सर्वेक्षण के आंकड़ों के जरिए भी यूपीए के सत्ता के सिंघासन तक मुश्किल से पहुंचने के गणित को समझाने की कोशिश की गई। नीतीश कुमार, शरद यादव, लालू यादव के चुटीले और संक्षिप्त साक्षात्कार इस आवरण कथा को बेहद रुचिपूर्ण और सारगर्भित बनाते है। कुल मिलाकर आवरण कथा में कहानी की मांग के अनुरुप और उसे एक पूर्ण स्वरूप देने के लिए हर तरह की विषय वस्तु का बहुत ही बेहतरीन तरीके से समायोजन किया गया है। इसमें कंटेंट को समझने में ग्राफिक्स काफी सहायक बन पड़ा है।

इंडिया टुडे की खास रपट युवाओं से जुड़ने के मकसद से ही तैयार की गई जान पड़ती है। इसमें जिन चित्रों का उपयोग किया गया है वह युवाओं को एक बार ठहर कर देखने को विवश जरूर करेगा। "18 या 16? किस बाली उमर को करें सलाम" शीर्षक वाली ये खास रपट वयस्क मानने या सेक्स करने की उम्र को लेकर बने कानून पर केंद्रित है। समाज में इस मुद्दे पर जो बहस हुई, उस पर बेहतरीन तरीके से खास रपट लिखी गई। इस रपट को और बेहतर बनाने के लिए बाक्स में ग्राफिक्स के जरिए स्त्री पुरुष की शरीर की संरचना

और उसके मष्तिष्क में सेक्स हार्मोन्स का श्राव और उसके काम करने का तरीका बताने के साथ साथ देश की विभिन्न अदालतों के इस बारे में दिए गए फैसलों को शामिल किया गया है। इस आलेख में 15 से 40 साल तक के लोगों के बीच पत्रिका की लोकप्रियता को भुनाने के लिए खासतौर पर कुछ ऐसे कंटेंट भी डाले गये हैं जो युवाओं को आकर्षित करते हैं। जैसे यौन संबंधों पर समाज में प्रचलित धारणाएं और घटनाएं। कुल 66 पृष्ठों के इस अंक में कुल 18 पृष्ठ विज्ञापन के लिए समर्पित किए गए तो आवरण के लिए एक पृष्ठ, विषय सूची के लिए एक पृष्ठ, पाठकों के पत्रों के लिए 2 पृष्ठ, मेहमान के लिए एक पृष्ठ समर्पित किया गया। समाचार सार, खेलकूद, अपराध, साहित्य, कला, मनोरंजन और चर्चित चेहरे जैसे नियमित स्तंभों के लिए 2 से 3 पृष्ठ यानि कुल 10 पृष्ठों पर सामग्री परोसी गई। कुल मिलाकर पत्रिका का अप्रैल माह का पहला अंक राजनैतिक और चुनावी विश्लेषण के नाम रहा।

इंडिया टुडे के कुल 66 पृष्ठों के अप्रैल माह के दूसरे अंक में मात्र 9 पृष्ठ विज्ञापनों के लिए आरक्षित रहे तो बाकी 56 पृष्ठ पर खबरों, लेखों, विश्लेषणों और कला साहित्य और मनोरंजन को जगह मिली। दूसरे अंक की खास बात ये रही कि इसका कंटेंट पिछले अंक से बिल्कुल हट कर रहा। प्रमुख आवरण कथा क्रिकेट के नाम रही। टेस्ट, वन डे और टी 20 यानि तीनों फार्मेट में कैप्टन कूल महेंद्र सिंह धोनी की शान में इंडिया टुडे ने कसीदे गढ़े। इस आवरण कथा के लिए पत्रिका में कुल 9 पृष्ठ दिए। इस अंक का प्रस्तुतिकरण जिस तरह का रहा उसकी तारीफ केवल क्रिकेट प्रेमी ही नहीं करेंगे, समीक्षक भी जरूर करेंगे।

पत्रिका के आवरण पृष्ठ पर धोनी की भगवान वाली तस्वीर, कथा के बीच में धोनी की कहानी को समृद्ध करने के लिए बॉक्स में राष्ट्रीय और अंतराष्ट्रीय आंकड़े दिए गए हैं। इस आवरण कथा में ग्राफिक्स के जरिए यह समझाने की कोशिश की गई है कि धोनी ने कैसे, कहां, कब और कितनी बाजियां अपने नाम की। इन सभी का उल्लेख इसमें विस्तार से किया गया है। इंडिया टुडे को पता है कि भारत में क्रिकेट की पूजा की जाती है। क्रिकेटरों को भगवान का दर्जा मिला है। लोग जूनून की हद तक क्रिकेट के दीवाने है। ऐसे में पत्रिका ने पाठकों की नब्ज पर पूरा हाथ रखते हुए बिंदास और बेमिसाल नाम की इस आवरण कथा को पेश कर साप्ताहिक पत्रिकाओं के बाजार में बाजी अपने नाम करने की पूरी कोशिश की। कंटेंट के मामले में आवरण कथा में कैप्टन कूल का पूरा लेखा जोखा है जो पाठको को संतुष्ट जरूर करेगा। जिस तरह इस आवरण कथा में तस्वीरों का प्रयोग किया गया है वह बेशक जगह भरने के लिए जरूरी रही हों लेकिन पाठकों को इसमें भी आनंद आया होगा।

इंडिया टुडे के इंस अंक में संपादकीय की जगह मेहमान का पन्ना है। इसमें जामिया मिल्लिया इस्लामिया के कुलपति नजीब जंग के लेख को जगह दी गई। इस लेख में नजीब ने पाकिस्तान में जम्हूरियत का इम्तिहान शीर्षक से पाकिस्तान के अंदरूनी राजनैतिक हालात की तस्वीर पेश की है। इसमें ऐतिहासिक तथ्यों का बेहद खूबसूरती से समावेश किया गया है। पत्रिका के इस अंक में श्रीलंका में तमिलों के ऊपर खास रपट है। लंका कांड के बाद तमिलों की तबाही शीर्षक वाली 7 पृष्ठों की इस रिपोर्ट में कंटेंट की भरमार है। भयावह और विचलित करने वाली तस्वीरों, आंकड़ों के जरिये साल 1983 से लेकर 2013 तक के समय में तमिलों के हालात की पूरी कहानी, दिल को छू लेने वाली कुछ तमिलों की सच्ची कहानी, ग्राफिक्स और विशेष टिप्पणियां के जरिए बताई गई है। यह रिपोर्ट पाठक के लिए संपूर्ण रही।

इंडिया टुडे के इस अंक में हर तरह के सेलेक्टिव कंटेंट को शामिल किया गया है। पत्रिका की पहचान ही राजनैतिक खबरों के सटीक प्रस्तुतिकरण को लेकर है। इसलिए इस अंक में राजनैतिक खबरों की अनदेखी नहीं की गई है। राजनैतिक खबरों के लिए कुल आठ पृष्ठ दिए गए है। इन आठ पृष्ठों में राष्ट्र और राज्यों से कुल पांच खबरें परोसी गई है। आवरण कथा का दबाव कहिए या कुछ और राजनैतिक खबरों में परंपरा के तौर पर तस्वीरों का प्रयोग तो किया है लेकिन आंकड़ों, ग्राफिक्स और छोटी चुटीली टिप्पणियों को इसमें जगह नहीं मिल सकी है। अपराध के लिए दो पृष्ठ और सिनेमा के लिए तीन पृष्ठ दिए गए है। साहित्य, मनोरंजन चुटीली टिप्पणियों के नियमित स्तंभ तो हैं ही।

इंडिया टुडे के अप्रैल के तीसरे अंक की पहली खास बात ये रही कि यह 66 पृष्ठों की जगह 68 पृष्ठों का प्रकाशित हुआ। इसमें चिट्ठियां, समाचार सार, मनोरंजन, और चर्चित चेहरे नाम से नियमित स्तंभ तो थे। लेकिन साहित्य खेल, सीधी बात जैसे स्तंभ नहीं दिए गए। दरअसल पत्रिका ने इस अंक से खुद को चुनावी मोड में ले लिया। इसीलिए इंडिया टुडे ने तीसरे अंक से 2014 के चुनावों की सामग्री पाठकों के सामने पेश करना शुरु कर दिया। मेरा वोट नाम से विशेष प्रस्तुति के लिए पत्रिका ने कुल 18 पृष्ठ खर्च किए। इसमें चुनाव की आहट और उनके शुरु

होने से पहले के मानस को पढ़ने के लिए राजनताओं से लेकर पार्टियों, उनके प्रबंधन और उनके द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले धन, बल, बाहुबल और मीडिया की इसमें होने वाली भूमिका पर पूरा फोकस किया गया है। ग्राफिक्स, चार्ट, आंकड़े तस्वीरों और बार डाइग्राम के जरिए पूरी प्रस्तुति को बेहद रोचक और जानकारी से भरपूर करके परोसा गया है। पिछले अंक में राजनैतिक खबरों को लेकर जो कमी रह गई थी लगता है उसकी भरपाई के लिए पत्रिका ने जोरदार कोशिश करते हुए इस अंक में इतना मसाला दिया जिसे एक सप्ताह में पूरा हजम करना आसंभव नहीं तो मुश्किल जरूर रहा होगा पाठकों के लिए।

कंटेंट के लिहाज से इन 18 पृष्ठों में वो सब चीजें परोसी गई जो कहानी को संपूर्ण बनाती हैं। कुल दो मुख्य शीर्षक दिए गए इन 18 पृष्ठों में। चुनावों में काला धन के इस्तेमाल पर आधारित इस रिपोर्ट को नेता बड़ा ना न भैया सबसे बड़ा रुपया और चुनावी जंग के तहत सड़क से स्टूडियो तक लोकतंत्र का महासमर शीर्षक में पूरी समग्री परोसी गई। आवरण कथा भी चुनावी आहट वाली रही। मनमोहन क्यों हुए लाचार शीर्षक वाली कुल 10 पृष्ठों में परोसी गई आवरण कथा कटेंट के लिहाज से पूरी तरह से भरीपूरी रही। इसमें विशेष टिप्पणियों, मनमोहन के पीएम बनने से लेकर अप्रेल 2013 तक के पूरे घटना क्रम का बारीक विश्लेषण किया गया है।

इंडिया टुडे का आखिरी अंक 24 अप्रैल 2013 को प्रकाशित हुआ। इस बार पत्रिका फिर पुराने स्वरूप यानि 66 पृष्ठों पर लौट आई। कवर स्टोरी पिछले अंक की तरह राजनीति को समर्पित रही। आवरण कथा कांग्रेस के युवराज राहुल पर आधारित थी। 'खुली तो मुट्ठी खाक की' शीर्षक वाली इस आवरण कथा को पत्रिका में कुल 11 पृष्ठ दिए गए। पूरी आवरण कथा कांग्रेस परिवार पर फोकस रही। इसमें अन्य रोचक शीर्षक भी दिए गए जैसे 'जिन पर जिम्मा था समाधान का वे गिना रहे समस्याएं', 'राहुलार्थ', 'ट्विटर पर कांग्रेस के हाथ रही बाजी' और 'दामन पर बोफोर्स से भी पुराने छीटें' जैसे उप शीर्षकों के साथ पेश किया गया। राहुल से लेकर इंदिरा, राजीव तक पुराने और नए चित्रों का इस्तेमाल खूबसूरती से हुआ तो कई चुटीली टिप्पणियों और कई पुराने आंकडों के साथ पेश की गई ये पूरी आवरण कथा कंटेट के लिहाज और खास तौर पर पाठकों की राजनैतिक भूख को शांत करने के लिए लिहाज से संपूर्ण रही।

इस अंक में दो खास रपट के अलावा कई अन्य रिपोर्टें भी पेश की गई। मनोरंजन के तहत शिवशंकर का महासमय नाम से पेश रिपोर्ट में टीवी चौनलों पर भगवान शंकर पर आधारित धारावाहिकों पर पूरी प्रस्तुति रही। जिसमें रोचकता बनाने के लिए चित्रों के अलावा भी बहुत सारे कंटेंट का इस्तेमाल हुआ। बाकी पत्रिका में नियमित स्तंभ चिट्ठियां, मेहमान का पन्ना, बॉलीवुड की छोटी रसीली खबरें, साहित्य को भी पहले की तरह जगह मिली। पत्रिका के अप्रैल 2013 के आखिरी अंक को यादगार बनाने के लिए समाज नाम से नया स्तंभ पेश किया गया जिसमें वर्चुअल मीडिया पर फोकस रहा। इसमें ये बताने की कोशिस हुई कि लोग दिल की बातें कैसे जुबान पर लाने की जगह प्रियतम तक पहुंचाने लिए फेसबुक में अपनी बात रखना ज्यादा सहज मानने लगे हैं। कुल मिलाकर इंडिया टुडे के अप्रैल 2013 के चारों अंक एक से बढकर एक रहे। कंटेंट के लिहाज से राजनैतिक खबरों के लिए प्रसिद्ध इस पत्रिका में हर तरह के पाठकों को जोडने लिए कुछ ना कुछ जरूर रहा।

पर्ल समूह की शुक्रवार पत्रिका का अप्रैल 2013 का पहला अंक 4 अप्रैल को प्रकाशित हुआ। कुल 72 पृष्ठों वाली इस पत्रिका के अप्रैल के पहले अंक की कवर स्टोरी विदेशी गायों पर आधारित रही। हिंदी का श्रेष्ठ समाचार साप्ताहिक नारे के साथ शुरु हुई पत्रिका का अप्रैल का पहला अंक देखकर राजनैतिक खबरों के लिए स्टॉल से पत्रिकाएं लेने वाले थोड़े हैरान जरूर हुए होंगे। लेकिन देशी गायों पर संकट को लेकर प्रकाशित की गई इस मुख्य आवरण कथा में विस्तार से विदेशी गायों के दबदबे का जिक्र किया गया। विशेषज्ञों की राय, टिप्पणियों, आंकड़े, कुछ बेहद खबसूरत तस्वीरों समेत पूरी खबर कंटेंट के लिहाज से बहुत ही बढिया रही। कुल 10 पृष्ठ विज्ञापन के लिए समर्पित रहे तो आवरण पृष्ठ छोड़कर बाकी 60 पृष्ठों में समाचार खबरें प्रमुखता से दी गई।

पाठकों के पत्रों पर आधारित 'पाठकनामा', राजनीति की छोटी लेकिन चुटीली खबरें 'पलटवार', संपादकीय, राजनैतिक घटनाओं पर संक्षिप्त टिप्पणी 'बतरस' , मेहमान का पन्ना 'संदर्भ', अहम कानूनी फैसलों पर स्तंभ 'कोर्ट कचेहरी', अर्थव्यवस्था पर नियमित स्तंभ 'अर्थक्षेत्रे', पड़ोसी देशों पर फोकस करता-हुआ आलेख पड़ोस, अंतरराष्ट्रीय खबरों पर आधारित स्तंभ, राज्यों की खबरों पर आधारित स्तंभ राज्यनामा, पर्यटन आधारित लेख, सिनेमा, समस्या, खेल क्षेत्रे, साहित्य पर आधारित नियमित स्तंभ लघु कथाएं, कविता, व्यंग्य पर आधारित कालम टेढ़ी नजर, पुस्तकों की समीक्षा, कविता संग्रह, साहित्यकार

से खस मुलाकात, स्क्रीन से स्तंभ में बॉलीवुड की छोटी पर अहम खबरें, खानपान और आखिर में जरा हट के और विज्ञान और टेकनोलॉजी जैसे नियमित स्तंभ प्रमुख रूप से पत्रिका में शामिल रहे। इस पत्रिका के संपादक चूंकि एक जाने माने साहित्यकार श्री विष्णु नागर जी रहे इसके चलते पत्रिका में प्रमुख राजनैतिक खबरों के अलावा हर तरह की खबरें तो रही लेकिन कला और साहित्य पर विशेष जोर पत्रिका में दिखा।

कंटेंट के लिहाज से शुक्रवार के इंस अंक में वो सब मौजूद रहा जो एक सामाचार पत्रिका में होना चाहिए। लेकिन राजनीति की खबरों की पड़ताल में वो स्तर नहीं दिखा जो पत्रिका को समाचार पत्रों से अलग करता है। कंटेट की भरमार तो है लेकिन अंतर्वस्तु स्तरीय नहीं लगी यानि दिल दिमाग में आसानी से घर बनाने वाली नहीं लगी। समाचार पर आधारित कथाओं मे बाक्सों का प्रयोग तो है लेकिन आंकड़ों और ग्राफिक्स जिसके चलते कंटेंट रिच होता है उसके प्रस्तुतीकरण में कंजूसी साफ दिखाई देती है। कुल 21 प्रमुख खबरें इस अंक में प्रकाशित हुई। आवरण पेज का जो डिजायन था वो भी इंडिया टुडे के मुकाबले काफी कमजोर रहा।

शुक्रवार का का दूसरा और तीसरा अंक 11 और 18 अप्रैल 2013 को प्रकाशित हुआ। शुक्रवार के इन दोनों अंकों में मात्र 5-5 पृष्ठ विज्ञापन के नाम रहे। यह बताता है कि पत्रिका बाजार में अपनी पैठ बनाने में इस अंक तक अस्कल ना सही पर पूरी तरह सफल नहीं रही। आवरण कथा चार्ल्स शोभराज पर आधारित रही। ठगी का अर्थशास्त्र शीर्षक वाली इस आवरण कथा का उप शीर्षक रहा 'जहां डाल-डाल पर ठग करते हैं बसेरा'। इस आवरण कथा को कुल 10 पृष्ठ समर्पित किए गए। संक्षेप में समाज और देश में अर्थ क्षेत्र से लेकर धर्म और राजनैतिक क्षेत्र तक फैले हर तरह के ठगी के जाल को निशाना बनाते हुए आलेख प्रस्तुत किया गया। लेकिन हैरान करने वाली बात ये रही कि आवरण पृष्ठ पर जो तस्वीर लगाई गई चार्ल्स शोभराज की उसकी यानि चार्ल्स शोभराज की पड़ताल इन 10 पृष्ठों पर नहीं दिखी। जो कंटेंट के लिहाज से एक चूक कही जा सकती है। ना ग्राफिक्स, ना आंकड़े। बस केवल एक कहानी जैसा प्रस्तुतीकरण रहा आवरण कथा का।

पत्रिका में राज्यों से लेकर कुल 6 खबरें एक से लेकर दो पृष्ठों में प्रस्तुत की गई। सभी केवल जानकारियां यानि इन्फार्मेशन लगीं। कुल 9 खबरों को विशेष के तहत पत्रिका में जगह दी गई। विज्ञान तकनीकी, कला, धर्म और मनोरंजन के लिए एक पेज पर खबरें प्रकाशित हुई। लेकिन साहित्य के लिए विशेष उदारता दिखी। साहित्य के लिए पत्रिका ने कुल 7 पृष्ठ खर्च किए। बाकी नियमित स्तंभों के लिए 9 पृष्ठ खर्च किए गए। कंटेंट के लिहाज से शुक्रवार पत्रिका का अप्रैल का तीसरा अंक थोड़ा बेहतर रहा पहले के दो अंकों से। लेकिन ग्राफिक्स, खबरों को समर्थन करते जरूरी आंकड़े और विशेष टिप्पणियों का आभाव रहा। शुक्रवार का चौथा अंक प्रकाशित हुआ 25 अप्रैल को। इसमें कई अच्छी रिपोर्टें प्रकाशित की गई। कटेंट के लिहाज से ये अंक भी ठीक ठाक रहा।

इंडिया टुडे और शुक्रवार के उलट आउटलुक मासिक प्रकृति की पत्रिका है। फीचर और सामयिक हलचल की मासिक पत्रिका आउटलुक का कंटेंट साप्ताहिक पत्रिकाओं से बिल्कुल अलग दिखता है। आउटलुक मासिक पत्रिका का अप्रैल 2013 का अंक राजनीति की खबरों पर केंद्रित रहा। पत्रिका चूंकि मासिक है इसलिए इसमें इस तरह की खबरों को ही जगह दी गई जो महीने भर तक अपना वजूद बनाए रख सकती हों। कहने का आशय ये कि आउटलुक हिंदी मासिक पत्रिका में केवल उन खबरों को प्रस्तुत किया गया जो एक माह बाद भी बासी ना दिखें।

आउटलुक 74 पृष्ठों की पत्रिका है। इसके आवरण पृष्ठ और विषय सूची के पृष्ठ को छोड़ दें तो कुल 21 पृष्ठ विज्ञापन के लिए दिए। बाकी बचे 51 पृष्ठों में 9 बड़ी खबरें और 3 फीचर प्रस्तुत किए गए। इनमें मुख्य आवरण कथा राजनैतिक रही। केंद्रीय सियासत में बिहार के नेता और मुख्यमंत्री रहे नीतिश कुमार की दावेदारी को 'डगमग सियासत में नीतिश की दावेदारी' के मुख्य शीर्षक और दिल्ली की ओर रुख उप शीर्षक से पूरी आवरण कथा प्रस्तुत की गई। लेकिन इसमें केवल एक पृष्ठ ही खर्च हुआ। आधे आधे पन्नों में तस्वीरों को जगह दी गई। इसी विषय पर मेहमान लेखकों के विचारों को जगह दी गई। शायद इसका अभिप्राय ये रहा हो सकता है कि खबर पुरानी ना होने पाए। कुछ बाक्स, हाईलाइटर और कुछ विकास के आकड़ों के पेश कर आवरण कथा को रोचक बनाने की कोशिश की गई।

बाकी की आठ खबरों को एक से दो पृष्ठों में जगह मिली। इनमें आदर्श ग्राम योजना की आंकड़ों समेत पड़ताल, कुंडा में राजा भैया के आंतक का सच, दंगों और सियासत के घालमेल पर आधारित रिपोर्ट बरेली से, विचार धारा के तहत राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ पर विशेषज्ञों की टिप्पणियों सहित विशेष

आलेख, कोर्ट कचेहरी के तहत संजय दत्त के जेल जाने पर एक आलेख, रक्षा सौदे में भ्रष्टाचार पर खूबसूरत फोटो और विषय विशेषज्ञों की टिप्पणियों समेत एक आलेख और आधी आबादी को फोकस करता आलेख शर्म, गुजराती औरतों की मंडी बना हरियाणा जैसी रिपोर्टें प्रमुख रहीं।

इंडिया टुडे और शुक्रवार से अलग ये पहली पत्रिका है जिसमें दो पृष्ठ प्रेस विज्ञप्तियो के लिए भी पत्रिका में दिए गए हैं। फिल्म, साहित्य, खेल और मनोरंजन के स्तंभ सप्तरंग, पुस्तकें, कथा-कहानी, फिल्म, फैशन, स्वास्थ्य, चुनौती, पत्र और संपादकीय के नियमित स्तंभ भी पत्रिका में है। कंटेट के लिहाज से देखने पर साफ होता है कि पत्रिका में सबकुछ थोड़ा थोड़ा परोसने की पूरी कोशिश की गई है। कुछ फीचर बेहतरीन है तो कुछ बस केवल छापने के लिए लिखे गए लगते हैं। लिखने की शैली दोनों साप्ताहिक पत्रिकाओं से अलग है। प्रस्तुतिकरण की शैली भी अलग है।

इंडिया टुडे, शुक्रवार और आउटलुक समाचार पत्रिकाओं के अप्रैल माह के अंकों का समग्रता में विश्लेषण करें तो इंडिया टुडे ने अप्रैल माह में कुल 4 अंक प्रकशित किए। चारों अंक कुल 266 पृष्ठों के रहे। इंडिया टुडे ने अप्रैल माह में 266 में से कुल 49 पृष्ठ विज्ञापन के लिए खर्च किए। 8 पृष्ठ आवरण पेज और विषय सूची के नाम रहे। खबरों, विचारों और नियमित स्तंभों को इंडिया टुडे ने 209 पृष्ठों पर जगह दी। शुक्रवार के चारों अंक कुल 288 पृष्ठों के रहे। शुक्रवार पत्रिका ने अप्रैल माह में अपने सभी अंको में औसतन 5 पृष्ठ प्रति अंक विज्ञापन के लिए खर्च किए तो कुल 8 पृष्ठ आवरण और विषय सूची के लिए आरक्षित रहे। खबरों, विचारों, लेखों, और नियमित स्तंभों को शुक्रवार पत्रिका में 260 पृष्ठों में जगह मिली। आउटलुक के मासिक पत्रिका होने के चलते इसका केवल एक नियमित अंक प्रकशित हुआ जो 74 पृष्ठों का रहा। (एक विशेष अंक पर्यटन पर आधारित था जिसका विश्लेषण नहीं किया गया। क्योंकि वो विषय विशेष था।) 74 पृष्ठों की इस पत्रिका में आवरण पृष्ठ और विषय सूची के पृष्ठ को छोड़ दें तो कुल 21 पृष्ठ विज्ञापन के लिए समर्पित रहे। बाकी बचे 51 पृष्ठों में 9 बड़ी खबरें और 3 फीचर प्रस्तुत किए गए।

इंडिया टुडे में खबरें, उनके अंदर की खबर, विश्लेषण और उन पर टिप्पणियां खास रही तो शुक्रवार में खबरों का सीधा प्रस्तुतिकरण, विचारों का सीधा प्रस्तुतिकरण रहा। संपादक के साहित्य क्षेत्र से होने के चलते शुक्रवार में इंडिया टुडे और आउटलुक के विपरीत साहित्य को प्रमुखता से और अधिक जगह मिली। कंटेंट के लिहाज से विश्लेषण किया जाए तो इंडिया टुडे बाकी की दोनों पत्रिकओं पर भारी रही।

इसी तरह जुलाई में भी इंडिया टुडे शुक्रवार और आउटलुक पत्रिका से कंटेंट के मामले बहुत बेहतर रही। इंडिया टुडे ने जुलाई 2013 में 3 जुलाई से 31 जुलाई तक कुल 5 अंक प्रकाशित किए। तो शुक्रवार साप्ताहिक ने 4 जुलाई से 25 जुलाई तक कुल 4 अंक और आउटलुक का एक ही अंक प्रकाशित हुआ। इंडिया टुडे के 5 अंक कुल 330 पृष्ठों प्रकाशित हुए। इन 330 पृष्ठों में कुल 61 पृष्ठ विज्ञापनों के नाम रहे। यानि विषय सूची, नियमित स्तंभ, आवरण पृष्ठ, संपादकीय या मेहमान का पन्ना और पाठकों के पत्रों के नाम हर अंक में 10 पृष्ठों यानि कुल 50 पृष्ठों को और मिला दें तो विज्ञापन और नियमित स्तंभों को मिलाकर कुल 110 पृष्ठों का उपयोग हुआ। यानि कुल 330 पृष्ठों में से पाठकों के लिए विशिष्ट सामग्री कुल 220 पृष्ठों में प्रकाशित की गई।

हर शुक्रवार बाजार में आने वाली शुक्रवार पत्रिका के जुलाई माह में कुल 4 अंक प्रकाशित हुए। सभी अंकों की कुल पृष्ठ संख्या रही 288 पेज। इन सभी चारों अंकों में कुल तकरीबन 36 पृष्ठों में विज्ञापन की सामग्री रही। आवरण के 4 और विषय सूची के 4 पृष्ठ और जोड़ दें तो कुल 244 पृष्ठों में पूरी समाचार सामग्री रही। आउटलुक का जुलाई माह का अंक कुल 124 पृष्ठों का रहा। इनमें से आधे में यानि तकरीबन 60 पृष्ठ विज्ञापन को समर्पित रहे। यानि आवरण पृष्ठ, विषय सूची को जोड़ दें तो पूरी पत्रिका के आधे भाग में विज्ञापन और आधे भाग में पाठकों के लिए सामग्री रही।

इंडिया टुडे के जुलाई 2013 के तीन अंकों में उत्तराखंड में केदार घाटी में आई महाप्रलय छाई रही। पहला अंक 3 जुलाई को प्रकाशित हुआ। उसमें राजनैतिक खबरों की भरमार रही। लेकिन छपते छपते मिली उत्तराखंड की महाप्रलय की छोटी सी बानगी भी इसमें प्रकाशित हुई। यह बताता है कि इंडिया टुडे पत्रिका का प्रबंधन पत्रिका को आद्यतन रखने के लिए भरसक कोशिश जरूर करता है। कंटेट के लिहाज से इस अंक में आवरण कथा बिहार के सूरमा और मुख्यमंत्री रहे नीतीश कुमार पर फोकस थी। 'नीतिश के दबंग' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुई इस आवरण कथा में गैर कांग्रेसी गैर बीजेपी- तीन तिगाड़ा काम बिगाड़ा जैसे उप शीर्षक दिए गए। कवर स्टोरी में हर उस तरह के कंटेंट को डालने की कोशिश की गई जिससे

आवरण कथा संपूर्ण लग सके। एनिमेशन, ग्राफिक्स, नेताओं के कार्टून पुराने चुनावी आंकड़े, पिछले लोकसभा चुनावों के दौरान हुए कुछ सर्वेक्षणों के आंकड़ों का इसमें खूबसूरती से समिश्रण किया गया है।

इसके अलावा एक और राजनैतिक खबर है जो खास के खांचे में फिट करके प्रकशित की गई है। 'प्रधानमंत्री के बाजार में मोल भाव का दौर 'शीर्षक से प्रकाशित ये खास रिपोर्ट लेखन के दृष्टिकोण से भले बहुत अच्छी ना कही जाए पर जिस तरह का ग्राफिक्स सपोर्ट इस खबर के लिए दिया गया है वो कमाल का है। राउंड टेबल के इर्द गिर्द प्रधानंमत्री पद के उम्मीदवारों को बिठाकर उनकी रणनीतियों का खुलासा, उनकी विशेषताएं और उनकी इच्छाओं और उनकी सीमाओं की पूरी बात बात कुल मिलाकर राजनीति की दूसरी रिपोर्ट भी कंटेंट के लिहाज से बहुत अच्छी की श्रेणी में रखी जा सकती है। कुल 8 पृष्ठों में परोसी गई ये खास रिपोर्ट बहुत खास रही।

उत्तराखंड में आई महप्रलय पर भी फोकस करती एक बेहद खूबसूरत और कंटेंट के लिहाज से अच्छी खबर इसमें शामिल की गई। मन जो सन्न करती तस्वीरों और सैलाब से हुए नुकसान के बारे में फोटो फीचर स्टोरी भी इस अंक में प्रकाशित गई। इंडिया टुडे बाजार की नब्ज जानता है। उसे पता है कि उसके पाठकों को क्या चाहिए। इसी कोशिश में उसने जुलाई माह के पहले अंक में औरतों पर हो रहे जुल्म को लेकर एक खास रिपोर्ट प्रकाशित की। इसमें लिंग परीक्षण के जरिए लड़की ही पैदा करने के लिए डाला जा रहा दबाव, कौमार्य परीक्षण और लड़कियों और महिलाओं को तीसरी आंख के दायरे में जबरन रखने जैसी उन तमाम खबरों को शामिल किया गया जो जून 2013 के आखिरी हफ्ते में या तो अखबारों, टीवी चैनल्स की सुर्खियां बनीं या उन पर अदालतों में फैसले हुए। बेहतरीन फोटो, मजबूत तथ्य और पुलिस की डायरी से निकाली गई कहानियों को इसमें शामिल किया गया।

महिलाओं पर ही एक और खबर प्रकाशित हुई। जो उच्च वर्ग, उच्च मध्यम वर्ग और मध्यम वर्ग की उन महिलाओं पर फोकस थी जो अपने पैरों पर खड़ी हैं। 'बच्चा नहीं चाहिए, हम बहुत खुश हैं' शीर्षक के साथ छपी इस रिपोर्ट में समाज में महिलाओं की बदलती हैसियत और उनकी बदलती सोच को प्रदर्शित करते हुए जो रिपोर्ट छापी गई है उसमें हर तरह का कंटेंट डाला गया है। खासतौर पर सफलता की सीढियां चढ़ चुकी औरतों की पूरी कहानी करीने से पेश की गई है। इसके कंटेंट को और अच्छा बनाने के लिए इसमें मनोविज्ञानी और मनोचिकित्सकों के विचार भी शामिल किए गए हैं।

शख्सियत में फिल्म अभिनेता रणवीर के बारे में एक आलेख है। इसमें फोटो का बेहतरीन इस्तेमाल है। कुलमिलाकर जुलाई 2013 में इंडिया टुडे का पहला अंक कंटेंट के लिहाज से भरापूरा रहा। इंडिया टुडे के दूसरे अंक का प्रकाशन 10 जुलाई को हुआ। जुलाई के पहले हफ्ते में उत्तराखंड में आए जलजले की परतें खुलने लगी थी। आपदा की भयावह तस्वीरें सामने आने लगी थी। जुलाई माह के दूसरे अंक में इंडिया टुडे हिंदी पत्रिका ने इसी महाप्रलय को अपनी आवरण कथा का विषय बनाया। कवर पेज पर जो फोटो प्रयोग की गई वो बेहद कारुणिक थी। कवर पेज पर 'महाप्रलय के बाद' और अंदर 'तांडव' शीर्षक से जो आवरण कथा प्रकाशित हुई उसमें तस्वीरों का इतना बेहतरीन प्रयोग हुआ कि बाकी कंटेंट की जरूरत ही नहीं रह गई। लेकिन फिर भी इस आवरण कथा में जिस तरह ग्राफिक्स के जरिए बादल फटने की पूरी प्रक्रिया बताई गई वो कंटेंट के लिहाज से आवरण कथा को और पैना बना गई। आपदा के कारणों की पड़ताल, पर्यावरण का नजरिया और आने वाले दिनों के लिए इस घटना के संकेत जैसे कंटेंट भी इस कथा में डाले गए। इसको और बेहतर बनाया उस रिपोर्ट ने जिसमें ये बताया गया कि सरकार ने इस आपदा में क्या किया। वो क्या कर सकती थी जो उसने नहीं किया और भविष्य में सरकारों को कैसी तैयारी करनी चाहिए इस तरह की स्थितियों से निपटने के लिए ताकि जानमाल का नुकसान कम से कम हो सके। आपदा के हर पहलू की पूरी खबर इस पत्रिका को विशेष बना गई। इस पूरी रिपोर्ट के लिए पत्रिका ने कुल 28 पृष्ठ खर्च किए जो कम ही लगे।

इंडिया टुडे का जुलाई 2013 का आखिरी और पांचवां अंक प्रकाशित हुआ 31 जुलाई को। इस अंक के आवरण पृष्ठ को युवाओं की तस्वीर के साथ 'जहां जॉब में मजा है' शीर्षक दिया गया। अंदर के पन्नो में 'नौकरी हो तो ऐसी' शीर्षक के साथ 10 पृष्ठों पर जो सामग्री पेश की गई उसमें बताया गया कि देश के युवाओं की नौकरियों को लेकर सोच क्या है। कई नामी संस्थानों के नौकरीशुदा लोगों, महिलाओं से बातचीत, संस्थानों में मिलने वाली सुविधाओं और काम में तेजी लाने और उत्कृष्टता के लिए कंपनियों के द्वारा दिए जा रहे लीक से अलग प्रोत्साहनों के बारे में विस्तार से जानकारी दी गई है। इससे पहले 2 पृष्टों पर एक सर्वे भी प्रकशित किया गया है जिसमें आंकड़ों

के जरिए ये बताने की कोशिश की गई है कि देश का युवा आखिर चाहता क्या है। इसमें ग्राफिक्स और युवाओं की टिप्पणियों के साथ नौकरी के दौरान की मस्ती की कहानियां भी सामिल की गई हैं।

बिहार में मिड डे मील खाने के बाद हुई बच्चों की मौत की बड़ी खबर पर पूरी पड़ताल खास रिपोर्ट में दी गई है। राजनैतिक खबरों में इस अंक में पहली खबर है उन युवाओं पर जो नामी नेताओं के उत्तराधिकारी हैं। '2014 की जमात, नेता एंड संस (प्रा.) लिमिटेड' जैसे आकर्षक शीर्षक के साथ छापी गई इस रिपोर्ट में बताया गया है कि कैसे चुनाव करीब आते ही ताकतवर नेताओं की संताने अपने भविष्य के लिए चिंतित हो उठे हैं और पहले मुकाबले के लिए कैसे तैयारियां कर रहे हैं। इस रिपोर्ट में नेताओं के बेटों के व्यक्तिगत गुणों और राजनैतिक कौशल का परीक्षण भी किया गया है।

माओवाद की पाठशाला शीर्षक के साथ अगली खास रिपोर्ट में खोजी रिपोर्ट पेश की गई है। इसमें बताया गया है कि माओवाद का नेतृत्व आता कहा से है और जहां से आता है वहां के हालात क्या हैं। इस अंक में समाज के तहत एक खास रिपोर्ट उस बच्चे पर फोकस करके प्रकाशित की गई है जिसे एक जज ने देश में पहली बार रिकार्ड मुआवाजा दिलाया है। 'मां कहती है, तुम पहले जैसे हो जाओगे' जैसे दिल को छू लेने वाले शीर्शक के साथ लिखी गई इस रिपोर्ट के बहाने उस बच्चे की कहानी दी गई है जो सरकारी लापरवाही के चलते अपना बहुत कुछ खो चुकने के बाद भी आत्मनिर्भर बन रहा है। कहानी में अदालत का जिक्र इसलिए है क्योंकि लीक से हटकर हाईकोर्ट के जज ने उसे इतना मुआवजा दिया जो मिसाल बन गया।

कुल मिलाकर इंडिया टुडे के जुलाई 2013 के सभी पांच अंक कंटेंट के लिहाज से अच्छे रहे। इन पांचों अंकों में हर तरह के कंटेंट को शामिल किया गया। मध्यवर्ग की रुचि को ध्यान में रखते हुए राजनैतिक खबरों के अलावा रहन सहन और समाज में हो रहे बदलावों पर भी रोचक रिपोर्टें और सेक्स जैसे विषय पर भी बेबाक रिपोर्टिंग जुलाई माह के अंकों में दिखी।

शुक्रवार पत्रिका के जुलाई 2013 में कुल 4 अंक प्रकाशित हुए। पहला अंक 4 जुलाई को प्रकाशित हुआ। इसमें भी उत्तराखंड की भयानक त्रासदी को ही आवरण पृष्ठ पर जगह मिली। फोटो वही थी जो इंडिया टुडे में दिखी। हालांकि फोटो पर इंडिया टुडे का कोई एकाधिकार नहीं था। क्योंकि वो फोटो किसी फ्रीलांसर की खींची हुई थी। जो इतनी अपीलिंग थी कि उसे कोई भी कहीं भी इस्तेमाल किए बिना नहीं रह सकता। आवरण कथा उत्तराखंड में केदारघाटी में आई आपदा पर आधारित थी। जिसमें पत्रिका की खोजी रिपोर्ट कम और उत्तराखंड के उसके टीवी चौनल पार्टनर पी 7 के संवाददाताओं की रिपोर्टें अधिक थी। लेकिन इस आवरण कथा का सबसे उल्लेखनीय पहलू रहा फोटो फीचर। जिसने केंटेंट की सारी कमी को पूरा कर दिया। पर्यावरणविदों के लेखों ने भी बहुत हद तक त्रासदी की कवरेज में कमी की भरपाई अच्छे से की। कंटेंट के लिहाज से त्रासदियों की क्रोनोलॉजी भी एक पूरक की तरह रही। कुल मिलाकर 17 पृष्ठों में त्रासदी की खबरें अच्छे रूप रंग और कंटेंट के साथ प्रकाशित किया गया। इस अंक में 6 राज्यों की बड़ी खबरों पर फोकस रहा तो विशेष के तहत कुल 7 खबरें ली गईं। खेल क्षेत्र से एक और साहित्य क्षेत्र कुल 3 विषय समाहित किए गए। बाकी 9 नियमित स्तंभ अपनी जगह सलामत रहे। राज्यों से और विशेष को मिलाकर देखें तो कुल 13 खबरें पत्रिका में जगह पा सकीं। इनमें से 6 खबरें शुद्ध रूप से राजनीति की रही। खेल क्षेत्र से एक, स्वास्थ्य से एक विज्ञान, तकनीकी से एक और एक खबर अंतरराष्ट्रीय जगत से रही।

शुक्रवार पत्रिका का दूसरा अंक 11 जुलाई को प्रकाशित हुआ। आवरण पृष्ठ धोनी को समर्पित रहा। धोनी जैसा कोई नहीं शीर्षक के साथ इस पृष्ठ पर धोनी के क्लोजअप वाली तस्वीर प्रधान रही। फोर्ब्स पत्रिका के धोनी को पैसा कमाने की मशीन बताने को लेकर उन पर पत्रिका ने आवरण कथा छापी। कुल 12 पृष्टों पर प्रकाशित हुई आवरण कथा कटेंट के लिहाज से संपूर्ण कही जा सकती है। इसमें धोनी के बारे में विस्तार से खोजकर तथ्य तो दिए ही गए साथ में टीम इंडिया के पूर्व सूरमाओं के धोनी के बारे में विचारों को बाक्सों में जगह दी गई। धोनी की शख्सियत के अलग अलग रंगों को मिलाने से आवरण कथा रोचक, बेहतरीन और कंटेंट से लबालब दिखी। इसमें लक्षित राज्यों यूपी, उत्तराखंड, एमपी, बिहार, छत्तीसगढ़ और राजस्थान से कुल 9 खबरें रहीं तो विशेष के तहत सप्ताह की कुल 13 बड़ी और प्रमुख खबरों को पत्रिका में जगह मिली। इनमें राजनीति की खबरें अधिक रही। अर्थव्यवस्था, न्यायपालिका, खेल, अपराध जगत और विज्ञान तकनीक जगत से भी कम से कम एक एक खबर जरूर रही। कुलमिलाकर शुक्रवार पत्रिका का जुलाई माह का दूसरा अंक भी कटेंट के लिहाज से ठीक ठाक रहा। किसी बड़ी खबर का ना तो पूरा

पोस्टमोर्टम हुआ ना कोई खबर छूटी। हालांकि सबमें कुछ कुछ जरुर रहा।

शुक्रवार का तीसरा अंक प्रकाशित हुआ 18 जुलाई को। इसमें आवरण पृष्ठ जोरदार रहा। मुस्लिम वोट बैंक की हकीकत शीर्षक के साथ आवरण पृष्ठ मे लगाई गई ोटो के चलते अंक कफी आकर्षक लगा। इस अंक में राज्यों से और विशेष को मिलाकर कुल 20 खबरों को जगह दी गई। इनमें से आवरण कथा के अलावा 7 अन्य राजनैतिक खबरों को जगह दी गई तो बाकी प्रसंगवश, विशेष, खेल, विज्ञान-तकनीक,स्वास्थ्य और अपराध जगत की भी सप्ताह की एक एक बड़ी खबर जरूर रही। कला साहित्य के प्रति पत्रिका विशेष अनुराग इस अंक में जारी रहा। संपादकीय उत्तराखंड में आई महाप्रलय पर आधरित रही जो पुरानी सी लगी। हालांकि साहित्य मनीषी संपादक विष्णु नागर जी ने इसमें नयापन लाने की भरसक कोशिश जरूर की।

शुक्रवार का जुलाई 2013 का आखिरी अंक 25 जुलाई को प्रकाशित हुआ। आवरण कथा गुजरात में इशरत जहां मुठभेड़ कांड पर फोकस करती रही। इस आवरण कथा के जरिए पत्रिका ने इससे पहले दिल्ली मे हुए बाटला हाउस कांड को भी याद किया। आवरण कथा पुलिस फाइल और तथ्यों के अलावा उतनी ही रही जितनी समाचार पत्रों में छपी। वैल्यू एडीशन के नाम पर कुछ टिप्पणियां जरूर रहीं। लेकिन न्यायपालिका की आलोचना करते हुए एक मानवाधिकार कार्यकर्ता और पेशे से वकील कोलिंन गोंजालविस की टिप्पणी जरूर अच्छी रही। हालांकि हिंदी पट्टी के पाठकों को शायद ही ये टिप्पणी भाई होगी। राजनीति की 4 बड़ी खबरें इस अंक में प्रकाशित हुई। चारों अखबारों में छपी खबरो की विस्तार भर लगीं। लेकिन सीपीआई के महासचिव ए बी वर्धन से खास बातचीत के लिए ये अंक संग्रहणीय बन गया। उनसे जिस तरह बेबाकी से बातचीत हुई और उन्होने जिस तरह बिना लागलपेट के उत्तर दिए वो इस पत्रिका के रिपोर्टर की काबलियत को दिखाता है। फिल्म अभिनेता प्राण पर विशेष आलेख इस पत्रिका का एक और विशेष आकर्षण रहा।

कुल मिलाकर राज्यों से और विशेष के तहत कुल 15 खबरों को पत्रिका के जुलाई माह के आखिरी अंक में जगह मिली। कंटेंट के लिहाज से जुलाई माह का आखिरी अंक भी ठीक ठाक रहा। लेकिन शुक्रवार पत्रिका ने जून और जुलाई दोनों माह में कुल आठ अंको में से एक में भी यूथ यानि इंटरमीडिएट करके आगे की राह देखने वाले युवाओं के लिए कोई पहल नहीं की। ना कोई विशेष सामग्री प्रकाशित की।

आउटलुक के जुलाई 2013 के अंक में उत्तराखंड आपदा को आवरण पृष्ठ पर प्रमुखता नहीं मिली। उसे केवल बाक्स में जगह मिली। बाकी आवरण पृष्ठ रहा उन युवाओं के नाम जो कॉलेज जाने के लिए अग्रसर थे।' भारत के आला प्रोफेशनल कॉलेज' शीर्षक से आवरण पृष्ठ रहा। जो युवाओं की तस्वीर की वजह से काफी आकर्षक लगा। हालांकि हाईलाइटर में दो राजनैतिक खबरों और एक सामाजिक मुद्दे की खबर को भी आवरण पृष्ठ पर जगह मिली। त्रासदी की खबर को कुल 6 पृष्ठों में जगह मिली। इसमें तस्वीरों का इस तरह प्रयोग हुआ कि आधी खबर तस्वीरों के जरिए कही गई और आधी शब्दों के जरिए।

त्राहिमाम शीर्षक के साथ दी गई आवरण कथा में विषय विशेषज्ञों से ना तो बातचीत रही ना क्रोनोलॉजी थी ना कोई ग्राफिक्स। कंटेंट के लिहाज से प्रमुख खबर ठीक ठाक रही। इस पत्रिका के जुलाई 2013 के अंक में राजनीति की केवल 3 बड़ी खबरों को जगह मिल सकी। पहली कांग्रेस संगठन में फेरबदल को लेकर थी तो दूसरी बीजेपी जेडीयू गठबंधन में टूटन को लेकर और तीसरी यूपी में समाजवादी सरकार और पार्टी के बीच संबंधों को लेकर खबर थी। इसके अलावा परिक्रमा स्तंभ में भी दो राजनैतिक खबरों को जगह मिली लेकिन बेहद संक्षेप में।

अंतरराष्ट्रीय जगत की कुल 4 खबरों को आउटलुक पत्रिका के इस अंक में जगह मिली लेकिन बेहद संक्षेप में। पत्रिका में शायद पेज भरने की गरज थी इसीलिए भोजपुरी, हरियाणवी और पंजाबी में फिल्मी और गैर फिल्मी गीतों में अश्लीलता और यौन विकृतियों की भरमार को लेकर समाज स्तंभ के तहत फीचर आलेख दिया गया। इसमें तस्वीर को छोड़ दें तो कुछ भी ऐसा नहीं था जिसे नया कहा जा सके। इशरत जहां मुठभेड़ कांड की कहानी भी बेहद संक्षेप में पत्रिका में शामिल की गई।

आउलुक पत्रिका में मुख्य आवरण कथा 'भारत के आला प्रोफेशनल कॉलेज' को पत्रिका ने खूब दुलार दिया। कुल 31 पृष्ठों में भारत के आला प्रोफेशनल कॉलेज शीर्षक के साथ पेश की गई सामग्री में हर तरह का कंटेंट डालने की कोशिश अधिक दिखी। इसमें जो पहली तस्वीर का इस्तेमाल किया गया वो देश के परंपरागत कॉलेजों के माहौल से भले मेल ना खाती हो लेकिन विदेशी कॉलेजों की झलक खूब दिखाती है।

पत्रिका के इस अंक में नियमित स्तंभों में साहित्य को प्यार पहले की तरह मिला।

कुल मिलाकर फीचर और समसामयिक हलचल की इस पत्रिका में कंटेंट के नाम पर ठीक ठाक वाली स्थिति रही। आवरण कथा के जरिए पत्रिका ने युवाओं के लिए ये अंक संभाल कर रखने लायक बनाने की भरपूर कोशिश जरूर की। इंडिया टुडे ने भी ऐसी कोशिश की लेकिन वो कोशिश कंटेंट के लिहाज से और तुलनात्मक दृष्टिकोण से अधिक बेहतर और सुगठित लगी। कुलमिलाकर इंडिया टुडे, शुक्रवार और आउटलुक के जुलाई 2013 के अंकों में कंटेंट को एक लाइन में विश्लेषित किया जाए तो कहा जा सकता है कि इंडिया टुडे का कंटेंट अधिक बेहतर रहा।

## संदर्भ ग्रंथ सूची


1. रिसर्च मैथेडोलॉजी, डॉ० आर० एन० त्रिवेदी, डॉ० डी० पी० शुक्ला कॉलेज बुक डिपो, नई दिल्ली पृ.सं.370
2. त्रिवेदी, डॉ० आर० एन०, रिसर्च मैथेडोलॉजी, डॉ० डी० पी० शुक्ला कॉलेज बुक डिपो, नई दिल्ली पृ.सं.370
3. वही 2 पृ.सं. 372; ,(वही 3 पृ.सं. 372), (वही 4 पृ.सं. 372), (वही 5 पृ.सं. 372), (वही 6 पृ.सं. 372)
4. इंडिया टुडे साप्ताहिक पत्रिका के 12 माह (अप्रैल 2013 से मार्च 2014) के सभी अंक और विशेषांक, अतिरिक्तांक।
5. शुक्रवार साप्ताहिक पत्रिका के 12 माह (अप्रैल 2013 से मार्च 2014) के सभी अंक और विशेषांक, अतिरिक्तांक।
6. आउटलुक मासिक पत्रिका के 12 माह (अप्रैल 2013 से मार्च 2014) के सभी अंक और विशेषांक, अतिरिक्तांक।


❖❖❖

# विकलांग कल्याण हेतु उपाय एवं सुझाव

**हर्षुल ब्रजेश देशमुख**

शोधार्थी ने ''विकलांग कल्याणार्थ संचालित नीतियों, योजनाओं एवं कार्यक्रमों का मूल्यांकन तथा समाज कार्य हस्तक्षेप की सम्भवानायें'' विषय पर चित्रकूट परिक्षेत्र के विशेष संदर्भ में शोध किया है। गहन शोध अध्ययन के क्रम में अनेक सुझाव सामने आये, जिन पर ध्यान देकर विकलांगता को कम या दूर किया जा सकता है। साथ ही साथ विकलांग कल्याण कार्यो को प्रभावोत्पादक बनाया जा सकता है। इस समय भारत में विकलांगता रोकने के उपाय बहुत कम हैं। विशेष रूप से गाँवों में इसके जल्दी पता लगाने के उपायों का प्रबन्धन नहीं के बराबर है। सरकार ने अब तक विकलांगों की विशेष जनगणना भी नहीं करायी है। कितने लोग विकलांग हैं, उनकी विकलांगता किस प्रकार की है, वे किस वजह से विकलांग हो गये, इस संबंध में कभी इस प्रकार का सर्वेक्षण राष्ट्रीय या राज्य स्तर पर नहीं हुआ। सरकारी संस्थानों, विश्वविद्यालयों, शोध संस्थानों, समाज विज्ञान संस्थानों आदि में इस संबंध में शोध अत्यन्त कम हुए हैं। विकलांगता रोकने के उपायों को याद करने व लोगों तक पहुँचाने के कार्य भी बहुत कम हुए। पल्स पोलियो की दवा पिलाने के अतिरिक्त कोई सघन एवं समेकित अभियान राष्ट्रीय स्तर पर नहीं हुआ है। यद्यपि पल्स पोलियो के राष्ट्रव्यापी सघन अभियान के कारण विकलांगता एवं विकलांगों की आबादी में अप्रत्याशित कमी आई है। 1991 की जनगणना में जहाँ विकलांगों की संख्या दस करोड़ के लगभग और कुल आबादी का दस प्रतिशत थी वहीं 2001 में यह घट कर पाँच प्रतिशत और 2011 की जनगणना में उससे भी आधी ढाई प्रतिशत (कुल विकलांगजनों की संख्या 2 करोड़ 68 लाख 10 हजार 557 मात्र) हो गई है। परन्तु शेष इस बड़ी आबादी के लिए बहुस्तरीय प्रयासों की सघन आवश्यकता है।

इस दिशा में सघन अभियान चलाए जाने की महती आवश्यकता है। गाँव-गाँव में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों में कार्यरत कर्मचारियों को समुचित रूप से प्रशिक्षित किये जाने की आवश्यकता है। विभिन्न प्रचार-माध्यमों के जरिये जन-जागरण किये जाने की भी आवश्यकता है। अखबारों, रेडियो व टेलीविजन पर ऐसे कार्यक्रमों को नियमित रूप से प्रसारित किये जाने की आवश्यकता है ताकि लोगों को विकलांगकता के कारणों व उनसे बचने के उपयों की जानकारी मिल सके। विकलांगता अधिनियम 1995 में यह कहा गया है कि सरकार अपनी आर्थिक क्षमता व विकास योजनाओं के अनुसार यह अभियान चलाएगी। किसी भी सरकार के लिए आर्थिक संसाधनों का बहाना बनाना बहुत आसान है। अत: सरकार के लिए यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि वह अपने विकास योजनाओं का एक निश्चित हिस्सा इस अध्ययन में वर्णित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए खर्च करेगी।

इस अध्ययन के निष्कर्षो के अनुसार सरकार व स्थानीय प्रशासन अपनी आर्थिक क्षमता व विकास योजनाओं के अनुसार विकलांगता को रोकने के लिए निम्न प्रयास कर सकती है-

अ) सरकार सर्वेक्षण, जाँच एवं अनुसंधान करा सकेगी ताकि विकलांगता के जन्म लेने के कारण पता चल सके।

ब) सरकार विकलांगता को रोकने हेतु सभी उपाय करेगी।

स) सरकार सभी बच्चों की कम-से-कम साल में एक बार जाँच करायेगी ताकि उनके विकलांगता के आगामी खतरों से बचाया जा सके।

द) सरकार इस हेतु प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों के कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए प्रावधान करेगी।

इस शोध अध्ययन के फलस्वरूप विकलांगों के कल्याणार्थ अनेक सुझाव दृष्टिगोचर हुए हैं:

क) सरकार प्रत्येक विकलांग विद्यार्थी के लिए 18 वर्ष की आयु तक नि:शुल्क शिक्षा का प्रावधान कर उनके उत्थान का मार्ग प्रशस्त कर सकती है।

**शोध छात्र, समाज कार्य विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी**

ख) विकलांगों को मुक्त विद्यालय एवं विश्वविद्यालयों के द्वारा शिक्षा प्रदान कर उन्हें सहज और सरल रूप से शिक्षित किया जा सकता है।

ग) इलेक्ट्रोनिक मीडिया एवं संचार माध्यमों के द्वारा कक्षाएं और गोष्ठियों का आयोजन कर विकलांगजनों को प्रभावी शिक्षण उपलब्ध हो सकता है।

घ) सरकार स्वयं, सरकारी एजेन्सियों एवं गैर सरकारी संस्थानों के जरिए अनुसंधान कराए जिससे विकलांग व्यक्तियों के काम आने वाले उपकरण, पढाने हेतु उपयुक्त उपकरण तथा सामग्री आदि विकसित हो सके ताकि विकलांग छात्रों को पढने के लिए सामान अवसर मिल सके।

इस समय देश में विकलांगों के रोजगार की समस्या भयावह है।[1] इस वर्ग के अधिकांश व्यक्ति भिक्षावृति के जरिए हीं अपना जीवन यापन कर रहे हैं। सरकारी नौकरियों में इनके लिए आरक्षण नगण्य है। अब तक सिर्फ 'सी' एवं 'डी' श्रेणी की नौकरियों में तीन प्रतिशत आरक्षण विकलांगजनों को मिलता है, वह भी 1977 में जारी एक्सक्युटिव ऑर्डर के तहत। इस आदेश की वैधानिक शक्ति बहुत कम है। तथा कुल सरकारी नौकरियों में अभी तक एक प्रतिशत पद भी विकलांगों द्वारा नहीं भरे जा सके हैं। गैर सरकारी क्षेत्र में विकलांगों के रोजगार की कल्पना करना सम्भव हीं नहीं है। परिणाम स्वरूप विकलांगजन या तो बेरोजगार घुम रहे हैं, अत्यन्त कम वेतन पर दया के पात्र बनकर काम कर रहे हैं या भिक्षावृति हेतु विवश हैं। कहीं-कहीं तो विकलांगजनों के उत्पीड़न, शारीरिक एवं यौन शोषण तथा अप्राकृतिक यौनाचार के उदाहरण भी मिले हैं। अत: सरकारी एवं कारपोरेट क्षेत्र में विकलांगजनों को विशेष प्राथमिकता के तहत उनके योग्य कार्य एवं पद सुनिश्चित किया जाना आवश्यक है।

सरकार के स्तर पर समय-समय पर ऐसी योजनाएं बनाने की आवश्यकता है जिससे विकलांगजनों को सहायक उपकरण मिल सके। सरकार व स्थानीय प्रशासन विकलांग व्यक्तियों के लिए ऐसी योजना तैयार कर सकते हैं ताकि उन्हें निम्न उद्देश्यों के लिए भूमि रियायती दरों पर उपलब्ध हो सकें:

क) आवास हेतु।

ख) व्यवसाय हेतु।

ग) विशेष मनोरंजन केन्द्र स्थापित करने हेतु।

घ) विशेष विद्यालय स्थापित करने हेतु।

ड.) अनुसंधान केन्द्र स्थापित करने हेतु ।

इस समय इस प्रकार के उपाय बहुत कम चल रहे हैं। एलिम्को सरकार की सहायता से कुछ योजनाएं चला रहा है, जिसमें विकलांगों को कैलीपर, वैशाखी आदि नि:शुल्क या रियायती दर पर मिल जाते हैं। कहीं-कहीं इसके लिए काफी दौड़-भाग करनी पड़ती है। अत: इन योजनाओं के सरलीकरण की आवश्यकता है। प्राय: इन योजनाओं में परिवर्तन हो जाता है और इसकी जानकारी विकलांगजनों को नहीं मिल पाती है तथा उन्हें अनावश्यक भाग-दौड़ करनी पड़ती है।

विकलांग अधिनियम 1995 के प्रावधानों को देश में पूरी तरह लागू किये जाने की आवश्यकता है। इससे विकलांगों की आवास और रोजगार की समस्या का निदान हो सकेगा। साथ में मान्यता प्राप्त स्वंयसेवी संस्थाओं को मनोरंजन केन्द्र, विशेष विद्यालय तथा अनुसंधान केन्द्र आदि हेतु भूमि आवंटित करने की भी आवश्यकता है। इसके साथ हीं साथ यह सुनिश्चित करने की आवश्यकता है कि इन सुविधाओं का दुरूपयोग न हो। यदि इस प्रकार की भूमि को कोई गैर विकलांग व्यक्ति खरीदता या अपने लिए उपयोग करता है तो उसे दण्डित किया जाना चाहिए।

इस समय विकलांगता रोकने के उपायों पर बहुत कम अनुसंधान हो रहा है जबकि विकलांग कानून में इसके लिए पर्याप्त उल्लेख किया गया है। अत: सरकार की ओर से ऐसे प्रयासों की अत्यन्त आवश्यकता है। विश्वविद्यालयों एवं अनुसंधान केन्द्रों को हर तरह के प्रात्साहन इस कार्य के लिए देने चाहिए। साथ हीं इनके सामूहिक पुनर्वास की व्यवस्था भी परमावश्यक है।

विकलांगों के लिए कार्यरत संस्थाओं की यथोचित मान्यता एवं सहायता संबंधी प्रावधान हैं। परन्तु विकलांगों हेतु कार्यरत अनेक संस्थाओं को पर्याप्त शासकीय सहायता नहीं मिल पाने की स्थितियां भी शोध अध्ययन के क्रम में दृष्टिगोचर हुई हैं। इस समय पूरे देश में विकलांगों के कल्याण हेतु हजारो संस्थाएं कार्य कर रहीं हैं। जिनमें से अनेक संस्थाओं का कार्य सराहनीय तथा प्रेरक है तो अनेक ऐसी संस्थाएं भी दृष्टिगोचर हुई हैं जिनका ध्यान केवल शासकीय अनुदान प्राप्त करने पर हीं केन्द्रित रहता है। अत: अशासकीय संस्थाओं के कार्यों का प्रभावी अनुश्रवण एवं निरीक्षण करने की आवश्यकता है साथ हीं साथ इन

संस्थाओं का सामाजिक अंकेक्षण भी कराये जाने की आवश्यकता है।

## नि:शक्तजन हितार्थ किये जा सकने वाले कार्यक्रम

प्रस्तुत शोध अध्ययन के क्रम में प्राप्त सुझावों के निष्कर्षत: विकलांगता की रोकथाम, उपचार, पुनर्वास, स्वावलंबन, सम्मान, प्रताड़ना, शिक्षा रोजगार एवं परस्पर चेतना जागरण हेतु निम्नानुसार कार्यक्रम किये जा सकते है।

### *रोकथाम*

1. प्रत्यक्ष टीकाकरण या सहयोग।
2. टीकाकरण हेतु जागरण।
3. वंचित वर्ग व सेवा बस्तियों पर विशेष ध्यान।
4. टीकों की प्रमाणिकता व गुणवत्ता के बाबत जागरण व उचित सलाह।
5. विवाह पूर्व परीक्षण जैसे थैलोसिमिया, सिकल सेल एनीमिया, हीमोंफीलिया, सीएम हेपटाइटिस, इत्यादि।
6. गर्भाधान के दौरान जाँच व उचित निर्देश।
7. विकलांगता पैदा कर सकने वाली दवाइयों व अन्य चीजों के प्रयोग पर उचित निर्देश।
8. सामान्य प्रसव हेतु उचित निर्देश।
9. टी. वी. का उचित उपयोग।
10. उचित व्यायाम, मातृत्व प्रशिक्षण।
11. योग शिक्षा।
12. बहरापन, मतिमंदता, माता-पिता की आनुवांशिक बीमारी की पहचान एवं तदनुसार सेरेब्रल पाल्सी, मंगोलिज्म, शारीरिक विकलांगता हेतु जांच एवं सुझाव।
13. वाहन चालन लाइसेंस प्रणाली को चुस्त बनाना।
14. सड़कों पर निर्देश के फलक लगाना।
15. वाहन के स्पीड पर नियंत्रण।
16. गलत ड्राइविंग के विरूद्ध सख्ती।
17. दुर्घटनाओं के पीड़ितों का त्वरित न्याय।
18. यातायात व्यवस्था में सुधार।
19. यह जागरूकता फैलाना कि वाहन सुविधा के लिए है प्रतियोगिता के लिए नहीं।
20. संगोष्ठी एवं प्राथमिक चिकित्सा प्रशिक्षण।
21. विकलांगता होने पर केवल जेल की सजा नहीं बल्कि क्षतिपूर्ति या पुनर्वास का भार भी दोषी पर दिया जावे।
22. युद्ध रोकने के हरसंभव उपाय।
23. युद्धोपरांत मानवीय दुर्दशा का आंकड़ों सहित चित्रण कर युद्ध के खतरों एवं दुष्परिणाम के प्रति जागरूकता।
24. युद्ध पिपासु के विरूद्ध जनमत बनाना।
25. पूर्व चेतावनी के उपाय
26. महामारी रोकना।
27. प्राथमिक चिकित्सा।
28. त्वरित चिकित्सा।
29. रक्तदान।
30. उपलब्ध वैज्ञानिक साधनों की जानकारी।
31. भूकंपरोधी मकान।
32. बाढ़ नियंत्रण।
33. चल चिकित्सालय।
34. समुद्र किनारें, बर्फिले पहाड़ व ज्वालामुखी के किनारे बसने वालों का प्रशिक्षण।
35. पर्वतारोहण, मछुआरों का प्रशिक्षण।
36. अत्यधिक ठंड व गर्मी की बिमारी के उपाय।
37. ध्वनि प्रदूषण व पर्यावरण प्रदूषण रोकना।
38. शुद्ध पेयजल उपलब्धि।
39. उत्सर्जित जल, मल, कचरे की उचित निकासी व शुद्धिकरण।
40. नदियों व तालाबों की स्वच्छ रख-रखाव।
41. प्लास्टिक कचरे-औद्योगिक उत्सर्जन-पेट्रोलियम व अन्य धुँआ पर परीक्षण व नियंत्रण।
42. समुद्र व नदियों के किनारों की सुरक्षा।
43. विकलांगजनों में पारिवारिक भावना एवं सामाजिक संस्कार का विकास।
44. प्राकृतिक जीवन के प्रति जागरूकता। स्वच्छता।
45. खानपान में संयम।
46. शिक्षा, पौष्टिक आहार, उपयोगी दवाएं।
47. आर्थिक स्वावलंबन। खाद्य पदार्थों में मिलावट पर रोक।
48. केमिकल युक्त संरक्षित खाद्य पदार्थों के प्रयोग पर प्रशिक्षण।
49. कीटनाशक व रासयनिक दवाओं के प्रयोग के कुप्रभाव के प्रति जनजागरूकता।
50. बाल-विवाह पर रोक।
51. संगोष्ठी प्रदर्शनी आदि के द्वारा जनचेतना को बढाना।
52. प्रदर्शनी।
53. लेख, निबंध प्रतियोगिताएं।
54. नाटक, दृश्य श्रव्य कार्यक्रम।

55. रोग निदान शिविर।
56. चिकित्सकीय सुविधाओं की उपलब्धता।
57. नशा निवारण का प्रबन्ध।
58. मनोरोग उपचार की सहज उपलब्धता।
59. श्रवण यंत्र व अन्य उपकरण देना।
60. मंदबुद्धि बच्चों का एवं उनके अभिभावकों का प्रशिक्षण।
61. निशुल्क रोग निदान शिविर।
62. निशुल्क शल्य शिविर (नेत्र, पोलियों, अस्थि रोग, काकलियर प्रत्यारोपण, कटे ओठ कान्ट्रेक्चर आदि)
63. निशुल्क कृत्रिम अंग अन्य उपकरण (कैपीपर्स, बैसाखी, ट्राइसिकल) वितरण शिविर।
64. निशुल्क योग व फिजियोथेरपी शिविर।
65. निशुल्क विकलांगता व रेलवे रियायती प्रमाण पत्र वितरण शिविर।
66. विकलांगों हेतु विशेष स्वचलित वाहन।
67. विकलांगता सुधार हेतु विशेषज्ञों का प्रशिक्षण एवं विशेष अस्पतालों का निर्माण।
68. मंद बुद्धि बच्चों एव अभिवावकों का निशुल्क प्रशिक्षण शिविर।
69. खेलकूद, प्रशिक्षण, प्रोत्साहन व प्रतियोगिताएं।
70. विकलांगों की पहुंच व आवागमन सुविधा हेतु बाधारहित वातावरण का निर्माण।
71. छात्रावास।
72. प्रशिक्षण केन्द्र।
73. कोचिंग सेंटर।
74. छात्रवृत्ति व अन्य प्रोत्साहन।
75. पाठ्य पुस्तक, अन्य शिक्षा सामग्री का नि:शुल्क वितरण।
76. भाषण, निबंध, चित्रकला, कला व संगीत प्रतियोगिताओं के द्वारा विकलांगजनों के प्रति चेतना का विकास।
77. विकलांगता के अनुसार शिक्षण व प्रशिक्षण के कार्यक्रम।
78. दूरदर्शन, आकाशवाणी व अन्य संचार माध्यमों में विकलांगता हेतु कार्यक्रमों के लिए समय का आवंटन।
79. विकलांगता संबंधी साहित्य रचना एवं उनका प्रसार।
80. व्यावसायिक प्रशिक्षण व प्रोत्साहन।
81. छात्रवृत्ति, बिना ब्याज या कम ब्याज पर ऋण दिलाना।
82. शासकीय व अशासकीय सेवाओं में आरक्षण व अवसर का पूर्ण का क्रियान्वयन एवं रिक्त आरक्षित पदों पर नियुक्ति।
83. सामूहिक सहकारी व्यवसाय एवं विपणन व्यवस्था।
84. अनुसंधान कार्यो में नियुक्ति व प्रोत्साहन।
85. दुर्घटना क्षतिपूर्ति, अंतरिम राहत।
86. विकलांगों हेतु व्यवसायों को चिन्हित करना एवं विकलांगजनों को उससे जोड़ने का तंत्र विकसित करना।
87. विवाह योग्य विकलांग युवक युवतियों का परिचय सम्मेलन व सामूहिक विवाह।
88. यह चेतना जाग्रत करना कि विकलांग दम्पति की संतान विकलांग नहीं होती।
89. विकलांग प्रतिभाओं का सार्वजनिक सम्मान व प्रोत्साहन।
90. विकलांगों द्वारा सामाजिक चेतना के कार्यक्रमों में सक्रिय भागीदारी। जैसे- रक्तदान, वृक्षारोपण, जलसंग्रहण, आदि
91. विकलांग सम्मेलन व कार्यशाला (पालन/विकलांग संस्थाओं का विभिन्न विषयों तथा अवसरों पर)।
92. चुनावों में विकलांगजनों को आरक्षण।
93. सामाजिक सुरक्षा सुनिश्चित करने के कार्यक्रम।
94. समाज की मुख्यधारा में जोड़ने के लिए विकलांगों के सहयोग, उन पर दया नहीं।
95. विकलांगों से संवाद में सही शब्दों का चयन।
96. सभी स्तर के कार्यो हेतु समाज व शासन से संपर्क एवं संवाद।
97. ''विकलांग प्रताड़ना अधिनियम'' बनाने हेतु प्रयास। उन की विवशता का लाभ उठाकर अपराध करने वालों को कड़ा दण्ड।
98. विकलांगजनों एवं परिवारों का संगठन।
99. राष्ट्रीय व सामाजिक महत्व के कार्यक्रमों में अवसर दिया जाना।
100. समाज व विकलांग के परस्पर चेतना जागरण पर कार्यक्रम।
101. विकलांगता की वस्तुस्थिति एवं समस्या का समाज में शिक्षण।
102. विकलांग भी रचनात्मक मानव शक्ति के अंग बन सकते है, ऐसी चेतना जाग्रत करना।
103. विकलांगों में सक्षम होने पर समाज के प्रति दायित्वबोध जगाना।

इस सम्पूर्ण शोध अध्ययन का अनुभव मिश्रित है। विकलांगजनों की पीड़ा, परेशानी, शोषण-उत्पीड़न, उपेक्षा का दर्द दृष्टिगोचर हुआ है तो उनके इस कष्टकर जगत में उपलब्धियों, उल्लास एवं आशा का दीप भी दिखा है। आर्थिक उदारीकरण ने वस्तुओं के साथ-साथ व्यक्तियों और उनके संबंधों का भी व्यापारिकरण कर दिया है। जो व्यक्ति अथवा संबंध उपयोगी, लाभदायी और उत्पादक है उसे इस युग में सम्मान एवं स्वीकृति प्राप्त है, अवशेष सबकुछ उपेक्षा का शिकार है। विकलांगजन भी उदारीकरण और भू-मण्डलीकरण के इस दंश के शिकार हैं। हालांकि विकलांगजनों का अतीत और इतिहास गौरवपूर्ण एवं उपलब्धियों से परिपूर्ण रहा है। दुनिया के महान आविष्कारों में विकलांगजनों का भी महान योगदान रहा है।

हम जानते हैं कि 'होमर' अंधा पैदा हुआ था। होमर ने नेत्रविहीन विकलांगता के बावजूद अपने युग की सारी वास्तविकता को गहराई तक देखा और परखा। प्यार हो या युद्ध, मानव-सम्बन्ध हों या शत्रुता के रिश्ते, अलौकिक धारणाएँ हों या धार्मिक आस्थाएँ, मानव-प्रवृति हो या सामाजिक बन्धन, कोई भाव ऐसा नहीं जो महाकवि होमर की दृष्टि से ओझल रहा हो। हम कल्पना की आँखों से इस सच्चाई को देख सकते हैं कि लगभग पाँच वर्ष पूर्व किसी सुयोग्य विकलांग की योग्यता को मुखर होने से परिस्थितियाँ भी नहीं रोक सकीं। किन्तु, आज ऐसा नहीं है। इसका कारण यह है कि तब नैतिक मूल्यों का उतना ह्रास नहीं हुआ था जितना आज हमारे युग में हो रहा है।[3]

विकलांगता आज हमारे लिए मात्र सहानुभूति की उत्प्रेरक बन गई है, जबकि वस्तुतः यह एक जटिल समस्या है। यह समस्या मात्र हमारे देश में ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण विश्व में विकराल रूप धारण कर चुकी है। आज का मानव-समाज अंधे होमर से, किसी अपंग कलाकार से अथवा पैर कटे मूर्तिकार से हमदर्दी तो व्यक्त करता है किन्तु उसके भीतर छिपी हुई योग्यताओं को फलने-फूलने और उजागर होने के अवसर सुलभ नहीं कराता।

मानव-समाज का बहुत बड़ा भाग, जिसमें जन्मजात अपंग, दुर्घटनाओं और बीमारी के कारण अपंग तथा मानसिक रूप से विकृत व्यक्ति आते हैं, ऐसा है, जो हमसे हमारी मानवता और नैतिक कर्त्तव्य के विषय में निरन्तर प्रश्न कर रहा है। और हम हैं कि इस प्रश्न का उत्तर या तो राजनीतिक संदर्भों में देते हैं अथवा इसे दैवी आपदा के हवाले करके छोड़ देते हैं।

भारत की सन् 2011 ई० की जनगणना में प्राप्त आँकड़ों के अनुसार देश में 2 करोड़ 68 लाख 10 हजार 557 व्यक्ति विकलांग हैं। इनमें 18.8 प्रतिशत दृष्टिबाधित, 18.9 प्रतिशत श्रवण बाधित, 7.5 प्रतिशत बधिर, 20.3 प्रतिशत चलने-फिरने में अशक्त, 5.6 दशक मानसिक मंदता के शिकार, 7.9 प्रतिशत बहुविकलांगता क शिकार, 2.7 प्रतिशत प्रमस्तिष्कीय आघात के शिकार और 18.4 प्रतिशत अन्य प्रकार की विकलांगता से ग्रसित हैं।[4]

किन्तु समाजशास्त्रियों का कहना है कि इन आँकड़ों को निश्चित आँकड़े नहीं माना जा सकता। वस्तुतः देश में विकलांगों की संख्या इनसे कहीं ज्यादा है।

## *परिकल्पनाओं का सत्यापन*

प्रस्तुत शोध अध्ययन में शोध अध्ययन से पूर्व निर्धारित परिकल्पनाओं की पुष्टि उद्धृत विभिन्न सारिणियों से होती है। क्रमशः सभी परिकल्पनाओं का सत्यापन विविध सारिणीयों के द्वारा हुआ है। इससे यह स्पष्ट है कि शोध पूर्व नियत सभी परिकल्पनायें सत्य हैं।

प्रस्तुत शोध अध्ययन में प्राप्त अनुभव एवं सीख के आधार पर विकलांगजनों के कल्याण हेतु कुछ महत्वपूर्ण सुझाव निम्नवत् हैं, जिन्हें शासन के स्तर पर अपनी नीतियों, योजनाओं और कार्यक्रमों में समाहित कर इस वर्ग की अपेक्षित सहायता की जा सकती है।

केन्द्र शासन 1995 निःशक्तजन अधिनियम को सभी राज्य में पूरी तरह लागू करे तथा निःशक्तजनों के हित में निम्न आवश्यकताओं को पूरा करें-

1. केन्द्र व सभी राज्य सरकारों में पृथक् विकलांग कल्याण एवं पुनर्वास मंत्रालय की स्थापना की जाये।
2. संसद से लेकर ग्राम पंचायत तक में विकलांगों का 10 प्रतिशत तक आरक्षण दिया जाय।
3. विकलांगों को 1000 रूपये मासिक गुजारा भत्ता दिया जाय।
4. स्वतंत्रता के बाद विकलांगों हेतु केन्द्र सरकार द्वारा किये गये कार्यों पर श्वेत पत्र प्रकाशित किया जाय।
5. स्वतंत्रता के बाद से विकलांगजनों के अनुपात में बजट राशि आवंटित की जाय।
6. विकलांग अत्याचार प्रतिबंधक कानून संसद में पारित किया जाय।

7. संविधान की धारा 15 में नि:शक्तजन शब्द भी जोड़ा जावे ताकि जाति, धर्म, लिंग, वंश, जन्मस्थल और विकलांगता के आधार पर भेदभाव न हो।
8. केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकार की नौकरियों में विकलांगों के लिए 3 प्रतिशत आरक्षण (अ) व (ब) श्रेणी में भी लागू करें।
9. शासन में विकलांगों के लिए आरक्षित रिक्तपदों को अविलंब भरा जाय।
10. दूरदर्शन और आकाशवाणी द्वारा प्रसारित नियमित कार्यक्रमों में प्रतिदिन विकलांगों के हितार्थ 2 घंटे का समय निर्धारित किया जाय।
11. भारत के प्रत्येक जिला मुख्यालय में सभी प्रकार के नि:शक्तजनों हेतु स्कूल, छात्रावास व व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र खोल जाय।
12. सांसद निधि में से नि:शक्तजनों के हित में (व्यक्तिगत, संस्थागत) 10 प्रतिशत राशि व्यय किया जाना निर्धारित किया जाय।

मैंने अपने शोध अध्ययन के क्रम में ऐसा पाया कि समाज के इस बड़े भाग को, जो शारीरिक और मानसिक दृष्टि से अधूरा है, समाज में ससम्मान जीवित रहने का विकल्प एक बड़ा प्रश्न है। यह प्रश्न उस समय और भी जटिल हो जाता है, जब हम देखते हैं कि स्वस्थ्य लोगों की मानसिकता विकलांग लोगों के प्रति केवल दया की होती है।

अध्ययन के क्रम में मुझे उस सुन्दर चपल और बुद्धिमान लड़की की याद हो आयी जो कभी आई०ए०एस० होना चाहती थी। निरन्तर प्रयासरत किन्तु विकलांग। घर पर आने वाला हर व्यक्ति उसकी जोर दया-भरी दृष्टि से देखता और यही कहता, हाय! कितनी सुन्दर लड़की है, किन्तु बेचारी कर कुछ नहीं सकती। अंतत: उसकी मानसिकता भी विकलांगता में बदल गई और उसकी आकांक्षाएं व आशाएं पानी के बुलबुलों की तरह टूट गई। समाज में बहुधा ऐसी घटनाएं और उदाहरण आए दिन परिलक्षित होती रहती है।[5]

अध्ययन के निष्कर्ष स्वरूप यह दृष्टिगोचर होता है कि वस्तुत: एक विकलांग व्यक्ति में उत्पन्न होने वाले 'फ्रस्ट्रेशन' और निराशा भाव के लिए हम स्वस्थ लोग उत्तरदायी हैं, जो किसी अपंग को यह एहसास दिलाने के अपराधी हैं कि वह शारीरिक या मानसिक तौर पर विकृत है। सहानुभूति में व्यक्त किए गए सुन्दर शब्दों के माध्यम से हम उसमें हीनता का भाव जाग्रत करते हैं, परिणामत: हम पुण्य के पर्दे में इस वर्ग के प्रति बहुत बड़ा पाप कर बैठते हैं। हम इस सच्चाई को स्वीकार करने का साहस नहीं जुटा पाते कि अपंग दया का नहीं, सम्मान का, समानता का, सहयोग का और प्यार का सच्चा अधिकारी है। यदि ऐसा हो जाए, तो वे लोग जिनकी विकलांगता में उनका अपना कोई हाथ नहीं, स्वयं हमारे बराबर खड़े होने की शक्ति प्राप्त कर सकेंगे। इसका निदान जो विविध रूपों में दिया जाता है वह इसके दायरे में नही आता मैंने जो निदान इस अध्याय में बताया है वह उसमें शामिल नहीं है और न इस ओर किसी का ध्यान जाता है।

विकलांग वर्ग के विषय में एक बात और भी हुई है। यदि किसी विकलांग ने आत्मबल और साहस से स्वयं को समाज के सामने स्थापित करने का प्रयास किया है और इस सन्दर्भ में उसने कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियां भी प्राप्त की है, तब भी हमने जाने अनजाने उसकी क्रियाशीलता और आकांक्षाओं की हत्या ही की है। याद कीजिए दॉस्तोवस्की नामक उस महान लेखक को, जिसने 'क्राईम एण्ड पनिशमेंट' जैसे विशिष्ट उपन्यास को लिखकर साहित्य-जगत में अपनी अमिट छाप छोड़ी। यहाँ यह भी विचारणीय है कि वह मानसिक रूप से रोगी था। परिवार से, सगे-सम्बन्धियों से, समाज से, समाज से निरन्तर तिरस्कार और अपमान मिलते रहने से अन्त में वह आत्म हत्या करने पर विवश हो गया। कल्पना कीजिए- यदि दॉस्तोवस्ती इन परिस्थितियों में आत्महत्या न करता तो विश्व का साहित्य उसकी महान देन से कितना समृद्ध होता?[6]

यह एक अकेला उदाहरण नहीं है। अधिकांश अपंग लोगों के साथ हमारा रवैया कुछ इसी प्रकार का रहता है, जिस कारण हम अच्छी प्रतिभाओं को पनपने का अवसर नहीं देते, यदि वह अपने बलबूते पर विकसित होने का प्रयास भी करें तो हम उनका मार्ग अवसर कर देने में ही अपना गौरव समझते हैं। यह स्थिति इसलिए भी उत्पन्न होती है कि हम उन्हें अपनी तुलना में भिन्न और हीन समझने की भूल करते रहते हैं। कोई स्वस्थ व्यक्ति क्षणमात्र भी अपने पर दृष्टि नहीं डालता कि व स्वयं भी अपने भीतर मानसिक और वैचारिक स्तर पर कितना विकृत है।

होना यह चाहिए कि हम ऐसे व्यक्ति में, जो किसी कारण कतिपय कमियां लेकर जी रहा है, उन विशेषताओं की खोज करें, जो स्वस्थ लोगों की अपेक्षा उनमें अधिक प्रबल हैं और जिन्हें मुखरित

होने का अवसर नहीं मिल रहा है। इस प्रक्रिया में हम सामूहिक रूप से उस बोझ को हलका करने के साधन खोज पाने में समर्थ होंगे, जो विकलांगों को नजर अंदाज करने के कारण समाज पर दिन-पर-दिन बढ़ता ही जा रहा है।

विकलांग चाहे देश का हो या विदेश का, उसका दर्द एक-सा होता है- मानसिक कष्ट, द्वन्द्व और संघर्ष। उसके दर्द की दवा के वास्ते समाज और शासन को पर्याप्त सूझ-बूझ से काम लेना चाहिए। अपंग लोगों की मात्र शारीरिक आवश्यकताएँ पूरी कर देना ही पर्याप्त नहीं है, हमें उनकी संवेदनात्मक, सामाजिक, शैक्षणिक और व्यवसाय आदि की चिन्ता करते हुए एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व की चिकित्सा करनी चाहिए।

अपंगता चाहे किसी भी प्रकार की हो, अपने को अपंग समझने वाले को मेरी नम्र सलाह है-

1. आप मनुष्य है - निराश न हों।
2. अपंगता का एहसास दुर्बलता है - इसे दूर कीजिये। दूसरों की सहानुभूति के मोहताज न हों। हर कार्य के लिये आत्मनिर्भर बनने का निरन्तर प्रयास करें।

अन्ततः मै यह कहना चाहता हूँ कि विकलांगता के मध्य मानसिक द्वन्द्व करते हुए अपने समाज के इन आधे-अधूरे प्राणियों के प्रति हमारे कर्त्तव्य-बोध को जाग्रत करने वाली इन घटनाओं का स्वागत होना चाहिए। इस भावना के साथ यह शोध समर्पित है।

## सन्दर्भ साहित्य सूची


1. मिश्र, विनोद कुमार, 'विकलांगों के लिए रोजगार', पृष्ठ-6.
2. नि:शक्त चेतना, विशेषांक (2006), अखिल भारतीय विकलांग चेतना परिषद्, विलासपुर (छतीसगढ़)
3. पूर्वोद्धृत।
4. भारत की जनगणना, 2001 एवं 2011.
5. नि:शक्त चेतना, विशेषांक (2006), अखिल भारतीय विकलांग चेतना परिषद्, विलासपुर (छतीसगढ)
6. पूर्वोद्धृत।


❖❖❖

# वाल्मीकिकालीन शासन एवं प्रशासन

**डॉ० पवन कुमार शर्मा**

प्रथमदृष्ट्या देखने पर हमें ऐसा ही आभास होता है कि रामायण में मात्र राम-रावण के सम्बन्ध में ही विस्तार से चर्चा का वर्णन मिलता है जबकि वास्तविकता इसके विपरीत है। जब हम रामायण का विस्तार से अध्ययन करते हैं तो ध्यान में आता है कि रामायण में तत्कालीन समाज के प्रत्येक पहलू पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। चाहे वह राजा हो, मंत्री हो, शासन हो, प्रशासन हो, समाज व्यवस्था हो, अर्थव्यवस्था हो, सुशासन हो, विदेश नीति हो, इहलोक हो या परलोक हो। समाज का कोई पक्ष ऐसा नहीं होता हैं जिस पर विस्तार से चर्चा न की गई हो। भारतीय संस्कृति में रामायण का अपना ही महत्त्व है यद्यपि लोक मानस में यह गहरे तक पैठ रखती है किंतु इसके धार्मिक पक्ष पर विद्वानों ने चर्चा की हैं लेकिन आधुनिक समय में यह अनिवार्य हो जाता है कि प्राचीनकालीन भारत की व्यवस्थाओं को गंभीरता से समझा जाए और उनका आधुनिक दृष्टिकोण से कैसे सदुपयोग हो सकता है इस पर न केवल विचार किया जाए बल्कि विचारोपरान्त मुझे व्यवहार में कैसे लाया जाए पर भी काम करना अनिवार्य है। वाल्मीकि रामायण इस दृष्टिकोण से अति महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है जिसमें इहलौकिक और परलौकिक दोनों ही पक्षों को छूकर मानव कल्याण किया गया हैं। भारतीय समाज परलौकिक दृष्टिकोण से इसको अपना जीवन का अंग सदियों से बनाए हुए है किंतु अब भी यह आवश्यक है कि इहलौकिक दृष्टिकोण से भी इसमें वर्णित विचारों को समाज के सम्मुख लाया जावे। प्रस्तुत शोधपत्र का यही मुख्य उद्देश्य है कि तत्कालीन शासन और प्रशासन संबंधी विचारों से भारत की भावी पीढ़ी को अवगत कराया जावे और इन विचारों से न केवल भारत अपितु संपूर्ण विश्व का कल्याण की विषय वस्तु को प्रत्यक्षत: व्यवहार में लाने के प्रयास किए जायें।

प्राचीन संस्कृत का वाङ्मय या रामायण का अध्ययन करते हैं तो संज्ञान में आता है कि भारत सांस्कृतिक रूप से एक होता हुआ भी राजनीतिक दृष्टि से अनेक छोटे-छोटे राज्यों में या महाराज्यों में विभक्त था। बालकांड में 13वें अध्याय में दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ के समय वशिष्ठ ने सुमंत्र से कहा था कि पृथ्वी पर जो-जो धार्मिक राजा.....हैं को इस यज्ञ में आमंत्रित करों।[1] इससे यह भी अहसास होता है कि राजा दशरथ के अतिरिक्त अन्य राज्य भी थे तभी तो वशिष्ठ उनको आमंत्रित करने के लिए कहते है। इसके बाद वे सुमंत्र को उन समस्त राज्यों का नाम ले-लेकर बुलाने के लिए कहतें है-मिथिला के राजा जनक,[2] काशी के राजा,[3] केकय के राजा राजसिंह,[4] अंगदेश के राजा रोमपाद,[5] कौशलराज भानुमान,[6] मगध के राजा प्राप्तिज्ञ,[7] पूर्व देशों के श्रेष्ठ नरेशों, सिंधु-सौवीर एवं सुराष्ट्र देश के राजा भूपालों कों यहाँ आने का आमंत्रण दो।[8] बाद में राम के विवाह के समय जनक अपने भाई कुशध्वज को बुलाने के लिए सौकाया नगरी में भेजते है।[9] इस प्रकार उस समय में अनेक राज्य विद्यमान थे। वाल्मिक रामायण में भी यही उल्लेख मिलता है कि भगवान् राम के अयोध्या लौट आने पर भी 300 राजाओं से अधिक राजा अयोध्या में ही विराजे हुए थे इन सभी को राम ने सधन्यवाद विदा किया।[10] अंत में ध्यान आता है कि उस समय अयोध्या के अतिरिक्त भी अन्य राष्ट्र थे और ये सभी स्वतन्त्र भी थे। यह भी ध्यातव्य है कि रामायण में कोशल राज्य का क्षेत्रफल बहुत ज्यादा नहीं दर्शाया है क्योंकि राम के वन जाते समय अयोध्या से रथारूढ़ होकर इस सीमा को एक ही दिन में पार कर लिया था।[11] कोशल राज्य बहुत बड़ा नही था किंतु उसका प्रभाव अड़ोस-पड़ोस के राज्यों पर अधिक था क्योंकि जैसे ही कौशल की सीमा समाप्त हुई वैसे ही राम ने पड़ोसी सामन्त राजा के राज्य से होकर यात्रा की और यह राज्य भी सुख-समृद्धि से पूर्ण था।[12]

रामायण में यह भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि उस समय कोई भी गणतंत्र अस्तित्व में नहीं था और उस समय के सभी लोग राजाविहीन राज्य की अवस्था से भलीभांति परिचित

**आचार्य, अध्यक्ष एवं संकाय प्रमुख, समाज विज्ञान संकाय तथा प्रभारी अकादमी,**
**अटल बिहारी वाजपेयी हिंदी विश्वविद्यालय, भोपाल (म.प्र)**

थे। तभी तो वे दशरथ के निधनोपरान्त तुरंत राजा के चयन के लिए वशिष्ठ से आग्रह करते है।[13] तत्कालीन समाज में राजा का पद वंशानुगत था। इक्ष्वाकु वंशावली अध्ययन से इस बात की गहन पुष्टि होती है।

## राजा का निर्वाचन

यद्यपि राजा का पद वंशानुगत था तथापि राजा के निर्वाचन की पद्धति व्यवहार में प्रचलित थी। राजा के चयन में राजा की सभा के अन्य राजाओं की अनुमति अनिवार्य थी। रामायण में भी ऐसा ही उल्लेख है। राजा के निर्वाचन के पूर्णराजा जो कि उस समय उस राज्य का अधिपति होता था वह अपने मंत्रियों की सम्मति से राजा का नाम राज्य की सभा के सम्मुख सर्वसम्मति हेतु प्रस्तुत किया जाता था और सभी की स्वीकृति लेकर उसकी घोषणा की जाती थी।[14-15] यद्यपि दशरथ ने अपने राज्य की सभा से राम को युवराज बनाने की स्वीकृति पूर्व में ही प्राप्त कर ली थी।[16] जैसे मैने ऊपर लिखा है कि राजा का पद वंशानुगत था किंतु उसमें सामन्त राजाओं की स्वीकृति अनिवार्य थे, बिना उनके सहयोग के कोई राजा नहीं बन सकता था। इस प्रकार से व्यवस्था वंशानुगत थी किंतु व्यवहार में लोकतांत्रिक स्वरूप प्रचालित था।[17-18-19]

यद्यपि यह प्रचलन था कि राजा का ज्येष्ठ पुत्र की राज्य का उत्तराधिकारी होता है तथापि यह भी वर्णन मिलता है कि यदि ज्येष्ठ पुत्र राजगुणों से युक्त नहीं है और प्रजा की सुरक्षा करने में असमर्थ हैं तो वह राज्य का उत्तराधिकारी नहीं होता था। वाल्मीकि रामायण में ऐसा वर्णन उपलब्ध है जबकि प्रजा के आग्रह करने करके राजा सगर के ज्येष्ठ पुत्र असंमजस को राज्यपद से वंचित करवाकर उसे निर्वासित जीवन जीने पर मजबूर कर दिया था।[20] ऐसा भी वर्णन मिलता है कि यदि राजा की पसंद ज्येष्ठ के स्थान पर कनिष्ठ पुत्र की होती है तो उसको भी युवराज के पद पर अभिषिक्त किया जाता था।[21] इस प्रकार यह ध्यान में आता है कि सामान्यत: राजा जिस पुत्र को युवराज पद के लिए प्रजा और सभा के सम्मुख प्रकट या प्रस्तुत कर देता था सामान्यत: उसी पर सभी की सम्मति बन जाती होगी। यह भी उल्लेख उपलब्ध है कि यदि राजा का पुत्र नहीं होता था तो उसके भाई को राजा के पद के लिए अभिषिक्त किया जाता था।[22] यह भी परंपरा थी कि राजा के विहीन राज्य न रहे। युवराज ही राजा की मृत्यु या वनागमन के बाद राजपद का अधिकारी होता था तथा बड़े भाई की मृत्यु के बाद राज्य छोटे भाई को दिया जाने तथा बड़े भाई के ज्येष्ठ पुत्र को युवराज के पद पर अभिषिक्त करने की भी परंपरा तत्कालीन व्यवस्था में सम्मिलित थी।[23]

रामायण काल में उपर्युक्त विधि से युवराज और राजा बनने के अतिरिक्त अन्य विधियाँ भी प्रचलन में रही होंगी। क्योंकि रामायण के अध्ययनोपरान्त राम-लक्ष्मण संवाद उपरांत प्रथम प्रकार ध्यान में आता हैं, दूसरा प्रकार राम-दशरथ के संवाद के बाद ध्यान में आता है तथा राम के साथ जिस प्रकार से प्रजा जंगल के लिए साथ-साथ चली गई हैं, से तीसरे प्रकार का ध्यान में आता है।

**प्रथम प्रकार**-इसमें लक्ष्मण राम को राजा को मार कर या कैद कर के राज्य पर आधिपत्य करने की सलाह देता हैं।[24] कौशल्या ने भी इस बात का विरोध नहीं किया।[25] यद्यपि कौशल्या की मानसिकता उस समय स्थिर नहीं थी फिर भी। किंतु राम की धर्मपरायणता ने ऐसा करने की अनुमति नहीं दी और उन्होंने पिता की आज्ञानुसार वनगमन उचित समझा।[26] राम ने लक्ष्मण के सुझाव को शास्त्र परपंरा के विपरीत ही माना।[27]

**दूसरा प्रकार**-यह विचार स्वयं दशरथ ने ही राम को दिया था। इसमें उन्होंने राम से कहा कि ''तुम मुझे बंदी बनाकर स्वयं अयोध्या के राजा बन जाओ।[28] राम ने बहुत ही असहजता से दशरथ के इस आदेश को अस्वीकार कर दिया।[29]

**तीसरा प्रकार**-इसमें युवराज स्वयं ही प्रजा, सेना एवं मंत्रीगणों के लेकर स्वयं अन्यत्र एक नई राजधानी का निर्माण कर ले।[30]

लेकिन राम ने उपरोक्त तीनों उपायों को स्वीकार करने से मना कर दिया। इन संवादों से यह ज्ञात होता है कि इस प्रकार के उपाय यदा-कदा ही सही व्यवहार में आते ही होगें, तभी तो इसका उल्लेख आया हैं।

रामायण में यह भी उल्लेख मिलता है कि यदि राजा अपने जीवित रहते युवराज नियुक्त न कर पाए तो अन्तर्वर्ती काल में राजा का निर्वाचन राजकर्ताओं के हाथ किया जाता था।[31] राजकर्ताओं में वे लोग जो ऐसी अवस्था में राज्य के प्रबंधक की भूमिका मे रहते थें। न्यास के सिद्धांत का भी उल्लेख मिलता है। भरत ने राम के राज्यपद अस्वीकारने के बाद इसी पद्धति से राज्य का संचालन किया था।[32]

## राजा की स्थिति एवं गुण

प्राचीन भारत में राजा को पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि और समस्त प्रजा का सरंक्षक माना जाता था। राजा और प्रजा के मध्य पिता-पुत्र का संबंध होता था। राम ने इसी दृष्टिकोण के अनुरूप बाली से कहा था कि 'वानर श्रेष्ठ! राजा लोग दुर्लभ धर्म, जीवन और लौकिक

अभ्युदय के देने वाले होते हैं, इसमें संशय नही हैं। अत: उनकी हिंसा न करे, उनकी निंदा न करें, उनके प्रति आक्षेप भी न करे और न उनसे अप्रिय वचन ही बोले, क्योंकि वे वास्तव में देवता हैं, जो मनुष्य रूप से इस पृथ्वी पर विचरते रहते है।'[33] लेकिन यहां पर ध्यातव्य है कि राजा को आचरण भी सदाचारी होना चाहिए। प्राचीन काल में सदाचारी को ही राज संचालन की जिम्मेदारी दी जाती थी, इसके अनेक प्रमाण पूर्व में भी उल्लिखित है। इसी प्रकार का वक्तव्य लंकापति रावण का भी है वे मारीच को संबोधित करते हुए कहते है कि निशाचर। अमित तेजस्वी महामनस्वी राजा अग्नि, इन्द्र, सोम, यम और वरुण इन पांचो देवताओं के स्वरूप धारण किए रहते है, इसलिए वे अपने में इन पांचो को युगप्रताप, पराक्रम, सौम्यभाव, दंड और प्रसन्नता भी धारण करते है। अत: सभी अवस्थाओं में सदा राजाओं का सम्मान और पूजन ही करना चाहिए।[34] यहाँ पर यह बात अत्यधिक ध्यान देने वाली है कि राम के द्वारा राजा की स्थिति जो बताई गई है उन्होंने उसी के अनुरूप आचरण किया तो वे यशस्वी अवस्था को प्राप्त हुए और रावण को ज्ञान होते हुए भी अपनी स्थिति के अनुरूप व्यवहार नहीं किया तो अपने सर्वस्व को खोकर अपयश का भागी बना। अत: राजा के लिए यह अनिवार्य था कि वह अपनी स्थिति के अनुरूप ही आचरण करे। वाल्मकि आदर्श राजा के लिए जो बाते उसमें होनी चाहिए के लिए लिखते है आदर्श राज्य. गुणवान्, पराक्रमी, धर्मज्ञ, उपकार मानने वाला, सत्यवक्ता, दृढ़प्रतिज्ञ, सदाचारी समस्त प्राणियों का हितसाधक, विद्वान्, सामर्थ्यशाली, प्रियदर्शन मन पर अधिकार रखने वाला क्रोध को जीतने वाला, कान्तिमान् अनिंदक और संग्राम मे अजेय योद्धा होता है।'[35] राम में ये समस्त गुण विद्यमान थे फलत: वे एक आदर्श राजा के रूप में आज भी स्थापित है और उनका राज्य आदर्श अवस्था को प्राप्त था। इसी अध्याय में बाल्मीकि रामायण में नारद के मुख से भी आदर्श राजा के गुणों का श्रवण करते हुए लिखते है कि आदर्श राजा का व्यक्तित्व आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक होता है। उसके कंधे मोटे भुजाएँ बड़ी-बड़ी ग्रीवा शंख के समान ठोड़ी भरी हुई, छाती चौड़ी, गले के नीचे की हस्ती मांस से छिपी हुई, भुजाएँ घुटनों तक लम्बी, मस्तक सुन्दर, ललाट मध्य, चाल मनोहर, शरीर मध्यम और सुडौल, देह का रंग स्निग्ध, वक्षस्थल भरा हुआ और आँखे बड़ी होती है। मानसिक दृष्टि से वह बुद्धिमान्, नीतिज्ञ वक्ता, ज्ञानी वेद वेदांग के तत्त्व को जानने वाला, धनुर्वेद में प्रवीण, धर्म का ज्ञाता, अखिल शास्त्रों का मर्मज्ञ स्मरण शक्ति से युक्त, तथा प्रतिभासम्पन्न होता है। नैतिक दृष्टि से वह धैर्यवान्, जितेन्द्रिय, सत्यप्रतिज्ञ, पवित्र, यशस्वी, श्रीसंपन्न तथा अच्छे विचार और उदार हृदय वाला होता है।[36]

हनुमानजी के अनुसार "आदर्श राजा पूर्णचन्द्र के समान मनोहर मुख वाला पद्म पत्र के समान विशाल नेत्रों से युक्त, रूप और औदार्य से सम्पन्न तेज, क्षमा, बुद्धि और यश से युक्त, सदाचार, धर्म और चातुर्वर्ण्य का रक्षक, परम प्रकाश स्वरूप, राजनीति में पूर्ण शिक्षित, ब्राह्मणों का उपासक, ज्ञानी शीलवान्, विनम्र, वेद-वेदांग का परिनिष्ठित विद्वान्, और सामुद्रिक शास्त्रों के अनुसार शुभ अंग प्रत्यंगों से युक्त होता है।"[37]

रामायण के अध्ययन से यह भी ज्ञान होता है कि प्रजा भी राजा के विषय में अपने विचार रखती थी। प्रजा के अनुसार, राजा को सत्यवादी, पराक्रमी, इन्द्र के समान दिव्य गुणों से सम्पन्न, धर्म और अर्थ को प्रतिष्ठित करने वाला, चन्द्रमा के समान सुखदायक, पृथ्वी, के समान क्षमाशील, बृहस्पति के समान बुद्धिमान्, इन्द्र के समान शक्तिशाली, शीलवान्, दूसरे के दोषों को न देखने वाला, शान्त, दीन दुखियों को सान्त्वना प्रदायक, मृदुभाषी, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, कोमल स्वभाव वाला, स्थिर बुद्धि, सदैव कल्याणकारी, प्रियवचन वाले, बहुश्रुत विद्वानों, बड़े-बूढ़ो तथा ब्राह्मणों के उपासक, समस्त अस्त्र-शस्त्रों के ज्ञाता, वेदज्ञ, सम्पूर्ण विधाओं मं निष्ठात, गान्धर्ववेद (संगीत) सभी का ज्ञाता, उदार और विशाल हृदय का स्वामी, ग्राम एवं नगर रक्षक, रणकुशल, विजयी, प्रजावत्सल, चतुवर्णों को कर्म में रत रखने वाला, महान् धनुर्धर, हँसमुख, धर्माश्रित, विष्णु की भाँति शोभायमान, रागादिदोषों से रहित, न्यायप्रिय, तथा सूर्य के समान तेजस्वी हो।[38]

इस प्रकार राजाको व्यक्तिगत हितों का पोषक नहीं होना चाहिए। जनमत का सम्मान करने वाला तथा प्रजा के सुख के लिए सदैव तत्पर रहने वाला एवं कर के रूप में प्रजा की आय का छठा मान लेने वाला।

बाली ने भी राजा के विषय में अपने विचारों को प्रकट किया है। वाल्मीकि रामायण की भारी विशेषता है कि उसमें ऐसे राजा जिनका व्यक्तित्व नकारात्मक छवि धारण किए हुए है, ने भी राजा आदि के जो गुण बताए है वे आदर्श एवं अनुकरणीय हैं। यद्यपि ये सभी व्यक्तित्व इन गुणों का समावेश अपने व्यक्तित्व में कर पाने में असफल रहे हैं किन्तु गुणों के यह महत्त्व को समझकर ही उन्होने इनका समुचित बखान किया है। अत: गुणों का महत्त्व और उनका प्रगटीकरण सदैव से ही समाज

में प्रचलित रहा है। चाहे, उनका बखान करने वाला उनको अपने जीवन में अपनाने में सफल न रहा हो। अस्तु। बाली कहता है कि राजा को इंद्रियसंयमी, मन को निग्रह करने वाला, धर्म, धैर्य, पराक्रम और अपराधियों को दण्डित करने वाला होना चाहिए। राजा का नीतिज्ञ और विनम्र तथा दण्ड और अनुग्रह का उपयोग समयानुसार करना चाहिए।[39] यानि राजा को धर्मानुसार शासन करना चाहिए न कि स्वेच्छाचारी भाव से।

## राजा की दिनचर्या

वाल्मीकि ने भी अन्य प्राचीन राजनीतिक चिन्तकों की भाँति ही राजा की दिनचर्या निर्धारित की है किन्तु थोड़ी से दिनचर्या अन्य चिन्तकों से अलग हटकर वर्णन की है।

उत्तरकाण्ड में वाल्मीकि लिखते हैं कि सूर्योदय के पूर्व बन्दिगण आकर राजा को जगाते थे। शय्या त्याग के उपरांत राम दैनन्दिन कार्यों से निवृत्त होकर पदानुकूल वस्त्राभूषण धारण करके अपने कुलदेवता पितरों एवं विप्रों की पूजा करते थे। इसके बाद वे सार्वजनिक कार्यों का निपटारा करते थे। यहाँ पर वे अमात्यों, पुरोहितों, सैनिक अधिकारियों, जानपदों सामंत राजाओं, ऋषियों तथा पौरवर्गों के साथ विचार-विमर्श करते थे। यदि इन कार्यों से समय मिलता था तो वे मुनियों के सान्निध्य में धार्मिक चर्चा करते थे। दोपहर में वे अन्तःपुर में स्थित अशोकवन में सीता के साथ रहते थे। अन्य समय में वे गुप्तचरों के साथ मन्त्रणा में लीन रहते थे।[40] राम प्रतिदिन राजदरबार में उपस्थित होते थे।[41] रामायण काल की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि प्रजा राजा को श्रेष्ठ मानते हुए भी उसी आचरण के अनुकूल अपने हाव-भावों का प्रकटीकरण करती थी। इसलिए राजा भी धर्मानुसार आचरण करके प्रजा को अपने अनुकूल बनाए रखते थे। यही कारण था कि जब राजा के साथ सीता को भी वन गमन करना पड़ा और उन्होंने भी वल्कल धारण किए तो प्रजा ने बहुविध दशरथ की भर्त्सना की।[42] और राजा से इस जघन्य कर्म के चलते प्रजा ने अयोध्या छोड़कर अन्यत्र बसने का भी मन्तव्य प्रकट किया था।[43] तत्कालीन लोक व्यवहार में यदि किसी राजा की प्रजा नगर को छोड़ जाती थी तो यह उसके लिए सबसे बड़ा और कठोर दण्ड होता था तथा तो रावण जैसे राजा ने भी हनुमानजी को मौत के घाट उतारने के आदेश पर विभीषण के द्वारा समझाने पर कि यह लोकनिंदित कर्म है, इसे न करें, तो रावण ने मान लिया था।[44] राजा का यह भी प्रमुख कर्तव्य होता था कि वह राज्य को राजाविहीन न छोड़े, तभी तो तपस्या पर जाने के पूर्व भगीरथ ने राज्य का संचालन मन्त्रियों के सपुर्द कर दिया था।[45] और बाद में गंगावतरण के बाद श्राद्धकर्म से निवृत्त होकर पुनः राज्य का संचालन स्वयं अपने हाथों में ले लिया था।[46] इसी प्रकार का व्यवहार स्वयं राम ने भी किया था यानि राज्य को राजाविहीन नहीं छोड़ा था।[47] राज्य को अकेला छोड़ना उचित नहीं समझा जाता था। राज्य के संचालन के नियम बहुत ही सख्त थे। युवराज भी बिना राजा की आज्ञा के नगर नहीं छोड़ सकता था। तभी तो राम ने चित्रकूट में भरत के आने पर यह प्रश्न किया था कि पिता के जीवित रहते हुए यहाँ (वन) कैसे आ गए।[48] वाल्मीकि रामायण के अयोध्या काण्ड का 100वाँ अध्याय राजा के कर्तव्यों, व्यवहारों, एवं आचरण पर विस्तार से प्रकाश डालता है। इस अध्याय में राम भरत से सभी कुछ जो एक राजा के लिए करणीय है को एक-एक करके पूछते हैं कि तुम धर्मपरायण ब्रह्मवेता और इक्ष्वाकु कुल के आचार्य वशिष्ठजी सामर्थ्यानुसार पूजा तो करते हो। माता कौशल्या के सुख, उत्तम संतान वाली माता सुमित्रा की प्रसन्नता तथा आर्या कैकयी देवी के आनन्द का भी पूछते हैं। यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि उन्होंने तीनों माताओं के लिए तीन शब्द क्रमशः सुख, प्रसम, आनन्द का प्रयोग किया है। यह तीनों शब्द भरत के व्यवहार कुशलता के परिचायक है।

माता कौशल्या के सुख से अभिप्राय है कि ऐसी स्त्री जिसका पति मृत्यु को प्राप्त हो गया और पुत्र तथा पुत्रबधू को वनवास मिल गया, को सुख प्रदान करना राजा का परम कर्तव्य है। क्योंकि कौशल्या ने केवल राम की माताजी नहीं बल्कि वे अयोध्या की महाराज दशरथ की पटरानी भी थीं, यदि ऐसी रानी दुखी हो तो प्रजा में असंतोष व्याप्त होगा, जो कि राज्य ओर राजा के लिए श्रेष्ठकर नहीं है। इस प्रकार से लक्ष्मण जैसे पुत्र की मां जिसने राम के साथ स्वयं भी वन में रहना स्वीकार किया, की प्रसन्नता की प्रजा के लिए अर्थपूर्ण हैं। ऐसी मां की अप्रसन्नता भी राज्य में विद्रोह उत्पन्न कर सकती हैं तथा कैकयी जैसी मां जिसका स्वयं का विवेक एक दासी के हाथों नष्ट हो गया, का आनंद भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अतिमहत्त्वाकांक्षी होकर उसने न केवल पति को खोया बल्कि श्रद्धावान् पुत्र (पुत्रों) से भी विमुख हो गई। अतः इन तीनों के सुख का ध्यान भरत व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही रख सकते थे।

फिर आगे पूछते हैं तुम उत्तम कुल में उत्पन्न, विनयसम्पन्न वहुश्रुत किसी के दोष न देखने वाले तथा शास्त्रोक्त

धर्मों पर निरन्तर दृष्टि रखने वाले हैं, ऐसे पुरोहितों का सत्कार तो करते हो। तुम हवन विधि के ज्ञाता, बुद्धिमान् और सरल स्वभाव वाले बाह्मणों का जिन्हें तुमने अग्निहोत्र कार्य के लिए नियुक्त किया है, वे सदैव ठीक समय पर आकर क्या तुम्हें यह सूचित करते हैं कि इस समय अग्नि में आहुति दे दी गई है और अब अयुध समय में दान करना है। (यहां पर यह बात विशेष ध्यान देने की है कि राम न केवल भरत को उनके कार्य समझा रहें हैं बल्कि उन्हें यह भी बता रहे हैं कि जिन लोगों के साथ तुम्हें रहकर रामराज का संचालन करना हैं के गुण/कर्तव्य क्या हैं, जिससे भरत सभी करणीय/अकरणीय बातों से परिचित हो सकें) वे यह भी पूछते हैं कि हे भरत! क्या तुम देवताओं, पितरों, भृत्यों, गुरुजनों, पिता के समान आदणीय वृद्धों, वैद्यों और बाह्मणों का सम्मान करतें हो? सुधन्वा जिन्होंनें राम सहित चारों भाइयों को बाल्यकाल पढ़ाया के सम्मान करने के लिए पूछते है।

राम भरत को यह भी समझाते हैं कि मंत्रीगण राजा के ही अनुरूप होने चाहिए इसलिए वे पूछते है कि भरत क्या तुमने अपने ही समान शूरवीर, शास्त्रज्ञ, जितेन्द्रिय, कुलीन तथा बाहरी चेष्टाओं से ही मन की बात समझ लेने वाले सुयोग्य व्यक्तियों की मंत्री बनाया है यहाँ पर यह बात स्पष्ट होती है कि प्रत्येक नया राजा अपने मनोनुकूल मंत्री चुनने के लिए स्वतंत्र था। यहाँ आवश्यक नहीं था कि वह विरासत में मिले राज्य की भांति ही विरासत के मंत्रियों को भी स्वीकारे। योग्य मंत्रियों के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए राम कहते है कि भरत अच्छी मंत्रणा ही राजा और राजाओं की विजय का मूल कारण है। वह तभी सफल होती है जब नीति शास्त्र निपुण मंत्री शिरोमणि अमात्य उस मंत्रणा को सदैव गुप्त रखे। राजा को नींद कितनी लेनी चाहिए के विषय में बात करते हुए वे भरत को बताते है कि भरत तुम असमय में ही निद्रा के वशीभूत तो नहीं होते।

समय पर जाग तो जाते हो न? रात के पिछले पहर में अर्थसिद्धि के उपाय पर विचार करते हो न? मंत्रणा करते समय मंत्रियों की संख्या न्यूनतम न हो इस पर प्रकाश डालते हुए वे कहते है कि तुम गूढ़ विषय पर अकेले ही विचार तो नहीं करते? या बहुत लोगों के साथ बैठकर तो मंत्रणा नहीं करते ? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम्हारी गुप्त मंत्रणा फूटकर शत्रु के राज्य तक पहुंच जाती हो। यहाँ पर राम यह समझाते हैं कि किसी भी गूढ़ विषय पर न तो अकेले ही विचार करना चाहिए और न ही अधिक लोगों के साथ। क्योंकि अकेले विचार करने से काम की सिद्धि में संदेह रहता है और अत्यधिक व्यक्तियों के साथ मंत्रणा करने पर गूढ़ बात का प्रकट होने का खतरा रहता है। वे यही पूछते हैं कि यदि कोई भी कार्य जिसका साधन छोटा हो और फल बहुत बड़ा हो, ऐसे कार्य को निश्चय करने के बाद तुम उसे शीघ्र प्रारम्भ कर देते हो न? उसमें विलंब तो नहीं करते। तुम्हारे समस्त कार्य पूर्ण हो जाने पर या पूरे होने के समीप पहुंचने पर ही दूसरे राजाओं को ज्ञात होते हैं न? कहीं ऐसा तो नही कि वे तुम्हारे भावी कार्यक्रमों को वे पहले ही जान लेते हो। तात! तुम्हारे निश्चित किए हुए विचारों को तुम्हारे या मंत्रियों के प्रकट न करने पर भी दूसरे लोग तर्क और युक्तियों द्वारा जान तो नहीं लेते? तथा तुमको और तुम्हारे अमात्यों को दूसरों के गुप्त विचारों का पता तो लगता रहता है न? क्या तुम सहस्रों मूर्खों के बदले एक पण्डित को ही अपने पास रखने की इच्छा रखते हो? क्योंकि विद्वान् पुरुष ही अर्थ संकट के समय महान् कल्याण कर सकता है। अत: तुम्हें सदैव विद्वान् जो कि संख्या में कम होते है को ही प्रश्रय देना चाहिए। तात! तुमने प्रधान व्यक्तियों को प्रधान, मध्यम को मध्यम और निम्न श्रेणी के लोगों को निम्न कार्यों पर नियुक्त किया है न? अर्थात् व्यक्तियों के गुणानुसार ही कार्यों का वितरण/विभाजन किया है? जो घूस न लेते हों, निश्छल हों, बाप-दादों के समय से ही काम करते आ रहे हों तथा बाहर-भीतर से पवित्र एवं श्रेष्ठ हों, ऐसे अमात्यों को ही तुम उत्तम कार्यों में नियुक्त करते हो न?

प्रजा के प्रति राजा और मंत्रियों का व्यवहार कैसा हो? इस पर राम प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि भरत! तुम्हारे राज्य की प्रजा कठोर दण्ड से अत्यन्त उद्विग्न होकर तुम्हारे मंत्रियों का तिरस्कार तो नहीं करती? उसके वे उदाहरण भी देते हैं कि जैसे पवित्र भाजक पतित यजमान का स्त्रियाँ कामचारी पुरुष का तिरस्कार कर देती हैं उसी प्रकार प्रजा भी कठोरतापूर्वक अधिक कर लेने के कारण तुम्हारा अनादर तो नहीं करती। अत: तुम्हें शास्त्रोक्त कर ही संग्रह करना चाहिए।

राजा को किन लोगों से सावधान रहना चाहिए, इस पर वे कहते है कि भरत! जो साम-दाम आदि उपायों के प्रयोग में कुशल, राजनीति शास्त्र का विद्वान्, विश्वासी भृत्यों को गोड़ने में लगा हुआ, शूर तथा राजा के राज्य को हड़प लेने की इच्छा रखने वाला है ऐसे पुरूष को जो राजा नहीं मार डालता है तो वह स्वयं ही उसके हाथों मारा जाता है।

सेनापति की योग्यता पर चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि क्या तुमने सदा संतुष्ट रहने वाले, शूरवीर, धैर्यवान्,

बुद्धिमान्, पवित्र, कुलीन एवं अपने में ही अनुराग रखने वाले रणकर्म दक्ष पुरुष को ही सेनापति बनाया है न? तुम्हारे प्रधान-प्रधान योद्धा (सेनापति) बलवान्, युद्धकुशल और पराक्रमी तो हैं न? क्या तुमने उनके शौर्य की परीक्षा कर ली हैं? तथा क्या वे तुम्हारे द्वारा सत्कार पूर्वक सम्मान पाते रहते है न? यहाँ पर राम समझाते हैं कि यदि उपर्युक्त प्रकार के सैन्य अधिकारियों का तुम सत्कार नहीं करोगे तो शत्रु राजा उनको अपने पक्ष में कर सकता है। सैनिकों को समय पर नियत किया हुआ वेतन एवं भत्ता तो देते हो न? यदि विलम्ब से देते हो तो सैनिकों के कुपित होने की संभावना बढ़ जाती है। परिणामस्वरूप कुछ भी विनाशकारी घट सकता है। क्या मंत्री आदि समस्त प्रधान अधिकारी तुम्हारे प्रति अनुराग तो रखते है? क्या वे एकचित्त रहकर तुम्हारे लिए अपने प्राणों का त्याग करने को तत्पर तो रहते हैं न?

राजदूतों की योग्यता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि भरत! तुमने जिसे राजदूत के पद पर नियुक्त किया है वह पुरुष अपने ही देश का निवासी, विद्वान्, कुशल, प्रतिभाशाली और जैसा कहा जाए, वैसी ही बात दूसरे के सामने कहने वाला और सदसदविवेक युक्त है न?

क्या तुम शत्रु पक्ष के अठारह (मंत्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अन्तर्वेशिक (अन्तःपुर का अध्यक्ष), कारागार अध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, यथायोग्य काम में धन का व्यय करने वाला सचिव, प्रदेष्टा (पहरेदारों को काम बताने वाला), नगराध्यक्ष (कोतवाल) काम निर्माणकर्ता (शिल्पियों का परिचालक), धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, राष्ट्रसीमा-पाल तथा वनरक्षक) और अपने पक्ष के पंद्रह (उपरोक्त अठारह में प्रारंभ के तीन छोड़कर पन्द्रह) अपने पक्ष के हैं। तीर्थों की तीन-तीन अज्ञात गुप्तचरों द्वारा देख-भाल या जाँच-पड़ताल करते रहते हो। शत्रुओं के प्रति राजा का व्यवहार कैसा हो, इस पर वे बताते हैं कि भरत! जिन शत्रुओं को तुमने राज्य से निकाल दिया है, वे यदि फिर लौटकर आते हैं तो तुम उन्हें दुर्बल समझकर उपेक्षा तो नहीं करते। भरत! तुम कभी नास्तिक ब्राह्मणों का संग तो नहीं करते हो? क्योंकि वे बुद्धि को परमार्थ की ओर से विचलित करने में कुशल होते हैं तथा वास्तव में अज्ञानी होते हुए भी अपने को बहुत बड़ा पण्डित मानते हैं। यहाँ पर राम भरत को परमार्थ की महत्ता समझाते हैं। क्योंकि नास्तिकवाद धर्म-शास्त्रों के प्रति नकारात्मक व्यवहार के चलते सामाजिक संबंधों को चरमरा देता है। अयोध्या नगरी जो कि एक श्रेष्ठ नगरी है की रक्षा तो करते हो। कृषि और गौ रक्षा से आजीविका चलाने वाले सभी वैश्य तुम्हारे प्रीतिपात्र है न? क्योंकि कृषि और व्यापार आदि में संलग्न रहने पर ही यह लोग सुखी एवं उन्नतिशील होता है। स्त्रियों के संरक्षण पर भी बल देते है और गुप्त बातों को उन्हें बताने पर सावधान करते हैं। जंगलों के संरक्षण, गौओं की संख्या और उनके संरक्षण की भी बात कहते है। हाथी-हथिनियों के विषय में भी बताते है और आगे कहते हैं कि तुम्हें हथिनियों, घोड़ों और हाथियों के संग्रह से कभी तृप्ति तो नहीं होती। तुम प्रजा की चिन्ता तो करते हो न? प्रजा के लिए तुम सर्व सुलभ तो हो न? क्या तुम्हारे समस्त दुर्गों में धन-धान्य, अस्त्र-शस्त्र, जल, मन्त्र, शिल्पी तथा धुरंधर सैनिकों से भरे-पूरे रहते है न? क्या तुम आय-व्यय में समन्वय बनाकर रखते हो? खजाने की अपात्रों से रक्षा तो करते हो न? तुम्हारे धन का व्यय देवता, पितर, ब्राह्मण, अभ्यागत, योद्धा तथा मित्रों के लिए ही तो होता है?

निर्दोषों को हमेशा दण्डित तो नहीं किया जाता है। तुम्हारे राज्य में घूस लेकर दोषियों को छोड़ तो नही दिया जाता हैं। धनी और गरीब के मध्य भेद तो नहीं किया जाता क्योंकि ऐसा करने से राज्य का नाश अवश्यंभावी है। गुरुजनों, वृद्धों, तपस्वियों, देवताओं, अतिथियों चैत्य वृक्षों और समस्त पूर्ण काम ब्राह्मणों को नमस्कार करते हो ना! तुम धर्म और अधर्म को एक-दूसरे का पूरक मानते हो ना, बाधक तो नहीं। तुम धर्म, अर्थ, काम को समयानुसार तो संपादित करते हो। प्रजा तो तुम्हारे कल्याण की कामना में रत रहती है ना!

राजा के लिए जो चौदह दोष हैं उनकी ओर राम भरत का ध्यानाकर्षित करते हैं और उन्हें सावधान रहने को कहते है। वे चौदह दोष हैं- नास्तिकता, असत्य भाषण, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानी पुरुषों का संग न करना, राजकार्यों के विषय में अकेले ही विचार करना, प्रयोजन को न समझने वाले विपरीतदर्शी मूर्खों से सलाह लेना, निश्चित किए हुए कार्यों को शीघ्र प्रारंभ न करना, गुप्त मंत्रणा को सुरक्षित न रखकर प्रकट कर देना, मांगलिक कार्यों का अनुष्ठान न करना तथा सब शत्रुओं पर एक ही साथ चढ़ाई कर देना। आगे वे राजा के धारण करने योग्य गुणों का बखान करते है और भरत से पूछते है कि तुम इन्हें धारण तो करते हो न? वे पूछते है कि भरत! दश वर्ग (काम से उत्पन्न होने वाले दस दोषों को दस वर्ग कहते है ये राजा के लिए सर्वथा त्याज्य है और यदि कोई राजा इन्हे ग्रहण कर लेता है तो उसका नाश अवश्यंभावी है। मनु ने इसको इस प्रकार कहा है- आखेट,

जुआ, दिन में सोना, दूसरों की निंदा करना, स्त्री में आसक्त होना, मद्यपान, नाचना, गाना, बाजा बजाना, और व्यर्थ घूमना) पंचवर्ग- पांच प्रकार के दुर्ग-जलदुर्ग, पर्वतदुर्ग, वृक्षदुर्ग, ईरिण दुर्ग, (जहां पर किसी प्रकार की खेती नहीं होती) इन सभी दुर्गों का समयानुसार उपयोग करके राजा को स्वयं की रक्षा करना चाहिए। चतुवर्ग- साम, दाम, दंड, भेद। इस प्रकार की नीति को चतुवर्ग कहा जाता हैं। राजा को चाहिए कि वह यथा समय इसका भी प्रयोग करके राजधर्म और राज्य की रक्षा करे । सप्तवर्ग- राजा, मंत्री राष्ट्र, किला, कोष, सेना और मित्र, ये सप्त वर्ग कहे गये है। ये ही राज्य के सात अंग हैं। इनका आप से घनिष्ठ संबंध है। इनके परस्पर संबंध के आधार पर जब राजा कार्य करता हैं तो राज्य की वृद्धि होती हैं। अष्टवर्ग-चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दोषदर्शन, अर्थदूषण वाणी की कठोरता और दंड की कठोरता में क्रोध से उत्पन्न होने वाले दोष अष्ट वर्ग हैं। त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ और काम या उत्साहशक्ति, प्रभुशक्ति तथा मंत्रशक्ति को त्रिवर्ग कहते है। तीन विद्या- त्रयी, वार्ता और दण्डनीति को तीन विद्या कहा जाता है। त्रयी में वेदों का अध्ययन, वार्ता में कृषि, गौरक्षा वाणिज्य तथा नीतिशास्त्र का नाम दण्डनीति माना गया है। बुद्धि के द्वारा इन्द्रियों को जीतना, छः गुण- संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय को षड्गुण में सम्मिलित माना जाता है। इनमें शत्रु से मेल रखना संधि, इससे लड़ाई छेडना विग्रह, आक्रमण करना यान, अवसर की प्रतीक्षा में बैठे रहना आसन, दुरंगी नीति बरतना द्वैधीभाव और अपने से बलवान् राजा की शरण लेना सभाश्रय कहलाता है। देवी ओर मानुषी बाधाएँ- आग लगना, बाढ़ आना, बीमारी फैलना, अकाल पड़ना और महामारी का प्रकोप होना ये पांचों दैवी बाधाएँ कहलाती है। राज्य के अधिकारियों, चोरों, शत्रुओं और राजा के प्रिय व्यक्तियों से तथा स्वयं राजा के लोभ से जो भय प्राप्त होता है उसे मानुषी बाधा कहते है। राजा के नीति पूर्ण कार्य-शत्रु राजा के सेवकों में से जिनको वेतन न मिला हो, जो अपमानित किए गए हों, जो अपने मालिक के किसी बर्ताव से कुपित हों तथा जिन्हें भय दिखाकर डराया गया हो, ऐसे लोगों को मनचाही वस्तु देकर अपने पक्ष में कर लेना राजा का नीतिपूर्ण काम माना गया हैं। विंशति वर्ग-बालक, वृद्ध, दीर्घकाल का रोगी, जातिच्युत, डरपोक, भीरु मनुष्यों के साथ रहने वाला, लोभी, लालची लोगों का आश्रय देने वाला, मंत्री, सेनापति आदि प्रकृतियों की असंतुष्ट रखने वाला, विषयों में आसक्त, चंचलचित्त मनुष्यों से सलाह लेने वाला, देवता और ब्राह्मणों की निन्दा करने वाला, दैव का मारा हुआ, भाग्य के भरोसे पुरुषार्थ न करने वाला, दुर्भिक्ष से पीड़ित, सैनिक कष्ट से युक्त (सेनारहित), स्वदेश में न रहने वाला, अधिक शत्रुओं वाला, अकाल (क्रूर ग्रहदशा आदि से युक्त) और सत्यधर्म से रहित ये बीस प्रकार के राजा सन्धि के योग्य नहीं माने गये हैं और इन्हीं को विंशति वर्ग के नाम से कहा गया है। प्रकृति मण्डल-राज्य के स्वामी, अमात्य, सुहृत्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना राज्य के इन सात अंगों को ही प्रकृति का मण्डल कहा गया है। कोई-कोई विद्वान् यह मानता है कि मन्त्री, राष्ट्र, किला, कोष, और दण्ड (सेना), ये पाँच प्रकृतियाँ अलग हैं और बारह राजाओं के समूह को मण्डल कहा गया है। दो-दो गुणों की योनिभूत संधि और विग्रह-द्वैधीभाव और समाश्रय में इनकी योनिसंधि है और यान तथा आसन इनकी योनिविग्रह है, अर्थात् प्रथम दो संधि मूलक और अंतिम दो विग्रह मूलक हैं।

राम भरत से कहते है कि तुम इनमें से त्यागने योग्य दोषों को त्यागकर ग्रहण करने योग्य गुणों को ग्रहण करते हो न?

मंत्रियों से अलग-अलग और सामूहिक सलाह करते हो न? क्या तुम वेदों के अनुरूप कार्य करते हो और क्या तुम्हारी क्रियाएं सुफल हैं। क्या तुम्हारी स्त्रियां भी सुफल है और क्या तुम्हारा शास्त्रज्ञान भी विनय आदि गुणों का उत्पादक होकर सुफल हुआ है। आगे वे कहते है कि भरत तुम स्वादिष्ट अन्न स्वयं ही तो नही खा जाते? उसकी आशा रखने वाले मित्रों को भी देने हो न? अंत में वे कहते है कि राजन! इस प्रकार धर्म के अनुसार दण्ड धारण करने वाला विद्वान् राजा प्रजाओं का पालन करके समूची पृथ्वी को यथावत् रूप से अपने अधिकार में कर लेता है तथा देहत्याग के बाद स्वर्ग को जाता है।[49]

## राजा का राज्याभिषेक

वाल्मीकि रामायण का विस्तार से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उसमें राम, सुग्रीव एवं विभीषण तथा कालान्तर में राम, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुध्न के पुत्रों के राज्याभिषेक का उल्लेख किया गया हैं। किंतु इसमें सर्वाधिक विस्तार से वर्णन राम और सुग्रीव के ही राज्यभिषेकों का है। राज्याभिषेक प्रणाली को समझने के लिए अयोध्याकाण्ड के राम के राज्यभिषेक के पुनः राज्य पर आरूढ़ होने की प्रक्रिया एवं बाद में युद्धकाण्ड में राम के राज्याभिषेक की प्रक्रिया दोनों के संयुक्त रूप से अध्ययन करने पर ही यह

व्यवस्था स्पष्ट हो सकेगी।[50] इन सब के अध्ययन से ज्ञात होता है कि राजा के अभिषेक का मुख्य दायित्व या प्रबंधक की भूमिका राजपुरोहित के द्वारा निर्वहन की जाती थी।

राजा के राज्यभिषेक में सामान्यत: चारों समुद्रों, गंगा आदि समस्त नदियों, सरोवरों और तीर्थों का जल, सुवर्ण, रत्न, देवपूजन की सामग्री सब प्रकार की औषधियाँ, श्वेत पुष्पों की मालाएँ, लावा, घी, नए वस्त्र, सुसज्जित राजकीय रथ, शस्त्रास्त्र, चतुरंगिणी सेना, उत्तम लक्षणों से युक्त हाथी, दो चँवर, ध्वजा, सुवर्ण भूषित श्वेत छत्र, सांड के सींग, अनुलेपन अंगराज, चंदन, अक्षत, प्रियंगु, दही, सुंदर एवं बहुमूल्य जूते, अग्नि के समान दैदीप्यमान सोने के सौ कलश, सोने से मंढे सींगो वाला एक सांड, व्याघ्र चर्म, अभिषेक के लिए सोने का पीढ़ा तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ। ये आवश्यक वस्तुएँ एकत्रित करके अग्निशाला में रख दी जाती थी। स्वस्तिवाचन करने वाले ब्राह्मणों के लिए आसन-दक्षिणा आदि का प्रबंध रहता था। अलंकृत कन्याएँ एवं गणिकाएँ उपस्थिति रहतीं थीं। अभिषेक के पूर्णदिवस युवराज एवं उनकी रानी दोनों उपवास रखते थे एवं दोनों ही भगवान नारायण का पूजन करते थे और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते थे। राज्यभिषेक के दिन प्रात:काल ब्राह्मणादियों को दही-घी-दूध आदि का उत्तम भोजन कराया जाता था तथा प्रचुर मात्रा में दान-दक्षिणा भी दी जाती थी। संपूर्ण नगर को सजाया जाता था और राजमार्गों पर छिड़काव किया जाता था।[51]

रामायण काल की यह भी विशेषता थी कि युवराज का राज्यभिषेक मात्र राजा की इच्छा भर से संपन्न न हो पाता था बल्कि इसके लिए राज्य के विभिन्न वर्गों की सहमति भी राजा के द्वारा ली जाती थी।[52] ऐसा संभवत: इसलिए किया जाता होगा जिससे युवराज के सुहृदयी एवं विरोधियों का अहसास हो जावे। इसलिए रामायण में सभी प्रकार से दशरथ राम को युवराज बनाते समय संतुष्टि हो लेना चाहते थे। इन्ही निमित्त विभिन्न राज्यों के राजा एवं (मिथिलापति जनक एवं कैकयराज को छोड़कर) युवराज की घोषणा के समय दशरथ के दरबार में उपस्थित थे।[53] इसका अभिप्राय यह था कि वे सभी राजा राम के युवराज पद पर अभिषिक्त होने के लिए सहमत थे। मात्र जनक और कैकयराज को आमंत्रण देने का इरादा दशरथ बाद में रखते थे।[54] यहीं पर दशरथ से चूक हो गई।यदि कैकयराज को भी समय रहते बुला लिया जाता था तो संभवत: परिदृश्य कुछ और ही होता। अस्तु! इसी प्रकार दशरथ के दरबार में नरेशों के अतिरिक्त नगर और जनपद के प्रधान-प्रधान व्यक्ति भी उपस्थित थे।[55] इस प्रकार युवराज के अभिषेक होने के पूर्व सभी की सहमति होनी अनिवार्य थी। दशरथ के इस कथन से यह भी अभिप्राय निकलता है कि यदि कोई भी व्यक्ति युवराज के चयन से असहमत होता होगा तो उसे अपना पक्ष रखने का अधिकार भी प्राप्त था।[56] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यदि राजा के द्वारा चयनित व्यक्ति जिसको राजा युवराज बनाना चाहता है यदि सर्वसम्मति न बन पावे तो या तो सर्वसम्मति बनाने का प्रयास किये जाते होंगे या अन्य मार्गों को तलाशा जाता होगा। इस प्रकार से युवराज के अभिषेक में सर्वसम्मति एक अनिवार्य घटक थी।

रामायण का अध्ययन करने पर यह भी संज्ञान में आता है कि राजकाज के संचालन के लिए तीन मुख्य स्तंभ होते थे। 1. सभा 2. मंत्रिपरिषद् तथा 3. शासनधिकारी इन्हें तीर्थ भी कहा जाता था।

## सभा

सभा का स्वरूप औपचारिक और अनौपचारिक दोनों ही प्रकार का था। जनता द्वारा यत्र-तत्र वार्ता करने के स्थानों को भी सभा के रूप में उल्लेख मिलता है।[57] एक अन्य स्थान पर भी यह उल्लेख आया है कि जहाँ पर राजा के द्वारा का अधिवेशन बुलाया जाता था, उसको भी सभा ही कहा जाता था।[58] इस प्रकार सभा के दोनों का उल्लेख है किंतु शासन के संचालन में दूसरे ही प्रकार की सभा का स्थान महत्त्वपूर्ण रहता होगा। सभा के सदस्यों के रूप में वे सभी सम्मिलित होते है जो कि शासन के संचालन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वहन करते है।[59] विशेष अवसरों पर सभा में बाहरी व्यक्तियों को भी विशिष्ट आमंत्रित सदस्य के रूप में बुलाने की परंपरा थी। जैसे भरत के राज्याभिषेक के समय उन के मामा युधाजित को आमंत्रित किया गया था।[60],

राज्य के समस्त महत्त्वपूर्ण निर्णयों में सभा की स्वीकृति अनिवार्य थी। इसलिए संपूर्ण रामायण के अनेक स्थानों पर राजा का समय-समय पर सभा से भरा पूरा होने का उल्लेख मिलता है। चाहे वह राम के राज्याभिषेक का अवसर हो या भरत के। सामान्य कार्य से लेकर युद्ध आदि कार्यों का संपादन भी सभा की स्वीकृति के ही बाद लिया जाता था। ऐसा इसलिए होता था क्योंकि सभा में राज्य के सभी वर्णों का प्रतिनिधित्व होता था। अत: रामायण के अध्ययनोपरांत यह ध्यान में आता है कि तत्कालीन शासन व्यवस्था समाज के प्रति उत्तरदायी होती थी और समाज स्वयं के अनुरूप (समाज के हितकारक व्यवस्था)

व्यवस्था का निर्माण करवाता था। यदि कोई व्यवस्था समाज के लिये हानिकारक होती थी तो समाज स्पष्ट रूप से उस व्यवस्था का न केवल विरोध करता था बल्कि उसके परिवर्तन के भी भरसक प्रयास करता था और सफल होता था।[61] उपर्युक्त उद्धरण समाज की सशक्तता के परिचायक हैं। सभा सशक्त थी और राजा पर स्वयं के द्वारा नियत्रंण रखती थी। सभा के विशेष अधिवेशन बुलाने की भी परंपरा थी। दशरथ की मृत्यु के बाद नया राजा चनुने के लिए तथा दशरथ की अन्त्येष्टि के बाद पुनः भरत को दशरथ और कैकयी की इच्छानुसार राजगद्दी स्वीकारने के लिए वशिष्ठ ने विशेष अधिवेशन बुलाया था।[62] इस प्रकार के अधिवेशन न केवल शांतिकाल में आहूत किए जाते थे बल्कि आपातकाल (युद्ध के समय) में भी बुलाए जाते थे।[63] सभा के आयोजन की सूचना दूत या संदेशवाहकों के द्वारा दी जाती थी और राजा की अनुपस्थिति में सभा का आयोजन पुरोहित या मंत्री द्वारा भी किया जा सकता था।[64] उनके आवास आदि की व्यवस्था भी होती थी।[65]

अयोध्या का सभा भवन सभवतः महल के ही साथ रहा होगा क्योंकि वाल्मीकि स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि दशरथ महल से निकलकर तुरंत सभाभवन में आए तथा सभा विसर्जन के बाद महल में प्रविष्ट हो गए।[66] सभाभवन को प्रजा के दर्शन के लिए या समस्त कार्यवाही से प्रजा अवगत हो सके या राज-काज के क्रियाकलापों से सामान्य जन भी परिचित हो सके इसलिए सभाभवन तीन ओर से खुला रहा होगा क्योंकि दशरथ ने राजमार्ग से राम को सीधे आते हुए देख लिया था।[67] लेकिन लंका का परिदृश्य इससे भिन्न था क्योंकि रावण अपने महल से सभाभवन के लिए रथ पर चढ़कर एक जुलूस के रूप में जाता है।[68]

## *सभा का शिष्टाचार*

सभा का अध्यक्ष राजा होता था उसकी अनुपस्थिति में पुरोहित सभा की अध्यक्षता करता था, ऐसा सामान्यतः आपातकाल में ही होता था। सभाभवन में ही सर्वप्रथम राजा सुसज्जित वेशभूषा में प्रविष्ट होता था और आसन ग्रहण करता था। सभासद् भी विभिन्न प्रकार की वेशभूषा से सुसज्जित होते थे।[69] सभाभवन में सर्वप्रथम राजा आसन ग्रहण करता था और तदोपरांत सभी सभासद् राजा की ओर मुख करके बैठते थे। सभा के मध्य में राजा का आसन होता था उसके पास युवराज बैठता था।[70] सामन्तों क्षत्रियों तथा वैश्यों के लिए भी स्थान नियत होते थे।[71] बोलने की अनुमति के बाद ही सभासद् बोलने के लिए उद्यत होते थे।[72]

## *सभासदों के कर्तव्य तथा कार्यवाही*

सभासदों के लिए यह अभीष्ट होता था कि वे योग्य हों और सद्भाव तथा वय में भी वरिष्ठ (वृद्ध) हों तो वे स्पष्टवादी भी हों। उनका यह भी परम कर्तव्य होता था कि वे या तो राजा जो कि सभा का सभापति होता था, का प्रस्तुत प्रस्ताव स्वीकार करें या फिर उस प्रस्ताव से श्रेष्ठ प्रस्ताव राजा के सम्मुख प्रस्तुत करें। तभी तो दशरथ ने सभा के सम्मुख राम को युवराज पद पर अभिषिक्त करने का प्रस्ताव रखा। लेकिन निर्णय लेने का अधिकार सभा सदों को ही था।[73] इस प्रकार या तो सभासद राजा के प्रस्ताव को स्वीकार करें या फिर उससे श्रेष्ठ विकल्प सुझावें। अतः सभासदों के पास अत्यधिक गूढ़ दायित्व होता था और इसके लिए उन्हें स्वयं के विवेक का उपयोग करना होता था जो कि अनुभवजन्य होता था। समान्यतः कोई भी प्रस्ताव सभा के सम्मुख रखने से पूर्व राजा अपने मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करके उसके पारित होने पर आश्वस्त हो लेता था तभी वह उसे सभा के सम्मुख प्रस्तुत करता था।[74] इस प्रकार दशरथ ने राम को युवराज पद पर अभिषिक्त करने के लिए अपने मन्त्रियों के सम्मुख प्रस्ताव रखा और मन्त्रियों की सम्मति के बाद ही वे उसे सभा के मध्य ले गए। सभा ने भी राम के युवराज के अभिषेक का प्रस्ताव करतल ध्वनि से पारित कर दिया। इससे यह ज्ञात होता है कि राजा का प्रस्ताव जो कि सभा में प्रस्तुत किया जाता था वह सभी प्रकार से श्रेष्ठ होना चाहिए जिससे सभा उसका विरोध न कर सके। तभी तो दशरथ कैकयी से कहते हैं कि राम के अभिषेक का निर्णय मैने सुहृदों के मध्य लिया है अब इसे कैसे वापिस लूँ।[75] आगे फिर पुनः कहते हैं कि मैंने राम के राज्याभिषेक की बात भरी सभा में कही है।[76] इस प्रकार से ध्यान में आता है कि सभा में पारित होने के बाद कोई भी निर्णय राजा के द्वारा भी वापिस लेना अशोभनीय होता था। फिर भी कैकयी के दबाव में आकर दशरथ जैसे राजा ने उसी सभा के निर्णय को पलट कर भरत को युवराज बनाने का निश्चय कर लिया। इससे यह विदित होता है कि अन्तिम शक्ति राजा के ही पास होती थी, जैसे आज भी यदि कोई कानून लागू करवाना हो तो उसको लागू करने के लिए अध्यादेश का सहारा लिया जाता है और परिस्थितियों की अनुकूलता के समय उसे संसद से पारित करवा लेते हैं (यद्यपि इसका एक निश्चित समय होता है)।

अयोध्या की ही भांति लंका में रावण भी अपने सभासदों का सम्मान करता है। लेकिन जहाँ पर सभासदों की राय

का सम्मान नहीं हुआ वहीं पर अनर्थ हुआ। अयोध्या में दशरथ के नाश का कारण सभा के निर्णय के विपरीत स्वयं के निर्णय को लागू करने थी आज्ञा था और ऐसा ही लंका में रावण के भी साथ हुआ। वाल्मीकि रामायण में रावण विशेष अधिवेशन को दो बार बुलाता है।[77] (1) जब हनुमान जी ने लंका को जलाकर राख कर दिया उसके बाद तथा (2) लंका पर राम के आक्रमण के समय।[78] यद्यपि रावण स्वयं भी नीति-निपुण था यद्यपि वह स्वयं के निर्णय पर सभा की स्वीकृति चाहता था। तभी तो वह सभासदों के सम्मुख विचार व्यक्त करता हुआ कहता है कि ''राजा तीन प्रकार के होते हैं- (1) जो राजा अपने हितकारियों के साथ परामर्श करके कार्य प्रारंभ करता है। वह उत्तम श्रेणी का होता है। (2) जो अकेला ही विचार करता है वह मध्यम श्रेणी का तथा (3) जो अहंकारवश गुण-दोषों पर विचार करके कार्य करता है। वह अधम श्रेणी का होता है।[79]

इस प्रकार अध्ययन से यह ध्यान में आता है कि सभासदों के ऊपर राजा को सुयोग्य परामर्श देने का गूढ़ दायित्व था और इसका निर्वहन उन्हें विना भय के करना चाहिए। सभा का महत्त्व था, उसकी सुरक्षा विशेषकर युद्धकाल की आपातकालीन सभा की बैठक की और भी महत्त्वपूर्ण होती थी।[80] सभा के मर्म को समझकर अध्यक्षीय उद्‌बोधन के माध्यम से राजा छूने की कोशिश करता था। रावण ने भी किया। जैसाकि मैंने ऊपर भी लिखा है कि सभासद अपने विवेक का प्रयोग करने को स्वतंत्र थे और यह भी अपेक्षा रखते होंगे कि प्रत्येक कार्य जो राज्य से संबन्धित हैं। पर राजा निर्णय लेने के पूर्व सभा की अनुमति ले। तभी तो कुंभकर्ण सभा में सरोष रावण से कहता है- ''महाराज आपको सीताहरण के पूर्व ही हम से परामर्श करना चाहिए था। आपने बिना विचारे ही अनुचित कार्य कर डाला। किन्तु बाद में कुंभकर्ण ने रावण का साथ दिया।[81] विभीषण ने भी सभासद के रूप में सत्य का उद्‌घाटन स्वयं का कर्तव्य समझा।[82] और बाद में वे रावण को छोड़कर चले गए। रावण की सभा के अध्ययन से यह भी ध्यान में आता है कि सुशासन के लिए सुयोग्य विपक्ष का सत्य उद्‌घाटकों का रहना अनिवार्य है। यहाँ पर यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि कुंभकर्ण भी सत्योद्‌घाटक हैं किन्तु रावण के साथ खड़ा है इसलिए रावण को प्रिय है और विभीषण भी सत्योद्‌घाटक है किन्तु रावण के विरुद्ध है, इसलिए अप्रिय है। और परिणति में जो सत्योद्‌घाटक विरुद्ध होता है वही सुरक्षित रहता है न कि धर्म का जानकार किन्तु अधर्म का साथी। इसलिए राजा को चाहिए कि सत्योद्‌घाटक मन्त्रियों को सभा में उचित सम्मान दे, क्योंकि वे राज्य की दीर्घायु के लिए अनिवार्य होते है।

## मन्त्रिपरिषद् का स्वरूप एवं मन्त्रियों के गुण

आज ही की भांति मन्त्रिपरिषद् का स्वरूप द्विस्तरीय होता था, और राजा इन दोनों ही स्वरूपों के सहयोग से राज्य का संचालन किया करता था। (1) गुरुजन जो कि परामर्शदात्री समिति के रूप में कार्य करते थे। महत्त्वपूर्ण कार्यों को प्रारंभ करने के पूर्व राजा इनसे परामर्श लेता था और प्रायः ये ब्राह्मण होते थे और मन्त्री कहलाते थे। (2) अमात्य या सचिव जिन्हें आज की भाषा में कैबिनेट या मन्त्रिमण्डल कहा जाता है। प्रत्येक मन्त्री एक विभाग का प्रमुख होता था। मन्त्रियों से परामर्श अत्यधिक महत्त्वपूर्ण था। सुशासन में इन का परामर्श महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वहन करता था। तभी तो राम चित्रकूट में भरत से पूछते हें कि तुम अपने मन्त्रियों और अमात्यों से परामर्श तो करते हो न।[83] यहाँ पर मन्त्रिपरिषद् का नेतृत्व प्रायः गुरुजनों के ही हाथों में होता था। दशरथ के मन्त्रिपरिषद् का नेतृत्व गुरु वशिष्ठ ही किया करते थे। दशरथ की परामर्शदात्री समिति में आठ ऋषि थे सुयज्ञ, जाबालि, कश्यप, गौतम, मार्कण्डेय, कात्यायन, वशिष्ठ एवं वामदेव। इनमें से वशिष्ठ और वामदेव ऋत्विज भी थे।[84] सामान्यतः परामर्शदात्री समिति कुल परंपरा के आधार पर चली आती थी। अमात्यगण सदैव राजा के सान्निध्य में रहते थे वहीं गुरुजनों को विशेष परिस्थितियों में ही परामर्श के लिये बुलाया ताजा था। गुरुजन निःस्वार्थ भाव से राजा और राज्य के कल्याण के लिए कार्य करते थे, इसलिए विशेष सम्मान होता था। तभी तो राजा दशरथ के निधन के तुरन्त बाद राम और भरत की अनुपस्थिति में राजा किसे बनाया जाये, यह निर्णय करने का अधिकार समस्त गुरुजनों ने ऋषि वशिष्ठ को सौंप दिया था। क्योंकि वे गंभीर और सर्वज्ञ थे अतः उनके द्वारा लिया जाने वाला निर्णय राज्य के हित में ही होता। यह परंपरा आज भी अनेक दलों में नेता चुने जाने के लिए प्रायः एक व्यक्ति विशेष पर अधिकार डाल कर पुरानी भावना की ही अभिव्यक्ति दिखाई देती है।

राजा का चयन और निर्णय प्रायः गुरुजनों के द्वारा ही लिया जाता था। अमात्यों को यह अधिकार नहीं था। राजा दशरथ के आठ अमात्य सचिव थे - धृष्टि, जयंत, विजय, सिद्धार्थ, अर्थसाधक, अशोक, मंत्रफल और सुमंत्र।[85]

मन्त्रियों को गुणी होना चाहिए तथा उन्हें राजा और राजा के हित का कार्य करना चाहिए। वाल्मीकि रामायण में इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। इस विषय पर प्रकाश डालते हुए वाल्मीकि जी लिखते है कि "वे सब के सब विद्वान् होने कारण विनयशील, सलज्ज, कार्यकुशल, जितेन्द्रिय, श्रीसम्पन्न, महात्मा, शस्त्रविद्या के ज्ञाता, सुदृढ़, पराक्रमी, यशस्वी, समस्त राजकार्यों में सावधान, राजा की आज्ञा के अनुसार कार्य करने वाले, तेजस्वी, क्षमाशील तथा कीर्तिवान् तथा मुस्कराकर बात करने वाले। वे कभी काम, क्रोध या स्वार्थ के वशीभूत होकर झूठ नहीं बोलते थे।"[86] यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि इन समस्त गुणों के लिए आवश्यक आधार वाल्मीकि ने विद्वान् होना बताया है। यानि सही अर्थों में जो व्यक्ति विद्वान् होगा उसमें उपर्युक्त समस्त गुण स्वत: ही समाहित होगें इसमें संशय नहीं है। इनके अतिरिक्त जब भरत चित्रकूट में राम से मिलने जाते हैं तब राम भरत से मन्त्रियों के गुणों के बारे में चर्चा करते हैं उससे भी मन्त्रियों के गुणों पर प्रकाश पड़ता है वे पूछते है कि तुमने अपने ही समान शूरवीर, शास्त्रज्ञ, जितेन्द्रिय, कुलीन बाहरी चेष्टाओं से मन की बात समझ लेने वाले सुयोग्य व्यक्तियों को ही अमात्य बनाया है? अच्छी मन्त्रणा ही राजाओं की विजय का साधन है नीतिशास्त्रों से ज्ञाता एवं मन्त्र को गुप्त रखने वालों में श्रेष्ठ अमात्यों द्वारा ही राजा भली-भांति सुरक्षित रहता है। मेधावी, शूरवीर, चतुर एवं नीतिज्ञ अमात्य यदि एक भी हो तो वह राजा या राजकुमार को बहुत बड़ी संपत्ति प्राप्त करा सकता है। तात! तुमने प्रधान व्यक्तियों को प्रधान, मध्यम श्रेणी के मनुष्यों को मध्यम और निम्न श्रेणी के व्यक्तियों को निम्न कार्यों में ही नियुक्त किया है न? जिनकी भली-भाँति परीक्षा ली गई है, जो पुरखों के समय से ही काम करते आ रहे हैं तथा जो बाहर भीतर से पवित्र ओर श्रेष्ठ हों ऐसे अमात्यों को तुम उत्तम कार्यों में नियुक्त करते हो।"[87] उपर्युक्त विषयों से यह स्पष्ट होता है कि अमात्यों का चयन प्राय: राजा का व्यक्तिगत अधिकार था किंतु गुरुजनों का सानिध्य परंपरागत ही रहता होगा। क्योंकि राम ने गुरुजनों के विषय में इस प्रकार की जानकारी नहीं चाही है।

दशरथ के जो आठ मंत्री है उनके नाम के अनुसार दशरथ के विभागों का अनुमान किया जा सकता है वैसे भी भारतीय परंपरा में व्यक्ति के स्वभाव वर्ण के अनुरूप ही नामकरण की परंपरा रही है इसलिए आठों मंत्रियों के नाम से विभागों का अनुमान लगाना सुगम हो जाता हैं। जैसे वाल्मीकि ने इन विभागों का परिचय नहीं दिया है। किंतु शब्दावलि के आधार पर यहाँ कुछ की व्याख्या करने का प्रयास किया जा रहा है यथा- पहले जो तीन मंत्री है उनका संबंध सेना और युद्ध से कि क्योंकि धृष्टि का अर्थ साहसी होता है जयंत का अर्थ भी विजय के सदंर्भ में ही आता है तथा विजय तो विजय ही है। यानि ये संभवत: उनकी चतुरंगणी सेना के सचिव आदि रहे होगें।

***सिद्धार्थ, अर्थसाधक एवं अशोक*** - जैसा कि नाम से प्रतीत होता है वह व्यक्ति जो कि अर्थ में निपुण हो सिद्धार्थ, जो अर्थ के प्रबंधन में निपुण हो अर्थसाधक तथा जो शोक रहित हो वह अशोक । इस प्रकार ये तीनों राजा के वित्त विभाग के दायित्वों का निर्वहन करते हुए प्रजा के राजा हित में सलग्न रहते होगें।

***मन्त्रफल और सुमन्त्र*** - जैसा कि नाम से ही स्पष्ट होता है- (1) मन्त्रफल यानि मन्त्र का पालन करने वाला यानि कार्यपालिका का प्रमुख जो कि राजा के आदेशों का क्रियान्वयन कर सकेगा। (2) सुमन्त्र यानि की अच्छी मन्त्रणा कला। सुमन्त्र न केवल मन्त्री है बल्कि वह राजा का निजी सचिव एवं सारथि रहे।

## *अमात्यों के कर्तव्य*

राजा के नाम पर अमात्यों को अनेक कर्तव्यों का पालन करना होता था। क्योंकि ये सभी कर्तव्य शासन व्यवस्था के सुचारु संचालन के लिए अनिवार्य थे। अमात्यों के द्वारा राष्ट्र एवं नगर में शान्ति बनाए रखना मिथ्यावादी, दुष्ट, परस्त्री लंपट मनुष्यों की जानकारी रखना, लोगों को कानून के प्रति सचेत रखना उन्हें सत्य, नीति, धर्म और सदाचार पर चलने के लिए प्रेरित करना तथा अपने विभागों की नीतियों का सुचारु संचालन हो यह उनका दायित्व था।[88] विभागीय कार्यों का संचालन विभागीय अधिकारियों के द्वारा ही किया जाता था। विभागीय अधिकारियों को तीर्थ कहा जाता था।

मन्त्री राजाओं को परामर्श देने में तत्पर रहते थे और उपयोगी तथा हितकर परामर्श देना ही उनका मुख्य उद्देश्य हुआ करता था। मन्त्रणा का कार्य प्राय: कम से कम मन्त्रियों के साथ किया जाता था। राम ने चित्रकूट में भरत को यह राय दी थी कि एक साथ कई लोगों से परामर्श किया जाना उचित नहीं है।[89] अमात्यों को यह भी दायित्व था कि वे समस्या पर विचार करके उसके सही निर्णय से राजा को अवगत करावें।[90]

आमात्य जन एवं गुरुजन सभा के पदेन सदस्य होते थे और सभा की कार्यवाहियों में सहभाग करते थे। राजा अथवा सभा के निर्देशों का पालन करना अमात्यों का दायित्व होता था। कार्यालयीन समय में अमात्यों द्वारा सुन्दर वेश-भूषा धारण की जाती थी।[91]

अमात्यों की बैठक राजप्रासाद में हुआ करती थी। अमात्य प्राय: राजधानी में ही रहा करते थे। क्योंकि दैनिक कार्यों के संपादन की देख रेख का कार्य उन्ही की ओर हुआ करता था।[92] नन्दिग्राम से शासन संचालन के समय भरत के साथ मात्र पुरोहित एवं मन्त्री ही थे अमात्य राजधानी में ही रहकर विभागों का कार्य संभाले हुए थे। क्योंकि जब राम वन से लौटे तो इन्हीं अमात्यों के द्वारा स्वागत की तैयारियाँ पूर्ण की गई।[93]

तीर्थों के विषय में चित्रकूट में राम भरत के मध्य संवाद हुआ था किन्तु स्पष्ट रूप से इनके नामों का उल्लेख नहीं हुआ। परवर्ती काल के टीकाकारों ने इनके नामों को निम्नवत् लिखा है:- यथा (1) मन्त्री, (2) पुरोहित, (3) युवराज, (4) सेनोपति, (5) दौवारिक, (6) आंतरवशिक, (7) कारागाराधिकृत, (8) अर्थसंचयकृत, (9) कार्य नियोजक, (10) प्राङ्विवाक (न्यायाधीश), (11) सेनापति, (12) नगराध्यक्ष, (13) कर्मान्तक (खानों और कारखानों का अधिकारी), (14) सभ्य (सभासचिव), (15) धर्माध्यक्ष, (16) दंडपालन, (17) दुर्गपाल, (18) राष्ट्रान्तरपाल (सीमा का राज्यपाल)। ये कुल अठारह होते थे।

## *न्याय प्रणाली*

भारत में प्राचीनकाल से लेकर अंग्रेजों के शासन की स्थापना के पूर्व तक न्याय प्रणाली अत्यन्त सरल और सहज थी ऐसा इसलिए था क्योंकि समस्याओं को सुनने और कहने वालों की भाषा एवं परम्पराएँ एक ही थीं। इसलिए दोनों को ही कोई भी समस्या नहीं आती थी। इसलिए रामायण काल में भी यह प्रथा सरल ही थी। राजा प्रजा की समस्या को अपने सहयोगियों के साथ स्वयं ही सुनते और तत्काल साक्ष्यों एवं धर्म के आधार पर समाधान करने का प्रयास करता था। राजा से न्याय पाने वालों की सीधी पहुँच थी। प्राय: धर्म का आधार इतना सुदृढ़ था कि समस्याओं की उत्पत्ति सरलता से नहीं होती थी और होती भी थी तो विभिन्न स्तरों की न्यायिक व्यवस्था से नहीं होती थी तो विभिन्न स्तरों की न्यायिक व्यवस्था के चलते शीघ्र ही समाधान हो जाता था। न्याय निष्पक्ष हो इसकी सुनिश्चिता अनिवार्य थी। क्योंकि यह मान्यता प्रचलन में थी कि निरपराध होने पर भी जिन लोगों को मिथ्या दोष लगाकर दण्ड दिया जाता है। उनकी आँखों से जो आँसू निकलते है, वे पक्षपात पूर्ण शासन करने वाले राजा के पुत्र और धन धान्य को नष्ट कर डालते है।[94] इसलिए दण्ड देने के पहले अनेकानेक प्रकार से यह देख लिया जाता था कि किसी निरपराधी को दण्डित न कर दिया जावे। न्याय के विषय में राजा या उसके हितैषी चिन्तित रहते थे इसको चित्रकूट में हुए भरत राम के संवाद के माध्यम से सहजता से समझा जा सकता हैं। श्री राम भरत से पूछते है- "कभी ऐसा तो नहीं होता कि कोई मनुष्य किसी श्रेष्ठ निर्दोष ओर शुद्ध आत्मा पुरुष पर भी दोष लगा दें और शास्त्र ज्ञान में कुशल विद्वानों से उसके विषय में विचार कराये बिना ही लोभादि के कारण उसे दण्ड दे दिया जावे। जो चोरी मे पकड़ा गया हो, जिसे किसी ने चोरी करते हुए देखा हो, पूछ-ताछ से भी जिसके चोर होने का प्रमाण मिल गया हो तथा जिसके विरुद्ध चोरी का माल बरामद होने जैसे बहुत सबूत हो, ऐसे चोरों को भी तुम्हारे राज्य में धन के लालच से छोड़ तो नहीं दिया जाता है। यदि धनी और गरीब में से कोई विवाद छिड़ा हो और वह राज्य के न्यायालय में निर्णय के लिया आया हो, तो तुम्हारे अमात्य धनादि के लोभ से उस मामले पर विचार नहीं करते।[95] न्यायधीश यदि लोभ के वशीभूत किसी का पक्ष लेता था, तो वह पाप का भागीदार बनता। भरत राम के वन जाने पर माता कौशल्या से कहते है कि राम को वन भेजने वाले को वही पाप लगे जो पक्षपाती न्यायधीश को लगता है[96] इस प्रकार न्याय और न्यायधीश की भूमिका और स्थान अत्यधिक उच्च था। वाल्मीकि रामायण में अनेक प्रसंग ऐसे है जिनके अध्ययन से स्पष्ट होता है कि न्याय न केवल सुलभ हो बल्कि तुरन्त भी हो, क्योंकि न्याय के विलंब से न्यायार्थी को कष्ट होता है जो अक्षम्य है। राजा.....ने अपने द्वार पर दो ब्राह्मणों को न्याय के लिए प्रतीक्षा करवायी परिणामस्वरूप पाप का भागी बना ।[97] राम के पूर्वज राजा निमी ने भी वशिष्ठ की शिकायत की निद्रा में होने के कारण विलंब से सुना और शाप के भागी बने।[98] राम के दरबार में न्यायार्थी को तुरंत न्याय प्राप्त होता था।[99] इसलिए राम के समय की अदालत में ज्यादा विवाद नहीं थे।[100]

## *अपराधों के प्रकार एवं दण्ड विधान*

वाल्मीकि रामायण के अध्ययन के बाद यह स्पष्ट होता है कि अपराधों के प्रकार भी लगभग आज ही के भांति थे। यथा- राजद्रोह, झूठी गवाही, कुमारिकाओं का बलात्कार, पराई स्त्रियों का अपहरण, न्याससंपत्ति का दुरुपयोग, चोरी, डकैती, ब्रह्महत्या, सैनिकों का निर्धारित वेतन नहीं देना, युद्ध में पीठ दिखाना, बालकों, वृद्धों, स्त्रियों और राजाओं की हत्या, आग लगाना, जलाशय में विष लगा देना और गुरुस्त्री गमन करना। इन अपराधों में देशकाल परिस्थिति को ध्यान में रखकर यातना से लेकर प्राण-दंड तक दिया जाता था। मृत्यु दंड प्रात:कालीन बेला में दिया जाता था।[101]

## *पुलिस की उपलब्धता*

रामायण में लंका में और अयोध्या में भी पुलिस के संकेत मिलते है। हनुमान जी ने लंका में प्रवेश के समय शस्त्रधारी सैनिकों को राजमार्ग पर टहलते हुए देखा था।[102] सीता जी की पालकी लंका विजय के बाद जब आई थी तो इसी प्रकार से सिपाहियों ने दंडों से वानरों को पालकी से दूर किया था।[103] अयोध्या में राम के लौटने पर व्यवस्था को बनाए रखने के लिए भरत ने इसी प्रकार के व्यक्तियों को तैनात किया था।[104]

## *कारागृह*

रामायण में प्रयुक्त शब्द 'बंधन'[105] या 'बद्ध'[106] शब्दों का प्रयोग कारागृहों की ओर ही संकेत करता है। अंगद ने भयभीत होकर यही कहा था कि ''मेरे चाचा सुग्रीव क्रूर और निर्दयी हैं यदि मैं अवधि बीतने के बाद सीता को ढूढें बिना किष्किन्धा लौटा तो वह यह मुझे तीव्र यातना देगें या कैद में डाल देगें।[107] इसी प्रकार से सीता का भी एक प्रसंग ध्यातत्व है- सीता जी ने अशोक वाटिका में विलाप करते हुए यातना देने की पद्धतियों का उल्लेख किया था और निश्चय किया था कि मुझे ऐसी कितनी ही यातनाएँ क्यों न दी जाए, मैं रावण के वशीभूत न होऊँगी।[108] यातनाओं के प्रकार हैं– शरीर को शूल से छेद डालना या तलवार से दो भागों में काट डालना, कुल्हाड़ी से उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालना, बंदी को आग पर सेंकना या जला डालना, आदि यातनाओं की ओर संकेत किया है। गला घोंटकर कैदियों को मारने का तरीका भी प्रचलित था। सीता की राक्षसी पहरेदारनियों ने सीता का गला घोंटकर उनका काम तमाम करने का विचार कर लिया था। [109]

## *गुप्तचर व्यवस्था*

किसी भी राज्य के लिए गुप्तचर व्यवस्था अत्यधिक महत्त्वपूर्णघटक है। रामायण में भी इस प्रकार की व्यवस्था का वर्णन है। गुप्तचरों को 'चर' 'चार' 'प्रणिधि' 'चारक' या 'चारण' कहा जाता था। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन में इनका पर्याप्त महत्त्व है। दशरथ के मंत्रिजन चरों द्वारा शत्रुओं की गतिविधि से स्वयं को अवगत रखते थे।[110] राम ने भरत से चित्रकूट पर गुप्तचर व्यवस्था के संबंध में भरत से जानकारी ली थी।[111] प्राय: गुप्तचरों की दो श्रेणियां होती है। (1) नागरिक गुप्तचर, (2) सैनिक गुप्तचर।

सैनिक गुप्तचर सैन्य संबंधी जानकारी से जूझते थे और नागरिक गुप्तचर नागरिकों से संबंधित। सीता के संबंध में गुप्तचर ने जो सूचना लाकर दी थी वह नागरिक गुप्तचर था।

## *निष्कर्ष*

संपूर्ण रामायण के अध्ययनोपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन राजनीतिक चिंतन के आधार में राजनीति में कर्म और धर्म का ज्यादा महत्त्व है। शासन व्यवस्था के मूलभूत आधारों में से एक धर्म ही है। संपूर्ण समाज के समस्त क्रियाकलाप समाज की धर्मरूपी धुरी के चारों ओर घूमते है। इसलिए समाज में आज की अपेक्षा अधिक शांति और सहकार्य परिलक्षित होता है। रामायण के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि समाज में जहां तक सदाचार का बोलवाला है वहीं दूसरी ओर अनाचार भी पर्याप्त है,क्योंकि जिस प्रकार प्रवृत्तियाँ आज-कल की शासन व्यवस्था में परिलक्षित होती हैं वे ही सब प्रकार रामायण में भी उपलब्ध है। वैशिष्ट्य है तो इस बात का कि रामायण में सुशासन का अधिकार राजा और प्रजा दोनों के ही हाथ में समान रूप से है। लोकतांत्रिक पद्धति के संरक्षण-संवर्द्धन में राजा के साथ-साथ लोक परंपराओं का प्रमाण भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। रामराज के संचालन में प्राय: विचौलियों का अभाव है और धर्म का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त है। भारतीय प्राचीन परंपराओं का प्रचलन आधुनिक रूप से असंभव नहीं किंतु कठिन अवश्य है। इन कठिनाईयों को समाप्त करने में प्राचीन चिंतन सहायक हो सकता है। यदि उसके प्रकाश में समकालीन समस्याओं के समाधान ढूढ़े जावे तो निश्चय ही आधुनिक विश्व लाभान्वित हो सकेगा। रामायण न केवल त्रेतायुग के दृष्टिकोण से लिखा गया ग्रंथ है बल्कि उसकी प्रासंगिकता युग-युगों तक बनी रहेगी। इसमें कोई संदेह नही है।

## सन्दर्भ


1. बालकाण्ड के 13 वें अध्याय का 20 वां श्लोक।
2. बालकाण्ड के 13 वें अध्याय का 21 वां श्लोक।
3. बालकाण्ड के 13 वें अध्याय का 23 वां श्लोक।
4. बालकाण्ड के 13 वें अध्याय का 24 वां श्लोक।
5. बालकाण्ड के 13 वें अध्याय का 25 वां श्लोक।
6. बालकाण्ड के 13 वें अध्याय का 26 वां श्लोक।
7. बालकाण्ड के 13 वें अध्याय का 27 वां श्लोक।
8. बालकाण्ड के 13 वें अध्याय का 28 वां श्लोक।
9. बालकाण्ड के 70 वें अध्याय का 7 वां श्लोक।
10. उत्तरकाण्ड के 38 वें अध्याय का 21 वां श्लोक।
11. अयोध्याकाण्ड के 50 वें अध्याय का 10 वां श्लोक।

12. अयोध्याकाण्ड के 50 वें अध्याय का 11 वां श्लोक।
13. अयोध्याकाण्ड का 67 वां अध्याय का श्लोक।
14. अयोध्याकाण्ड के 01हले अध्याय का 06 वां श्लोक।
15. अयोध्याकाण्ड के 14 वें अध्याय का 40 वां श्लोक।
16. अयोध्याकाण्ड के 01 वें अध्याय का 2/2 वां श्लोक।
17. किष्किन्धा काण्ड के 9 वें अध्याय का 21 वां श्लोक।
18. .....7/54/5-6-7।
19. .....2/100/26।
20. .....1/38/21-22।
21. .....7/59/14-15-16-17।
22. .....2/79/5।
23. .....4/26/38।
24. .....2/21/12-13।
25. .....2/21/21।
26. .....2/21/43।
27. .....2/21/44।
28. .....2/34/26।
29. .....2/34/27-28।
30. .....2/33/22 एवं 2/37/25-26।
31. .....2/67/2।
32. .....1/127/54-55-56।
33. .....4/18/41-42।
34. .....3/45/13-14।
35. .....1/1/2-3-4।
36. .....1/1/8-19।
37. .....5/35/8-11।
38. .....2/2/28-47।
39. .....4/17/29-32।
40. .....7/37 वां अध्याय, 7/53 वें अध्याय 7-8, 18 वां श्लोक।, 42 वे अध्याय का 27 वां एवं 36 वां श्लोक, 45 वें अध्याय 1 श्लोक।
41. .....7/60/2
42. .....2/38/1
43. .....2/33/16
44. .....5/52/36
45. .....1/42/12
46. .....1/42/12, 1/44/18
47. .....7/76/9
48. .....1/100/4
49. अयोध्याकाण्ड का 100 वां अध्याय
50. 2/3/8-20, 2/14/34-41, 2/15/1-12, 2/26/9-18 एवं 6/128/68
51. अयोध्याकाण्ड 3/6-19
52. अयोध्याकाण्ड- 1/42, 46, 49,
53. ,, 1/50, 51
54. ,, 1/48
55. ,, 2/29, 20, 26
56. ,, 2/15, 16
57. ,, 2/6/20
58. ,, 2/67/2
59. ,, 2/67/2
60. ,, 2/81/13
61. ,, 9/38/21
62. ,, 81 वां अध्याय
63. ,, युद्धकाण्ड - षष्ठ सर्ग
64. ,, अयोध्याकाण्ड - 2/81/11-12, 2/11/17
65. ,, 2/1/47
66. ,, 2/4/1-3, 2/10/9-10
67. ,, 2/3/67
68. ,, 6/11/4
69. ,, 6/11/29, 2/82/2
70. ,, 2/3/24-35
71. ,, 2/1/50
72. ,, 2/2/20
73. ,, 2/2/14
74. ,, 2/1/42
75. ,, 2/12/63
76. ,, 2/13/21
77. ,, 7/6/6
78. ,, 6/11-12
79. ,, 6/6/5-9
80. ,, 6/11/30 ,6/12/5
81. ,, 6/12/28-35
82. ,, 6/15, 6/16
83. ,, 2/112/17
84. ,, 1/7/4-5
85. ,, 1/7/3
86. ,, 1/7/6,7,8
87. ,, 2/100/15-26
88. ,, 1/7/14-15
89. ,, 2/100/71
90. ,, 6/6/1-10
91. ,, 1/7/16
92. ,, 1/69/4-5
93. ,, 6/128/23-24
94. ,, 2/100/59
95. ,, 2/100/56-58
96. ,, 2/75/58
97. ,, 6/5/16-18
98. ,, 7/55/15-17
99. ,, 6/128/100
100. ,, 7/59(1) 10
101. ,, 5/28/7
102. ,, 5/41/16
103. ,, 6/114/21
104. ,, 6/121/10
105. ,, 4/55/10
106. ,, 5/28/7
107. ,, 4/55/10
108. ,, 5/26/10
109. ,, 5/24/41
110. ,, 1/7/9
111. ,, 2/100/36

❖❖❖

# भारत में बढ़ती बेरोजगारी एक सामाजिक समस्या

**डॉ० प्रेमलता**

## समाजशास्त्रीय अध्ययन

***सारांश :*** बेरोजगारी मनुष्य के आत्मविश्वास को समाप्त करता है तथा उसमें हीनता को जन्म देती है। बेरोजगार व्यक्ति का सोच निराशावादी हो जाता है और उसके मन में समाज के प्रति आक्रोश उत्पन्न होने लगता है यही आक्रोश समाजिक असंतोष का कारण बनता है। इससे बेरोजगार व्यक्ति लूटपाट, चोरी-डकैती, हत्या ,फिरौती के लिए अपहरण जैसे अपराधों की ओर कदम बढ़ा देते हैं। कुछ लोग भिक्षावृति एवं वेश्यावृति जैसे अमानवीय वृत्ति तक अपना लेते है। बरोजगारी अपने-आप में व्यक्ति के लिए एक तरह का अभिशाप और समाज के लिए विघटन का एक कारक है, लेकिन इसका गहरा रिश्ता गरीबी, जनसंख्या वृद्धि अपराध, उत्प्रवास, शिक्षा आदि से भी है।

## प्रस्तुत शोध पत्र

***परिचय:*** योग्यता प्राप्त सक्षम (लोगों) युवाओं कि वह जमात जो कार्य करने की इच्छुक तो है किन्तु काम की अनुपलब्धता की वजह से बेकार बैठी वह बेरोजगार की श्रेणी में आएगा। किसी भी देश के लिए बेरोजगार एक भयंकर समस्या हैं। बेरोजगारी से आशय उस व्यवस्था है, जिससे एक व्यक्ति कोई काम करने के लिए इच्छुक है लेकिन उसे काम करने के अवसर उपलब्ध नहीं होते। बेरोजगारी का सबसे बुरा पक्ष सामाजिक है। यह मनुष्य के आत्मविश्वास को समाप्त करती है तथा उसमें हीनता को जन्म देती है। बेरोजगार व्यक्ति की सोच निराशावादी हो जाती है और उसके मन में समाज के प्रति आक्रोश उत्पन्न होने लगता है। यही आक्रोश सामाजिक असंतोष का कारण बनता है। बेरोजगारी को अनेक रूप में वर्गीकृत किया गया है:

(1) **चक्रीय बेरोजगारी :-** इस प्रकार की बेरोजगारी का कारण व्यापारिक क्रियाओं में शिथिलता अथवा मंदी का आना है। इस प्रकार की बेरोजगारी विशेष रूप से विकसित देशों में पायी जाती है। इसकी प्रवृति अस्थायी होती है।

(2) **मौसमी बेरोजगारी :-** मौसम में परिवर्त्तन होने के कारण वस्तुओं की मांग और पूर्ति में असंतुलन उत्पन्न हो जाता है। जिसके कारण मौसम बेरोजगारी दृष्टिगत होती है। सामान्यत: मौसमी बेरोजगारी कृषि व्यवसाय से जुड़ी होती है। कृषि व्यवसाय में श्रमिक वर्ष के 4-5 महीने बेरोजगार रहता है। मौसम बेरोजगारी उन उद्योगों में भी पायी जाती है, जिनमें कच्चा माल कृषि क्षेत्र से प्राप्त होता है।

(3) **संरचनात्मक बेरोजगारी :-** संरचनात्मक बेरोजगारी देश के पिछड़ेपन तथा गिरे हुए आर्थिक विकास के स्तर का परिमाण है। पूँजीगत साधनों के अभाव में उधोग तथा व्यवसायों की स्थापना नहीं हो पाती, रोजगार के नये अवसर उपलब्ध नहीं हो पाते और इस कारण श्रम शक्ति के एक बड़े भाग को बेरोजगार रहना पड़ता है।

(4) **प्रच्छन्न बेराजगारी:-** इसे अल्प बेरोजगारी की अवसर भी कहते है। जब किसी व्यवसाय में आवश्यकता से अधिक श्रमिक लगे हो तो बाहर से तो सभी श्रमिक काम में लगे दिखलायी देते है लेकिन इनमें से काफी श्रमिक बेरोजगारी की अवस्था में होते हैं। प्रच्छन्न बेरोजगारी प्रमुख रूप से कृषि व्यवसाय में देखने को मिलती है।

इस तरह उपरोक्त सारे बेरोजगारी का प्रकार है। वस्तुत: बेरोजगारी अपने-आप में व्यक्ति के लिए विघटन का एक कारक है लेकिन इसका गहरा रिश्ता गरीबी जनसंख्या वृद्धि,

**असिस्टेंट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, दाउ दयाल महिला कॉलेज, फिरोजाबाद (उ०प्र०)**

अपराध उत्प्रवास, शिक्षा आदि में भी है।

## विश्लेषण

भारत में योजनाकाल में ढेर सारे प्रयासों के बाबजूद बेरोजगारी पर काबू नहीं पाया जा सका है। भारत जैसे विकासशील देशों में बेरोजगारों के सटीक आंकड़े उपलब्ध नहीं है। दस वर्ष में एक बार पूरे देश में होने वाली जनगणना के आंकड़ों के आधार पर काम करने वाली जनसंख्या का राज्यवार विवरण अवश्य उपलब्ध है, लेकिन ये आंकड़ें भी जारी होते-होते पुराने पड़ जाते है उनमें आधार पर काम न करने वाली जनसंख्या जिसमें बच्चे तथा घरेलू महिलाएँ भी सम्मलित है। के विषय में अनुमान भर लगाया जा सकता हैं। बेरोजगारी से सम्बन्धित आंकड़ों के लिए भारतीय परिस्थितियों में शोधकर्त्ता प्राय: रोजगार कार्यालयों में पंजीकृत अभ्यथियों की संख्या एवं राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (NSSO) द्वारा समय-समय पर किए गए सर्वेक्षणों पर निर्भर करते है। निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि देश में वे रोजगारों की संख्या कम हो जाने के कारण पंजीकृत बेरोजगार कम हुए है जबकि वास्तविकता यह है कि रोजगार कार्यालयों द्वारा बेरोजगारों को समुचित मात्रा में रोजगार उपलब्ध नहीं कराये जा सकने के फलस्वरूप अभ्यर्थी रोजगार कार्यालयों में अपना नाम दर्ज कराना आवश्यक नहीं समझते। वर्ष 2000 और 2001 में अभी तक के सबसे कम लोगों को अर्थात क्रमश: 1.77 लाख तथा 1.69 लाख लोगों को ही रोजगार उपलब्ध कराया जा सका है जो पिछले बर्षो की तुलना में काफी कम रहा है।

### *बढ़ती बेरोजगारी के कारण*

भारत में बढ़ती बेरोजगारी के प्रमुख कारण निम्न है-

(1) नये रोजगार अवसरों को अपर्याप्त निर्माण:- ऐसी अर्थव्यवस्था जहाँ की भूमि पर जनसंख्या का भार पहले से ही बहुत अधिक है, वहाँ नये रोजगार के अवसरों के उत्पन्न करने का दायित्व सहायक एवं सेवा क्षेत्र पर होना चाहिए। यदि उद्योग एवं सेवा क्षेत्र अपने इस दायित्व को पूरा करने में असमर्थ रहते है तो बेरोजगारी बढ़ती है अथवा ग्रामीण क्षेत्रों में प्रच्छन्न बेरोजगारी उत्पन्न होती है।

(2) कृषि क्षेत्र में धीमा विकास:- कृषि क्षेत्र का विकास बहुत धीमा रहा है। यह क्षेत्र विकसशील अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ है निम्न तालिका में उपलब्ध है-

रोजगार कार्यालयों में दर्ज बेरोजगारों में बढ़ोत्तरी ( हजार में)

| वर्ष | रोजगार कार्यालयों की कुल संख्या | पंजीकृत बेरोजगार | रोजगार प्रदत्त | चालू रजिस्टर में पंजीकृत आवेदक |
|---|---|---|---|---|
| 1991 | 854 | 62.35 | 253.3 | 36299.7 |
| 1992 | 860 | 5300.6 | 283.7 | 36758.4 |
| 1993 | 887 | 5532.2 | 231.4 | 36275.5 |
| 1994 | 891 | 5927.3 | 204.9 | 36691.5 |
| 1995 | 895 | 5858.1 | 214.9 | 36742.3 |
| 1996 | 914 | 5872.4 | 233.0 | 37429.6 |
| 1997 | 934 | 6322.0 | 275.0 | 39139.9 |
| 1998 | 945 | 5825.0 | 233.3 | 40089.6 |
| 1999 | 955 | 5966.0 | 221.3 | 40371.1 |

इन आंकड़ों को देखने में पता चलता हैं कि देश में वर्ष 1997 के बाद से अब तक समान्यतया रोजगार कार्यालयों में बेरोजगारों ने अपनी आमद कम की है। वर्ष 1997 में जहाँ 63.22 लाख लोग रोजगार कार्यालयों में दर्जे थे, वही वर्ष 1998 में 58.52 लाख तथा वर्ष 1999 में 59.66 लाख लोग दर्जे थें। वर्ष 2000 में इनकी संख्या में मामूली सी वृद्धि हुई और यह संख्या बढ़कर 60.41 लाख तक पहुँची, कृषि क्षेत्र में उत्पादकता का स्तर बहुत नीचा है। इसीलिए कृषि क्षेत्र में रोजगार के बहुत कम अवसर उपलब्ध होते है और अक्सर इसमें मौसम एवं प्रच्छन्न बेरोजगार पायी जाती है।

(3) **दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली:** भारत में बढ़ती हुई बेरोजगारी के लिए

शिक्षा प्रणाली भी बहुत बड़ी सीमा तक जिम्मेदार है। बर्षो तक स्कूलों एवं कॉलेजों में शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत जब विद्यार्थी सामाजिक जीवन में प्रवेश करते है तो उनमें तकनीकी ज्ञान, व्यवसायिक प्रशिक्षण आदि का अभाव रहता है। वो आधुनिक जटिल उत्पादन प्रणाली में कार्य करने के लिए अनिवार्य विशेषतायें है। भारत में अभी भी शिक्षा का पारम्परिक ढ़ॉचा विद्यमान है, जो कि किसी भी दृष्टि से रोजगारोन्मुख नहीं है।

(4) **दोषपूर्ण आर्थिक आयोजन:** भारत में दोषपूर्ण आर्थिक आयोजन भी रोजगार के अवसरों की वृद्धि में एक बड़ी बाधा बना हुआ है। देश में तेज गति से आर्थिक विकास के लिए अपेक्षित आधारभूत ढाँचे का अभी तक विकास नहीं हो सका है। विभिन्न योजनाओं में शहरों की ओर प्रवजन को नहीं रोका जा सका है

(5) **युवाओं में बढती नशाखोरी की प्रवृति:** बेरोजगारी लोगों को मानसिक अवसाद बढाती है। अवसाद के क्षणों से मुक्ति पाने के लिए में युवा वर्ग अच्छी तादाद में नशा की ओर प्रवृत हो रहे है। बेरोजगारी में पकड़ाए नशे ने समाज का जुझारूपन छीन कर उसे पलायनबादी बनाने का कार्य किया है।

(6) **आगामी समाज के हर क्षेत्र को व्यापक नुकसान:** अपराध, नशाखोरी, मानसिक अवसाद आदि का असर समाज के हर क्षेत्र में दिखने लगा है। सांस्कृतिक, शैक्षणिक, औद्योगिक, संरचनात्मक आदि तमाम क्षेत्रों को अक्षम नेतृत्व भविष्य में इन्हीं कारणों से मिलने वाली है जिसके मूल में आज बेरोजगारी एक अहम कारण है।

## बेरोजगारी दूर करने के उपाय

बेरोजगारी जो सामाजिक कलंक है को दूर करने के लिए अनेक उपाय किया जाना चाहिए-

(1) **आर्थिक विकास की गति तेज करना:-** बेरोजगारी की समस्या के स्थायी समाधान के लिए समूचित आर्थिक विकास और उसकी तेज गति का होना आवश्यक है

(2) **जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण:-** भारत में जनसंख्या का बहुत बड़ा दबाव है। प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में लोग श्रमशक्ति में सम्मलित हो रहे है। साधन की कमी के कारण श्रमशक्ति में आने वाले सभी लोगों के लिए रोजगार के अवसर उपलब्ध काराना संभव नहीं है। इसलिए जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण हो।

(3) **लघु उद्योगों के विकास पर जोर :-** लधु और कुटीर उद्योगों में रोजगार के अवसर उपलब्ध करवाना चाहिए। लघु उद्योग की स्थापना देश के कोने-कोने में किया जाना चाहिए।

(4) **श्रमप्रधान युक्तियों को प्रोत्साहन:-** आधुनिक आर्थिक क्रियाओं, जैसे- उत्पादन, वितरण, वाणिज्य-व्यापार सेवा आदि कई क्षेत्रों में श्रम-बचत युक्तियों का व्यापक प्रयोग होता गया है। स्वचालित मशीनों तथा कम्प्यूटरों के आविष्कार से तो इन सभी क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्त्तन हुए है बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए देश में आर्थिक क्रियाकलाप में श्रम प्रधान युक्तियों को ही अधिक से अधिक प्रयोग में लाना चाहिए।

(5) **कार्योन्मुख प्रशिक्षण की सुविधाएँ:-** भारत में बेरोजगारी की समस्या के प्रभावी और स्थायी समाधान के लिए स्वनियोजन को आधिक से अधिक प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है। स्वनियोजन में वृद्धि के लिए उद्यमी युवकों को उपयुक्त व्यवसायों और शिल्पों में प्रशिक्षण देने की व्यापक व्यवस्था की जानी चाहिए।

## निष्कर्ष

उपरोक्त सभी बातों को देखकर कहा जा सकता है। कि बेरोजगारी का बढ़ता भयावट रूप समाज के लिए कलंक बन गया है। बेरोजगारी का आलम यह है कि कुल आबादी का लगभग पैतालीस प्रतिशत युवा घोर हताशा व निराशा के माहौल में जी रहा है। कई जगहों से ऐसे युवाओं द्वारा आए दिन आत्महत्या कर लिए जाने की खबरें आ रही है। कुंठित मन तमाम मानसिक रोगों को प्रकाश दे रहे है, जो आने वाली नस्लों को भी प्रत्यक्षत: परोक्षत: प्रभावित कर रही हैं। इस तरह रोजगार हीनता की स्थिति ने सोचनीय हालत तो बना दिया है किन्तु रोजगार उत्पन्न करने की क्षमता हम सब को मिलकर करनी होगी ,

वैकल्पिक उद्यमों की ओर मुड़ना होगा, लचीले लक्ष्य रखने होंगे सीखने की प्रवृति डालनी होगी, रूढ़िवादी सोचें हटानी होगी, और इन तमाम उपायों को अपनाकर ही हम बेरोजगारी रूपी सामाजिक कंलक से मुक्ति पा सकेगें।

## संदर्भ -ग्रन्थ


(1) अटरचन्द- "प्रोवर्टी एण्ड अन्डरडेवलपमेंट" जैन पब्लिशिंग हाउस दिल्ली 1987

(2) नावा गोपाल दास - "एंप्लायमेंट, अनएंप्लायमेंट, एण्ड फुल एंप्लायमेंट इन इंडिया", 1968

(3) माइरडल ग्यूनर - "पोपूलेशन" हावेर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रीज, 1940.

(4) राम आहूजा - "सामाजिक समस्याएँ" रावत पब्लिकेशन जयपुर एवं नई दिल्ली, 1997.

(5) डी. ऐड लीओनेल - "इकोनोमिक्स: प्रिंसीपल एण्ड प्रोबलेम, थोमस वार्ड क्रोबेले को न्यूयार्क, 1926.

(6) A.NAgrwal – India Economy – Problems of Development and Planing willey Eastern Ltd, New Delhi-1983.

(7) इकानॉमिक सर्वे (2008-09), प्लानिंग कमीशन, गर्वमेन्ट ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली।

(8) Mihir Shar – " NREGA;A Historic opportunity" Economic and Political weekly" December – 2004, P,-5287

(9) National Sample Survey, 55th Round 2007-2008


❖❖❖

# कैवल्य की अवधारणा: सांख्य-योग के विशेष संदर्भ में

**डॉ० साधना मंडल**

प्रत्येक भारतीय दर्शन अपने-अपने ढंग से आध्यात्मिक उद्देश्य को अभिव्यक्ति करने हेतु- मोक्ष, अपवर्ग, निर्वाण, कैवल्य आदि शब्दावली का प्रयोग करते हैं।

योग दर्शन में मोक्ष का नाम 'कैवल्य' है। यह अवस्था केवल निषेधात्मक नहीं है, बल्कि पुरुष का वह नित्य जीवन है, जो प्रकृति के बंधनों से मुक्त होकर प्राप्त होता है। मोक्ष की प्राप्ति योग-दर्शन का चरम लक्ष्य है। सामान्यत: मोक्ष, अपवर्ग एवं कैवल्य ये तीनों समान शब्द हैं। सांख्य दर्शन के संदर्भ में यही अवधारणा है। त्रिविध दु:ख से आत्यांतिक निवृत्ति एवं सुख-दु:ख के भाव से उदासीनता एवं प्रकृति से अपनी भिन्नता का ज्ञान पुरुष को तत्त्वज्ञान के निरन्तर अभ्यास से होता है। पुरुष अपने विशुद्ध स्वरूप कैवल्य के रूप में जब साक्षात्कार करता है तब उस परम ज्ञान या बोध को कैवल्य कहा जाता है। प्रकृति तथा पुरुष ये दो ही नित्य पदार्थ हैं। इनके पार्थक्य के ज्ञान से कैवल्य की प्राप्ति होती है। इन तत्त्वों के स्वरूप की, श्रद्धा पूर्वक सतत् साधना एवं अभ्यास करने से ही संशय रहित, विपर्यय रहित, विशुद्ध केवल ज्ञान प्राप्त होता है।

सी०डी० शर्मा स्पष्ट लिखते हैं कि, "*The knowledge that I am not, that nothing is mine, that ego is unreal, when constantly meditated upon, becomes pure incontrovertible and absolute and leads to liberation.*"[1]

सांख्य शास्त्रों में त्रिविध दु:ख-निवृत्ति एवं कैवल्य प्राप्ति के लिए तत्वज्ञान को सर्वसाधक बताया गया है। एक ओर प्रकृति व उसके परिणामों जैसे अहंकार, बुद्धि, मन, दस इन्द्रियाँ, पंच महाभूत एवं तन्मात्र का विवेचन प्रस्तुत किया गया है, तो दूसरी ओर पुरुष का विशुद्ध चैतन्य के रूप में विवेचन उपलब्ध है। सांख्यशास्त्र में पुरुष और प्रकृति के मूल स्वरूप भिन्न हैं एवं दोनों तत्त्वों के आरोपित सम्मिश्रण से ही अज्ञानता, दु:ख एवं बंधन की समस्या सामने आती है। समस्या मूल रूप में व्यावहारिक मानव के प्रकृति अंश के आरोपण से आरम्भ होता है। अपने विवेचन में प्रकृति के विविध रूपों का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, "सृष्टि प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से होती है। लेकिन सुख-दु:ख रूप जो भोग बनती है, वह बुद्धि पुरुष के संयोग से बनती है और उसके मूल में अविद्या है, पुरुष के कैवल्य के लिए तत्त्व साक्षात्कार आवश्यक है और उसके लिए आवश्यक है योग। इसलिए प्रकृति महदादि विशेष भूत पर्यन्त की सृष्टि करती है।"[2]

कैवल्य की स्थिति को दो दृष्टियों में वर्णित किया गया है- (1) गुणों की दृष्टि से (2) पुरुषों की दृष्टि से। पुरुष और प्रकृति का संयोग ही दु:ख का कारण है।

"दृष्टा-दृश्ययों संयोगो हेय हेतु:"[3] और इस संयोग का कारण अविद्या है अविद्या अनादि कालीन है। अत: यह संयोग भी अनादि काल से चला आ रहा है। इस संयोग के कारण ही प्रकृति एवं पुरुष भ्रांत होकर अपने स्वरूप को भुला बैठे हैं, इसलिए समस्त दु:ख से अत्यांतिक निवृत्ति हेतु इस अविद्या निमित्तक संयोग को हराना अति आवश्यक है। इस अविद्या का नाश हो जाने पर जो बुद्धि सत्व एवं पुरुष के संयोग का अभाव है वही मोक्ष है।

इस अविद्या का नाश एवं कैवल्य की प्राप्ति का एकमात्र उपाय है 'विवेक ख्याति'।

*"विवेक ख्याति विप्लवा हानो पाय:"*

जब चित्त पूर्ण रूप से निर्मल हो जाता है तभी उसमें विवेकख्याति रूप विशिष्ट ज्ञान का उदय होता है। विज्ञान भिक्षु लिखते हैं- "निर्विचार वैशारद्य के हो जाने पर स्वयं ही विवेक ख्याति का उदय यानि परम तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। इसके लिए प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि इस निर्मल चित्त में अविद्या का लेसमात्र भी अवशेष नहीं रहा।

**एम०ए०, पी-एच०डी० (दर्शनशास्त्र), ति०मां० भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर**

अत: वहाँ उदित होने की प्रज्ञा को ऋतंभरा प्रज्ञा कहा जाना युक्ति संगत होगा।"[4]

इस प्रकार जब साधक निरंतर विवेकख्याति का ही अभ्यास करता है और उसकी प्राप्ति के फलस्वरूप मिलने वाली और भी सिद्धियों तथा सर्वाभावाछिष्ठा तत्त्वादि की भी कामना नहीं करता बल्कि उन्हें दोषमुक्त मानते हुए उनसे विरक्त रहता है तो निरंतर विवेकख्याति का ही प्रवाह साधक के चित्त में होता रहता है।

यह अवस्था धर्म-मेघ समाधि कहलाती है। विज्ञान भिक्षु इसे सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा मानेत हैं, क्योंकि इस काल योग के विघ्नस्वरूप अविद्यादि अन्तराओं का पूर्णाभाव हो जाता है।

योग दर्शन में स्पष्ट रूप से दो प्रकार के कैवल्य की कल्पना की है। वाचस्पति मिश्र इनमें से प्रथम को 'प्रधान का मोक्ष' तथा द्वितीय को 'पुरुष का मोक्ष' मानते हैं-- "स्वरूपप्रतिष्ठा वा पुरुषस्य मोक्ष इत्याह।"[5]

पुरुष जब प्रकृति के 25 तत्त्वात्मक रूप को देख लेता है, तब उसे ज्ञात होता है कि वह (मैं) निर्गुण हूँ। प्रकृति परिणामी नित्य है, मैं कूटस्थ नित्य हूँ। अत: अहं प्रकृति भिन्न यह 'विवेकख्याति' है। जब यह उत्पन्न हो जाता है, तब दु:खों का नाश हो जाता है, पुरुष को कैवल्य उपलब्ध हो जाता है। सभी दु:खों से मुक्ति प्रकृति के विविध रूपों से उदासीनता या कैवल्य भाव की प्राप्ति है।

योग-दर्शनके अष्टांग मार्ग- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के फलस्वरूप आत्मा मोक्ष को प्राप्त करती है। मोक्ष की अवस्था में नए गुणों का प्रादुर्भाव नहीं है, आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप को पहचान लेना ही मोक्ष है। मोक्ष की अवस्था में आत्मा का शुद्ध चैतन्य निखर जाता है। आत्मा उन सभी प्रकार के भ्रमों से (जो उसे बन्धन-ग्रस्त करती है) मुक्त करती है। इस प्रकार अपूर्णता से पूर्णता की प्राप्ति को ही 'मोक्ष' कहा जाता है। मोक्ष की अवस्था में विविध दु:ख का नाश हो जाता है। सभी प्रकार के दु:ख का विनाश ही मोक्ष है। मोक्ष-ज्ञान, इच्छा, धर्म, अधर्म व दु:खों के कारण का विनाश कर देता है। इसके फलस्वरूप दु:खों का आप से आप अंत हो जाता है।

कैवल्य का वर्णन करने के लिए आवश्यक है कि कैवल्य की स्थिति तक पहुँचने वाले अनाशय एवं कैवल्य के भाग चित्त का भी निर्धारण किया जाए।

कैवल्य की प्राप्ति केवल समाधि से ही हो सकती है, 'जन्म, मंत्र, औषधि, तपस्या' से नहीं क्योंकि इनके द्वारा सिद्धि प्राप्त करने वाले चित्त कर्माशय युक्त ही रहते हैं।

"प्रज्ञा के उदय होने पर अविद्या का नाश से वृत्तियों एवं संस्कारों का सर्वथा निरोध हो जाता है एवं दृष्टा की अपने स्वरूप में यानि विशुद्ध चैतन्य में प्रतिष्ठा हो जाती है। परन्तु जब विवेक ज्ञान का उदय हो जाता है, उस समय योगी के चित्त नि:सार संसार के विषयों की ओर नहीं जाता, उनसे सर्वथा विरक्त हो जाता है और उस विवेकज्ञान में निरंतर बढ़ता है तथा कैवल्य के अभिमुख हो जाता है। यानि अपने कारण में विलीन होना आरम्भ कर देता है, क्योंकि चित्त का अपने कारण में विलीन हो जाना और दृष्टा-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना यही कैवल्य है।"[6]

अणिमा सेन के शब्दों में चित्त के अपने कारण में लीन हो जाने पर पुरुष सदा सर्वदा के लिए शरीर के बंधन से मुक्त हो जाता है, यही विदेह मुक्ति है। "*As soon as Gita gets merged in the gaunas; the vital function too stops automatically and the Yogin is separated for ever from the body. This is the stage of Videhamukti according to Sankhya Yoga.*"[7]

योग-दर्शन के अनुसार कैवल्य की दशा में पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। इस सूत्र का उल्लेख किया है- "पुरुषार्थ शून्यान्यां प्रतिप्रसव: कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठावा चिति शक्तेरिति।"[8]

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि गुण पुरुष के योग एवं मोक्ष रूप प्रयोजन के सिद्धि के लिए हीर प्रवृत होते हैं, पुरुष के भोगापवगार्थ ही वे शरीर, इन्द्रियगुण एवं बुद्धि आदि के रूप में परिणाम प्राप्त करते हैं। सूत्रकार ने इस कार्य- कारणात्मक परम्परा के प्रलय के लिए 'प्रति प्रसव' शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ प्रति प्रसव शब्द में निहित अर्थ का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है- "कार्य कारणात्मक गुणों के व्युत्थान संस्कार, समाधि-संस्कार और निरोध संस्कार"।

उक्त तीनों के संस्कार मन में लीन हो जाते हैं, मन अहंकार में विलीन होता है, अहंकार स्वकारण बुद्धि में और बुद्धि त्रिगुण साम्य स्वरूपा प्रधान प्रकृति में प्रलय भाव प्राप्त करती है।

चूँकि गुणों का प्रतिप्रसव या प्रलय ही कैवल्य का स्वरूप है। उसमें त्रिगुण

का कार्य समाप्त हो जाने से पुरुष चित्त की उपाधि से रहित हो जाता है। उपाधि भूत चित्त न रहने से पुरुष का शुद्ध चैतन्य स्वरूप मात्र रहता है। कैवल्य की यह व्याख्या गुणों की दृष्टि से की गई है। क्योंकि चित्ति शक्ति की दृष्टि से चित्तिशक्ति के असंग स्वरूप में प्रतिष्ठा ही कैवल्य है। इस प्रकार के गुणों के संबंध में शून्य शुद्ध चैतन्य स्वरूप पुरुष का स्वरूप में अवस्थित रहना, बुद्धि का नित्यलय सिद्ध होने पर पुरुष भी, उसमें सदा असंग रहेंगे, यही कैवल्य है।

## संदर्भ-


1. Das Gupta, S.N.; *A History of Indian Philosophy*; Vol. 1; Cambridge at the University Press; 1957; p. 71.
2. Ibid.
3. Prasad, Rajendra; *Karma, Cuasation and Retributive Morality*; ICPR; New Delhi; 2004; p. 211.
4. Sharma, C.D.; *Critical Survey of Indian Philosophy*; M.L.B.D.; p. 73.
5. तत्व वैशारदी; पृ0-464.
6. योग सूत्र; lv/34; पृ0-121.
7. सेन अणिमा; S & A.B.V., p. 106.
8. योग सूत्र; vi/34; पृ0-121.


❖❖❖

# "लोकतंत्र में सूचना का अधिकार"

**मुकुन्द प्रसाद सिंह**

दुनिया हरदम एक जैसी नहीं रहती। यह परिवर्तनशील है। इसमें परिवर्तन वक्त और जरूरत के मुताबिक होते रहता है। आदिम समाज व्यवस्था और कबीलाई समाज से विकास के क्रम में राजतंत्र और नवाबशाही, औपनिवेशिक और समाजवादी शासन से लेकर लोकतंत्र तक के परिवर्तन सामने हैं। अब ऐसा क्यों मान लिया जाये कि परिवर्तन का यह दौर खत्म हो चुका है और मौजूदा प्रणाली हीं अंतिम, अपरिहार्य है।

आदिम मानव ने कभी राजतंत्र के बारे में सोचा नहीं होगा। राजाओं और नवाबों ने कभी संसदीय लोकतंत्र की कल्पना नहीं की होगी। वे अपनी विधि व्यवस्था को स्थायी और सर्वश्रेष्ठ मानते थे। सभी राजशाही में व्यक्ति और समाज के पास कोई अधिकार था, तो सिर्फ इतना कि वह सत्ता वर्ग की आज्ञा का चुपचाप पालन करे। ऐसी व्यवस्था में शासक को उसके कार्यों के लिए भले-बुरे, उचित-अनुचित कहना असम्भव था। शासक के शक्ति पर कोई वैद्यानिक प्रतिबंध नहीं था। राजा निरंकुश और सर्वशक्तिमान था। उसे ईश्वर का दूत समझा जाता था। उस पर कोई उँगली नहीं उठा सकता और न उसे किसी चीज के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता था।

परिवर्तन संसार का शाश्वत नियम है। औद्योगिक क्रांति तथा उदारवाद के प्रारम्भ के साथ हीं नागरिक स्वतंत्रता की अवधारणा आई। इसके बावजूद द्वितीय विश्वयुद्ध तक प्रजातांत्रिक देशों में भी शासन तंत्र में गोपनीयता एक स्वभाविक चीज बनी रही। विभिन्न दस्तावेजों में कैद सूचनाओं को गोपनीय तथा सामान्य नागरिक से सर्वथा दूर रखा जाता था। लोकतांत्रिक व्यवस्था के बावजूद राजनेताओं एवं अधिकारियों में स्वयं को शासक या राजा समझने की प्रवृत्ति हावी रही।

राजतंत्र में सर्वोच्च सत्ता एक व्यक्ति की हाथों में केन्द्रित होती थी। कुलीन तंत्र में कुछ व्यक्तियों के हाथों में पूरी सत्ता सिमटी होती थी। लोकतांत्रिक व्यवस्था के आने से यह शासन आम नागरिक के हाथों में आ गई। लोकतंत्र में राज्य की सर्वोच्च शक्ति जनता के हाथों में होती है। भले हीं इस शक्ति का उपयोग नागरिक प्रत्यक्षत: स्वयं करे या फिर अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से। लोकतंत्र में सत्ता का संचालन बहुमत के आधार पर होता है। इसपर किसी विशेष का अधिकार नहीं होता है। लोकतांत्रिक व्यवस्था भी दो प्रकार की होती है- प्रत्यक्ष लोकतंत्र और अप्रत्यक्ष लोकतंत्र। प्रत्यक्ष लोकतंत्र का बोलबाला बहुत कम है, जबकि अप्रत्यक्ष लोकतांत्रिक व्यवस्था पूरे विश्व में हावी होता नजर आ रहा है।

इस व्यवस्था में हर नागरिक को वोट देकर अपना प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होता है। ऐसे चुने हुए प्रतिनिधि हीं लोकतंत्र का संचालन करते हैं। एक सच्चा लोकतंत्र तभी हो सकता है, जब शासन-प्रशासन को देश और राज्य की जनता के प्रति अधिकाधिक जवाबदेह बनाया जाए, लेकिन आज लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में सबसे बड़ी समस्या यह है कि शासन-प्रशासन की निरंकुशता को नियंत्रित रखते हुए उसे किस तरह आम आदमियों के प्रति अधिक जवाबदेह, ईमानदार, कर्त्वयनिष्ठ, संवेदनशील, उत्तरदायित्वपूर्ण बनाया जाए। इसी परिप्रेक्ष्य में समय-समय पर अनेक अधिनियम बनाये गये हैं। इसी के बीच की एक कड़ी है, "सूचना का अधिकार"।

## भारत में सूचना का अधिकार अधिनियम

पूरी दुनिया में सूचना की आजादी के आन्दोलनों के साथ भारत ने भी इसकी जरूरत महसूस की। हालांकि यह माना जाता है कि भारत के संविधान की धारा 19 (1) (क) में जानने का अधिकार निहित्त है। भारतीय लोकतंत्र के इतिहास में नागरिकों के समक्ष पहली बार सूचना के अधिकार के सम्बन्ध में राजनीतिक प्रतिबद्धता 1977 के लोकसभा चुनाव के अवसर पर व्यक्त की गई थी। यह लोगों की सूचना प्राप्ति की आकांक्षा को दमन का परिणाम था जो वर्ष 1975 से 1977 के बीच प्रेस पर प्रतिबंध लगाकर व अधिकारों का

**नेट (शिक्षाशास्त्र) (अर्थशास्त्र), +2 शिक्षक, राजेन्द्र कॉलेजिएट स्कूल, छपरा**

दुरुपयोग कर दिया गया था। अपने चुनाव घोषणा पत्र में 1977 में जनता पार्टी ने यह वादा किया कि पारदर्शी सरकार की स्थापना की जायेगी और यह घोषित हुआ कि वह खुफिया सेवाओं और सरकारी अधिकारों का व्यक्तिगत या पक्षपात हितों के लिए दुरुपयोग नहीं करेगी। इस प्रतिबद्धता का पालन करते हुए जनता सरकार जिसके प्रधान मोरारजी देसाई थे, जो 1977 में बनी सरकार के द्वारा एक कार्यकारी संगठन का गठन भी किया गया, जो यह देखे और समीक्षा करे कि 1923 के सरकारी गोपनीयता अधिनियम को बदला जा सकता है या नहीं, ताकि जनता को सूचना बेहतर ढंग से प्राप्त हो सके। इस कार्यकारी संगठन समूह ने जिसमें कैबिनेट सचिवालय के अधिकारी, गृह विभाग, वित्त, रक्षा मंत्रालयों के अधिकारी आदि ने यह प्रस्ताव रखा कि 1923 के सरकारी गोपनीयता अधिनियम को बिना बदले हीं रखा जाए। इस कानून को न बदलने का यह प्रस्ताव जनआकांक्षाओं के विपरीत था। दिसम्बर 1989 में तत्कालीन प्रधानमंत्री बी०पी० सिंह ने ऑफिसियल सीक्रेट्स एक्ट में सुधार लाने एवं सरकारी कार्यों में पारदर्शिता लाने का प्रयास किया, लेकिन व्यवहार में सरकार के कामकाज में इनकी सरकार तथा बाद की सरकारों द्वारा कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया।

भारत में सूचना का अधिकार कानून को लेकर जमीनी स्तर पर आन्दोलन 1994 में राजस्थान के किसानों ने अरूणा रॉय एवं निखिल डे के नेतत्त्व में "हमारा पैसा, हमारा हिसाब" आन्दोलन के जरिये सूचना के अधिकार को देशभर में ख्याति दिलाने वाले अगुआ दस्ते का गौरव हासिल किया। पारदर्शिता का यह आन्दोलन गाँवों, पंचायतों ने विकास कार्यों में भ्रष्टाचार के खिलाफ तथा न्यूनतम मजदूरी के लिए संघर्षरत ग्रामीणों एवं ग्रामीण मजदूर-किसानों की देन है। राजस्थान से शुरू होता यह जनआन्दोलन अन्य राज्यों में फैलने लगा, परन्तु केन्द्र सरकार द्वारा इसपर कोई ध्यान नहीं दिया गया। हालांकि, अनेक राज्यों की इसकी जोरदार सिफारिश की कई राज्यों ने इस संदर्भ में ठोस कदम भी उठाए। राज्यों के बाद भारत में केन्द्रीय स्तर पर इस दिशा में पहल प्रारम्भ हुई। इसी आधार पर मार्च 2005 में सूचना का अधिकार विधेयक संसद में पेश किया गया। अंततः इसे 11 मई 2005 को लोक सभा में तथा 12 मई को राज्य सभा में इसे पारित कर दिया गया। 12 जून 2005 को राष्ट्रपति ने इसे स्वीकृति दी। इस 12 अक्टूबर 2005 से सूचना का अधिकार पूरे देश में प्रभावी हो गया। (जम्मू कश्मीर को छोड़कर जहाँ विधानसभा द्वारा पहले हीं सूचनाधिकार कानून पारित एवं लागू किया जा चुका था। इसके अलावा केन्द्र सरकार से जुड़े निकायों के संबंध में सूचना का अधिकार 2005 के तहत सूचना माँगने का अधिकार जम्मू-कश्मीर के नागरिकों को भी प्राप्त है।)

सूचना का अधिकार अधिनियम वास्तव में एक ऐतिहासिक विधान है। यह एक ऐसा व्यापक कानून है जो सरकारी, अधिकारियों से सूचना प्राप्त करने के लिए नागरिकों को वैधानिक अधिकार प्रदान करता है। इस अधिनियम के तहत सत्ता एवं शासन की व्यवस्थाओं में गोपनीयता के नाम पर सदियों से फैले भ्रष्टाचार को मिटाकर खुलापन, पारदर्शिता और जवाबदेही युक्त शासन व्यवस्था स्थापित करने वाला एक शक्तिशाली माध्यम है। यह लोगों को सरकारी संगठनों से जानकारी हासिल करने और उनसे सवाल पूछने में सक्षम बनाता है। इसके अन्तर्गत प्रार्थी आवेदन कर निर्धारित सीमा के भीतर आवश्यक सूचनाओं की प्राप्ति कर सकता है। हाँ, वैसी सूचनाओं को नहीं उपलब्ध कराया जा सकता, जो देश के विरूद्ध हो। सूचना का अधिकार आम व्यक्ति का अधिकार है। चाहे वह निर्धन हो या अशिक्षित उसे जानने का अधिकार है कि क्या सरकार, सार्वजनिक संस्थायें अपने दायित्वों को पूरा कर रही है अथवा नहीं। सूचना का अधिकार अधिनियम 2005 नागरिकों को किसी भी लोक प्राधिकरण से सूचना प्राप्त करने का अधिकार प्रदान करता है। किसी लोक प्राधिकरण का जन-सूचना अधिकारी नागरिकों को सूचना के अधिकार को मूर्त रूप देने में मुख्य भूमिका निभाता है। यह अधिनियम इसे विशिष्ट कार्य सौंपता है और किसी भी त्रुटि के मामले में पूरी जवाबदेही इसी की होती है। अधिनियम के अन्तर्गत सूचना का अधिकार किसी नागरिक को किसी लोक प्राधिकरण से ऐसी सूचना माँगने का अधिकार है, जो इस लोक प्राधिकरण के पास उपलब्ध हो या इसके नियंत्रण में उपलब्ध हो। अधिनियम नागरिकों को संसद सदस्यों और राज्य विधान मंडलों के बराबर सूचना का अधिकार प्रदान करता है। अधिनियम के अनुसार ऐसी सूचना जिन्हें संसद या राज्य विधानमंडल को देने से इनकार नहीं किया जा सकता, उसे किसी व्यक्ति को भी देने से इनकार नहीं किया जा सकता। आवेदक को सूचना उसी रूप में दी जाती, जिस रूप में वह चाहता है। सूचना के अधिनियम के तहत सूचना का अधिकार केवल भारत के नागरिकों को प्राप्त है। इसमें वैसे लोगों को सूचना देने का कोई प्रावधान नहीं है जो नागरिक की श्रेणी में नहीं आते हैं। फिर भी यदि

किसी निगम, संघ, कंपनी, गैर-सरकारी संगठन आदि के किसी ऐसे कर्मचारी या अधिकारी द्वारा प्रार्थना-पत्र दिया जाता है, जो भारत के नागरिक हैं तो उसे सूचना दी जाएगी, बशर्ते वह अपना नाम इंगित करे।

कोई भी सूचना आवेदन लिखते समय यह स्पष्ट होना चाहिए कि हम क्या जानना चाहते हैं। इसकी स्पष्टता का होना जरूरी है। सूचना इतनी हीं माँगें जितनी जरूरी हो। ऐसा न हो कि संजीवनी बूटी के बदले पूरा पहाड़ माँग ले। इसमें प्रत्येक पेज के लिए दो रूपये की दर से भुगतान करना होता है।

आवेदन देते समय यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि हमें वह सूचना क्यों चाहिए। इसे आवेदन में लिखना जरूर चाहिए। अधिकारी द्वारा पूछने की स्वतंत्रता है कि आपको सूचना क्यों चाहिए। सूचना किसी अटके हुए काम को पूरा करने के लिए माँग रहे हैं या किसी अनियमितता को उजागर करने के लिए फिर किन्हीं नियमों की जानकारी के लिए। उद्देश्य की स्पष्टता को होना परम् आवश्यक है।

सूचना राज्य सरकार से चाहिए या केन्द्र सरकार से। अगर किसी स्वयं सेवी संस्था या निजी कम्पनी या व्यक्ति से संबंधित कोई सूचना की जरूरत हो तो वैसी सूचना उपलब्ध कराने का दायित्व किसका है। इसके लिए आवेदन किस कार्यालय में जमा करना होगा? क्या इसे सहायक सूचना अधिकारी के पास जमा करना उचित होगा या जनसूचना अधिकारी के पास।

सूचना का अधिकार अधिनियम 2005 का उद्देश्य जैसा कि अधिनियम की प्रस्तावना में कार्यकरण में पारदर्शिता और दूरदर्शिता के संवर्धन के लिए लोक प्राधिकारियों के नियंत्रणाधीन सूचना तक पहुँच सुनिश्चित कराने के लिए नागरिकों के सूचना की अधिकार की व्यावहारिक शासन पद्धति स्थापित करने, एक केन्द्रीय सूचना आयोग तथा राज्य सूचना आयोग का गठन करने और उनसे अनुषांगिक विषयों का उपबंध करने के अधिनियम की व्यवस्था करना है। इस प्रकार इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य नागरिकों को सूचना के अधिकार के माध्यम से व्यवहारिक शासन पद्धति की स्थापना करना है।

यह अधिनियम जनता को विभिन्न प्रकार के मुद्दों पर जैसे नागरिक सुविधाओं का उपयोग, सेवाओं की गुणवत्ता का स्तर तथा नागरिकों के आधारभूत मानवीय अधिकारों के बारे में सूचना प्राप्त करने हेतु सत्ता एवं शासन सक्षम बनाकर उसकी व्यवस्थाओं में खुलापन, जवाबदेही एवं पारदर्शिता लाना और प्रत्येक लोक प्राधिकारियों को अपने दायित्व के प्रति उत्तरदायी बनाता है।

सूचना का अधिकार अधिनियम 2005 के कुल 31 अनुच्छेद, 6 अध्याय, 2 अनुसूचियों के अन्तर्गत नागरिकों से आवेदन लेने तथा इन्हें सूचना उपलब्ध कराने की समुचित व्यवस्था की गई है। इसके अन्तर्गत मुख्य व्यवस्था इस प्रकार से है-

- अधिनियम की धारा 6(1) के अनुसार कोई भी व्यक्ति सूचना के लिए आवेदन कर सकता है, इसमें उम्र की कोई बाध्यता नहीं है।
- सूचना प्राप्ति के लिए आवेदन शुल्क 10 रूपया है, जिसे डिमाण्ड ड्राफ्ट, पोस्टल ऑर्डर्स, बैंकर्स चेक के माध्यम से संबंधित विभाग के लोक प्राधिकारी के अकाउंट्स अधिकारी के नाम देय होगा। लेकिन सूचना शुल्क प्रति पेज 2 रूपये के हिसाब से देना होता है, जो कि लोक सूचना अधिकारी के आग्रह पर बाद में दिया जाता है। लेकिन गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वालों को नि:शुल्क आवेदन का प्रावधान है। धारा 7(5)
- अधिनियम की धारा 7(1) के अनुसार लोक सूचना अधिकारी द्वारा 30 दिनों के अन्दर सूचना उपलब्ध करानी होगी। यदि कोई सूचना निजी व्यक्ति के जीवन तथा स्वतंत्रता से संबंधित है तो इसे 48 घंटों के अन्तर्गत देने का प्रावधान है।
- यदि किसी आवेदक को निर्धारित समय अवधि के अन्तर्गत सूचना प्राप्त नहीं होती है या सूचना आधी-अधूरी है या सूचना देने से मना कर दिया गया है, तो ऐसी स्थिति में उसी संस्थान कार्यालय विभाग के प्रथम अपीलीय अधिकारी के पास अपील कर सकते हैं और इस संबंध में धारा 18 के अन्तर्गत केन्द्रीय एवं राज्य सूचना आयोग में संबंधित विभाग के लोक सूचना अधिकारी के खिलाफ शिकायत भी की जा सकती है।
- किसी विभाग के लोक सूचना अधिकारी एवं प्रथम विभागीय अपीलीय अधिकारी द्वारा आवेदक को पूरी सूचना नहीं दी जाती तो, ऐसी स्थिति में अधिनियम की धारा 19(1) के अन्तर्गत केन्द्रीय तथा राज्य सूचना आयोग में 90 दिनों के अन्तर्गत द्वितीय अपील की जा सकती है।
- सूचना को प्रत्येक नागरिक को सुलभ तथा सरल तरीकों से

पहुँचाने के लिए अधिनियम के अध्याय 3 की धारा 12(1) के अन्तर्गत केन्द्रीय सूचना आयोग एवं धारा 15(1) के अन्तर्गत राज्य सूचना आयोग के गठन का प्रावधान है।

- हम किसी निजी निकाय से संबंधित सूचना की माँग कर सकते हैं, जो भारत में लागू किसी अन्य कानून के तहत किसी लोक प्राधिकारी की पहुँच में हो। इसके अन्तर्गत संबंधित अधिकारी से अनुरोध किया जा सकता है कि वे संबंधित ऐक्ट के अधीन माँगी गई सूचना इस निजी संस्थान से हासिल करा लें और सूचना के अधिकार के तहत वह सूचना हमें उपलब्ध करा दें। जैसे:- निजी स्कूल, जो शिक्षा विभाग द्वारा नियंत्रित हैं, से संबंधित कोई सूचना हम शिक्षा विभाग के जरिए प्राप्त कर सकते हैं।
- यदि लोक प्राधिकारी के सूचना इलेक्ट्रॉनिक मोड (Electronic Mode) में रखी हो तो आवेदक इसी रूप में सूचना प्राप्त कर सकता है। किंतु किसी मामले मेंयदि सूचना इलेक्ट्रॉनिक रूप में नहीं रखी गई है तो केन्द्रीय सूचना आयोग के निर्देशानुसार ऐसी सूचना आवेदक के लिए इस रूप में तैयार नहीं की जायेगी। सूचना प्राधिकारी के पास सूचना जिस रूप में उपलब्ध हो, उसी रूप में वह आवेदक को सूचना उपलब्ध करा सकता है।
- ऐसे सभी निकाय जो सरकार के नियंत्रण में हैं और इसके द्वारा पर्याप्त रूप से वित्त पोषित हैं, इस एक्ट के दायरे में आते हैं। सरकार अधिसूचना जारी करके ऐसे अन्य निकायों को इस परिधि में ला सकती है, जो अबतक इस परिधि में नहीं हैं।
- भारत सरकार ने लोक सूचना अधिकारी से सूचना प्राप्त करने के लिए इस एक्ट के अधीन अबतक कोई फर्म निर्धारित नहीं किया है। लेकिन अभी तक ग्यारह राज्य एवं केन्द्र शासित प्रदेशों ने फर्म निर्धारित किए हैं। अन्य राज्य सरकारें यदि वे चाहें तो ऐसा फर्म निर्धारित कर सकती हैं।
- ऐसे नागरिक जिन्हें सूचना समय पर नहीं मिलती या जिन्हें सूचना देने से इनकार कर दिया जाता है या जिन्हें लगता है कि दी गई सूचना उपयुक्त नहीं है, अपील दाखिल कर सकते हैं।

## "सूचना का अधिकार कानून 2005 का प्रभाव"

सूचना का अधिकार कानून चंद कानूनों में से एक है, जिसने इतनी जल्दी पूरे देश व प्रदेश के अन्दर हर वर्ग के लोगों का विश्वास जीता है, जिसका प्रयोग लोग व्यवस्थाओं में पारदर्शिता लाने व भ्रष्टाचार के विरूद्ध एक ऐसे हथियार के रूप में कर रहे हैं, जो सत्ता एवं शासन व्यवस्थाओं में दशकों से मौजूद गोपनीयता को सामने पेश कर रहा है। सत्ता तथा शासन की सड़ांध बाहर आ रही है। देश की विधायिका एवं अधिकारी वर्ग इस कानून को बेहद असहज महसूस कर रहे हैं, लेकिन कानून देश में सत्ता एवं शासन में पारदर्शिता, जवाबदेही जैसी संस्कृति का विकास हुआ है। अब कोई भी व्यक्ति किसी भी अधिकारी या कर्मचारी से बेधड़क पूछ सकता है कि मेरा काम क्यों नहीं हुआ? कब होगा? इसके लिए कौन अधिकारी तथा कर्मचारी जिम्मेवार है? उस अधिकारी पर क्या कार्यवाही हुई है? इन सभी सवालों का जवाब जानने का अधिकार, अब प्रत्येक नागरिक को सूचना का अधिकार कानून बनने के बाद एक अधिकार के रूप में मिला है। अब जनप्रतिनिधियों, अधिकारियों को अपने उळारदायित्व का बोध हो रहा है। इससे पहले सत्ता तथा शासन में लोगों की भागीदारी केवल मतदान तक सीमित थी। परंतु अब स्थिति बदल गयी है, यह कानून आम नागरिकों को सुशासन के द्वार तक ले जाने में प्रभावशाली कदम है।

हमारे देश की लोकतांत्रिक व्यवस्था में अगर कार्यपालिका के पास शासकीय गोपनीयता कानून है, विधायिका के पास संसदीय विशेषाधिकार है, न्यायपालिका के पास, न्यायालय की अवमानना से संबंधी कानून है, तो आम नागरिकों के पास भी सूचना का अधिकार का कानून एक सशक्त हथियार के रूप में है। यह सूचना के अधिकार कानून की हीं उपलब्धि है कि बेलगाम नौकरशाह और लापरवाह विधायिका दोनों कानूनी अंकुश लगाता है। अब कोई नहीं पूछ सकता कि तुम पूछने वाले कौन हो? इस कानून ने अल्प समय में हीं पूरे देश के अन्दर लोगों का विश्वास जीता है। इस कानून को लेकर नागरिकों में भारी उत्साह है। इसको बढ़ावा देने के लिए कुछ राज्यों ने आर०टी०आई० क्लबों का गठन कर रखा है। वहीं दूसरी ओर कुछ ऐसे

सक्रिय आर०टी०आई० कार्यकर्त्ता हैं, जो इस कानून के क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं, उन्हें कई बार भ्रष्टाचारियों द्वारा जान से मारने की धमकी मिल रही है। कुछ कार्यकर्त्ताओं की हत्याएँ भी हो गयी हैं। कुछ अधिकारियों द्वारा गलत सूचनायें देने की बात भी सामने आई है। इसके बावजूद भी पूरे जोश एवं उत्साह के साथ इस कानून का प्रयोग सर्वाजनिक हित से जुड़े हुए, उन तमाम मुद्दों पर कर रहे हैं, जिसके कारण देश की शासन व्यवस्थाओं में सदियों से अन्धकार फैला था। इस कानून का प्रभाव विभिन्न क्षेत्रों में भ्रष्टाचार के कई मामलों को उजागर करने में प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से महत्वपूर्ण योगदान कर रहा है। भारतीय लोकतंत्र एक नये दौर से गुजर रहा है। सुशासन और उळारदायित्व सुनिश्चित किये बगैर लोकतंत्र की परिकल्पना साकार करना सचमुच असम्भव है। सूचना के अधिकार ने इसे पहली बार संभव बनाया है।

## संदर्भ-सूची


(1) अरविन्द केजरीवाल, विष्णु राजगढ़िया सूचना का अधिकार, पृष्ठ - 32

(2) अरविन्द केजरीवाल, विष्णु राजगढ़िया सूचना का अधिकार, पृष्ठ - 39

(3) अरविन्द केजरीवाल, विष्णु राजगढ़िया सूचना का अधिकार, पृष्ठ - 37

(4) प्रकाश कुमार, के० बी० राम - सूचना का अधिकार

(5) गुप्ता आ० के० एवं सैनी, Right to information Act

(6) विट जे०सी०, Understanding R.T.I.

(7) प्रकाश कुमार, के० वी० राम - सूचना का अधिकार।


❖❖❖

# आधुनिक शिक्षा पद्धति में नवाचार

**डॉ० मनीषा बासल**

शिक्षा का क्षेत्र वैदिक युग से प्रारंभ कर आधुनिक युग तक अपनी अदम्य प्रतिमा का विस्तार करता हुआ 21 वीं सदी के क्रांतिकारी युग में प्रविष्ट हो चुका है। प्राचीन शिक्षा पद्धति जिसे हम वैदिक शिक्षा के नाम से जानते है आधुनिकता की चादर ओढ़ कर आधुनिक युगीन सोपाना रोहित हो गई है। शिक्षा के क्षेत्र में आमूल-चूल परिवर्तन हुआ आज हम विज्ञान युग में जी रहे है जिसे आधुनिक शिक्षा पद्धति की देन मानते है। लार्ड मैकाले ने आधुनिक शिक्षा का द्वीप जलाया वह धीरे-धीरे इस देश पर अपना प्रभाव छोड़ता चला गया।

आज हम मंगल व चंद्रमा पर पहुंच चुके है। विज्ञान के माध्यम से हम नित नये शोधो के द्वारा अप्रत्याशित विकास कर रहे है। मौसम विज्ञान भूगर्भ विज्ञान, वायु विज्ञान, समुद्र विज्ञान के माध्यम से उन तत्वों को जानने का अवसर मिला जिसके लिये कभी हम सोचा करते थे। आधुनिक शिक्षा पद्धति के कारण ही हम चांद तारो की सैर करते है। संचार क्रांति मेट्रो सेवा, वायु सेवा इन्टरनेट वेबसाइट, घर बैठे वायु टिकिट, ट्रेन टिकट इनकी जानकारी, विदेशों में रहने वाले लोगो से आमने सामने बैठकर बातचीत करना। क्षण-क्षण की प्रत्येक कोणो की जानकारी आज हम आधुनिक शिक्षा पद्धति के द्वारा ही प्राप्त करते है।

आधुनिक काल में ज्ञान का विस्फोट हुआ है; विशेषकर विज्ञान और गणित में बड़ी मात्रा में नई बातें आ गयी हैं। अन्य विषयों; जैसे-इतिहास, अर्थशास्त्र आदि में भी विषय-सामग्री बढ़ती ही जाती है। ऐसी दशा में यह निर्णय करना कठिन हो रहा है कि पाठ्यक्रम में क्या रखा जाए और क्या न रखा जाए।

पुराने ढंग के बौद्धिक और व्यावसायिक ज्ञान से बचाने के लिए कुछ लोगों ने ज्ञान के स्थान पर प्रक्रिया को अधिक महत्व प्रदान किया है। वे प्रक्रिया को ही पाठ्यक्रम की सूची में सर्वोत्तम सामग्री घोषित करते है और उसी आधार पर परिवर्तन चाहते हैं। किन्तु अन्य बौद्धिक समागम (इन्टेलेक्चुअल इनकाउण्टर) पर बल देते है और ज्ञानानुशासन (सब्जेक्ट डिसिप्लिन) को महत्वपूर्ण बताते हैं। इस विवाद में न पड़कर मध्य मार्ग ग्रहण करना ही श्रेयस्कर होगा। अतएव ज्ञानराशि और प्रक्रिया-दोनों को ही पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाए। किन्तु तभी मान्य किया जाए, जब वे बालक के वर्तमान जीवन से संबद्ध एवं संगत हों। पुरानी सामग्री को परम्परा के आधार पर पाठ्यक्रम में रखना स्वीकार न किया जाए। किन्तु तथ्य की बात तो यह है कि इस सबमें शिक्षक सबसे महत्व पूर्ण होता है जो पुरानी या नवीन सामग्री का समुचित उपयोग कर लेता है।

इन सब बातों को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम में परिवर्तन करना चाहिए। यह आज की आवश्यकता है। इसमें विलम्ब करने से देश की समस्याएं बढ़ती ही जाएंगी। वे विस्फोटक रूप भी धारण कर सकती है। शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तन की बात तो बहुत दिनों से कही जा रही है और बड़े-बड़े लोगों ने भाषणों तथा चर्चाओं में प्रचलित प्रणाली की बड़ी निन्दा भी की है। किन्तु आज तक कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया जा सका है। किसी ऐसे परिवर्तन को क्रियान्वित करने से पूर्व शिक्षा के कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण जरूरी होगा। सामान्य संशोधनों को तो शिक्षक मान्य कर लेते है; किन्तु आमूल परिवर्तन में उनकी प्रवृत्ति पुरानी चीजों को बनाये रखने की ओर जाती है और अन्दर-अन्दर परिवर्तन के विरूद्ध भावना कार्य करने लगती है, जो उसके लिए घातक सिद्ध हो सकती है। स्मरण रहे कि शिक्षा-प्रणाली को बदलने में शिक्षा के उद्देश्यों, उनके अनुकूल पाठ्यक्रम-निर्माण तथा उसके अनुकूल पद्धतियों का प्रयोग आवश्यक होगा। इस कार्य में समाज, तथा शिक्षार्थी-सभी का सहयोग वांछित है। दूसरी स्मरणीय बात यह है कि पाठ्यक्रम को कोई दृढ़ व स्थिर रूप न दिया जाए। वह सदा प्रयोगात्मक, नम्य, लचीला, और परिवर्तन-शील रहता है जिससे पढ़ाये जाने पर शिक्षकों के अनुभवों के आधार पर उसमें जो संशोधन वांछनीय हो, उन्हें समाविष्ट किया जा सके।

पिछले 36 वर्षो में पाठ्यक्रम के परिवर्तन की बात हमने अनेक बार सोची है। इसलिए प्रत्येक स्तरपर पुस्तकें बढ़ी हैं, शिक्षा में वैविध्य आया है और सहस्त्रों नई संस्थाएं खोली गई है, परन्तु असन्तोष वहीं का वहीं है। हम-यानी न केवल भारत

**अध्यक्ष, मनोविज्ञान विभाग, हवाबाग महिला महाविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)**

में वरन् कहीं भी, शिक्षा में सन्तोष व्यक्त नहीं कर पाते हैं। हमें लगता है कि शिक्षा कहीं न कहीं हमारे हाथ से आगे खिसक गई है या हमारे नियन्त्रण में नहीं है। पाठ्यक्रम में नये आयाम देना, उसमें सुधार करना, नई पाठ्यसामग्री जोड़ना इत्यादि अपने में काफी नहीं है। वस्तुतः स्थिति तो ऐसी है कि हमें समस्त पाठ्यक्रम में आमूलचूल परिवर्तन लाने होंगे। यदि ऐसा न किया गया तो परम्पराओं के चलाने के परिणाम कही भयंकर होंगे।

जब हम पाठ्यक्रम की बात करते हैं तो आज हमें कई प्रकार की बातों को ध्यान में रखकर परिवर्तन की बात सोचती होगी। उदाहरण के लिए पाठ्यक्रम का सीधा-सादा अर्थ है, शैक्षिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पढ़ाई जाने वाली सामग्री। किन्तु समस्या तो यह है कि शिक्षा में आने वाले कल के लिए किस प्रकार की सामग्री रखना उचित होगा, क्योंकि स्वयं समाज के उद्देश्य और दिशाएं परिवर्तित हो रहे हैं। यह काम तो कोई भविष्य द्रष्टा ही कर सकता है कि भविष्य का असली प्रारूप वह हमारे सामने आज ही प्रस्तुत कर दे। समाज शास्त्री तो केवल संकेत दे सकता है, आयाम निर्धारण कर सकता है और इससे अधिक वह कुछ नहीं कर सकता।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि हम केवल असहाय अवस्था में बैठे रहें और आने वाले कल की प्रतीक्षा करते रहें। हमें कल के लिए तो उठना ही पड़ेगा। उसके लिए कुछ न कुछ आतिथेय भी तैयार करना पड़ेगा और वह तैयारी केवल एक ही प्रकार की सम्भव है-वैविध्य। यदि हम शिक्षा को बड़े संकीर्ण दृष्टि से न देखे और परम्पराओं की रक्षा के लिए कल की बलि न चढ़ाएं तो यह सम्भव है कि कई प्रकार के पाठ्यक्रम हमें अपनाने पड़ेगे। उदाहरण के लिए गांव के लिए अलग और नगर के लिए अलग।

आज हमारा राष्ट्र स्वतंत्र है और विकसित देशों में इसकी गणना की जाती है। स्वतंत्रता के बाद हमारे सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक सभी क्षेत्रों में एक प्रकार की क्रान्ति सी दिखाई पड़ती है। शिक्षा शास्त्रियों ने पाठ्यक्रम की रूपरेखा तैयार करते समय उपुर्यक्त सभी क्षेत्रों का विस्तृत विश्लेषण-सा किया प्रतीत नहीं होता है। ऐसा जान पड़ता है कि इन्होंने भी भारतीय नेताओं की भांति अपनी परिस्थितियों को भुलाकर संयुक्त राज्य अमेरिका या यूरोप के देशों को आदर्श माना तथा पाठ्यक्रम के संगठन मे उनका पूर्णरूपेण अनुकरण किया। उसका दुष्परिणाम आज हमको अनेक रूपों में; जैसे-शिक्षित वर्ग में बेकारी, मानवीय श्रम या हस्त कार्य के प्रति घृणा की धारणा, भौतिक सुविधाओं के प्रति आकर्षण, यौन सम्बन्धों में विकार, भारतीय संस्कृति के प्रति घृणा मादक वस्तुओं का खुलकर प्रयोग, नारी की स्वतंत्रता की आड़ में नवयुवतियों में बढ़ती उच्छड्खलता, बड़ों के प्रति आदर भाव की समाप्ति, अनैतिक कार्यों में वृद्धि, राष्ट्र-घातक कार्यों में वृद्धि दिखाई देता है। इन समस्त दुष्परिणामों के लिए समाज अध्यापक को जिम्मेदार मानता है, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि यह सभी दूषित पाठ्यक्रम का परिणाम है।

कुछ यंत्र जैसे रेडियो या टेलीविजन द्वारा पूर्ण रूप से पाठ पढ़ाया जा सकता है। किन्तु उनके द्वारा पाठ पढ़ाने में विशेष प्रणाली का प्रयोग करना आवश्यक है। मोटे रूप से श्रव्यदृश्य सामग्री को दो भागों में बांटा जा सकता है। पहले वर्ग में यह श्रव्य-दृश्य सामग्री आती है जिसे शिक्षक कक्षा में ले जाकर दिखा सकता है और दूसरे वर्ग में वे उदाहरण आते है जिसके पास बालक को ले जाकर ही उनका उपयोग हो सकता है। पहले वर्ग के उपवर्ग निम्नलिखित है:

1. चलचित्र, टेलीविजन इत्यादि।
2. द्विदिशा विस्तार रेखाचित्र इत्यादि; जैसे-फोटो, चित्र, नक्शे, पोस्टर, चार्ट आदि।
3. त्रिदिशा विस्तार पदार्थ; जैसे-मॉडल (मिट्टी या लकड़ी के बने) नमूने, वास्तविक वस्तुएं इत्यादि।
4. श्रव्य सहायक सामग्री; जैसे-रिकार्ड तथा आवाज उत्पन्न करने में अन्य साधन।
5. विशिष्ट प्रकार की सहायक सामग्री; जैसे- लिंक ट्रेनर, ग्लोब, श्याम-पट की सतह के रूप का या सूक्ष्म रूप में किसी यन्त्र स्थान का मॉडल इत्यादि; जैसे-भाखड़ा बाँध का मॉडल।
6. प्रदर्शन-अभिनय और प्रयोगशाला प्रदर्शन।

दूसरे वर्ग में जो सहायक सामग्री आती है, उनका उपयोग तब होता है जब ऐसे स्थानों पर बालकों को ले जाया जाता है; जैसे- जंगल, खेत, पार्क, फैक्टरी संग्रहालय, ऐतिहासिक स्थान इत्यादि। इन स्थानों पर बालक जाकर, देखकर तथा अनुभव करके बहुत-कुछ सीख जाता है।

## श्रव्य-दृश्य सामग्री के उपयोग के कारण

1. श्रृव्य-दृश्य सामग्री के उपयोग के द्वारा महत्वपूर्ण प्रत्ययो एवं विचारों में स्पष्टता आज जाती है।
2. यह सामग्री हमें प्रेरणा प्रदान करती है।

3. यह सामग्री उन अनुभवों को जिनको बालक को सीखता है, तार्किक एवं सुसंगठित ढंग से प्रदान करती है।
4. श्रव्य-दृश्य सामग्री में साधन प्रदान करती है जिसके द्वारा हम छात्रों की वे उचित अनुभव देनें में सफल होते हैं जो उन्हें किसी दूसरे प्रकार से नहीं मिल सकते।
5. यह बालक के सीखने में दृढ़ता ला देती है।

## श्रव्य-दृश्य सामग्री के उपयोग किस प्रकार किया जाय?

1. श्रव्य-दृश्य सामग्री का उपयोग करने से पहले उसकी योजना अच्छे प्रकार से बना लेनी चाहिए।
2. इसक उपयोग शैक्षणिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए होना चाहिए। यह उद्देश्य पहले से ही उचित ढंग से निर्धारित कर लेना चाहिए।
3. इससे प्रथम कि बालक को श्रव्य-दृश्य पदार्थ दिखायें जायें, उन्हें उचित प्रस्तावना दे देनी चाहिए।
4. शिक्षक को इस बात की विशेष सावधानी रखनी चाहिए, कि जो श्रव्य-दृश्य सामग्री वह कक्षा में दिखा रहा है, वह वही है जो उसने पाठ योजना बनाते समय निर्धारित की थी।
5. शिक्षक की सहायता सामग्री उसी स्थान पर प्रयुक्त करनी चाहिए, जहां वह आवश्यक है।
6. शिक्षक को चाहिए कि वह विद्यार्थियों को अपनी प्रतिक्रिया को सहायक सामग्रियों के प्रति व्यक्त करने के लिए प्रोत्साहित करें। उन्हें इस बात का अवसर देना चाहिए कि वे सहायक सामग्री को स्वयं देखकर उनके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करें।
7. शिक्षक को विश्वस्त होना चाहिए। कि श्रव्य-दृश्य सामग्री सारी कक्षा में दिखायी पड़ रही है।
8. उसे विभिन्न प्रकार की सहायक सामग्री का उपयोग करना चाहिए।
9. श्रव्य-दृश्य सामग्री के उपभोग करने से ही शिक्षक का उत्तरदायित्व समाप्त नहीं हो जाता। यह तो केवल उनके शिक्षण प्रदान करने में सहायक यंत्र है, न कि उसकी शैक्षिक प्रक्रिया का अन्त। अतएवं शिक्षक को इनकी सहायता से शैक्षिक प्रक्रिया को आगे बढ़ाना चाहिए।

## श्रव्य-दृश्य सामग्री के उपयोग के सम्बन्ध में सावधानियाँ

श्रव्य-दृश्य सामग्री का उपयोग सावधानीपूर्वक करना चाहिए। इनके प्रयोग के सम्बन्ध में छः मुख्य सिद्धान्तों को ध्यान में रखना चाहिए। ये सिद्धान्त है:

1. सीखने के उद्देश्यों के अनुरूप सामग्री का चुनाव किया जावे।
2. विद्यार्थियों को श्रव्य-दृश्य सामग्री के उपयोग के लिए तैयार किया जाय।
3. सामग्री को क्रियान्वित करने की तैयारी की जाय।
4. विद्यार्थियों को भाग लेने के अवसर प्रदान किए जाए।
5. अनुसरण क्रियाओं का आयोजन किया जाए।
6. परिणामों का मूल्याकंन हो।

इन सब सिद्धान्तो को यदि ध्यान में न रखा जाए तो श्रव्य-दृश्य सामग्री का प्रयोग व्यर्थ हो जायेगा। इसलिए हम कहते है कि श्रव्य-दृश्य सामग्री के प्रयोग में ऐसी सावधानियां ध्यान में रखनी चाहिए कि वह शिक्षण को सफल बनाने में सक्षम हो। यदि श्रव्य-दृश्य सामग्री का प्रयोग एवं चुनाव वांछित ढंग से न हो तो वह विद्यार्थी के लिए हानिकारक भी हो सकती है।

आधुनिक शिक्षा पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता रोजगारोन्मुख शिक्षा है। जिसके द्वारा हम रोजगारोन्मुख होते है। कम्प्यूटर शिक्षा के द्वारा आज युवा अपना मनपसंद रोजगार प्राप्त कर रहे है। तकनीक की नई-नई बहु आयोजित व्यवस्था भारतीय युवाओं को कुछ विशेष करने के लिये प्रेरित कर रही है। जिसके बल पर बड़े से बड़े असंभव कार्य को हम साध्य कर सकते है। विदेशों में भी हमारी शिक्षा का व्यापक प्रचार व प्रसार हो रहा है। कारपोरेट जगत इसका साक्षी है जिसमे क्रांतिकारी विकास हुआ है। इस समग्र विकास का व्यक्ति पर धनात्मक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा है और यह सब आधुनिक शिक्षा पद्धति का ही परिणाम है।

## संदर्भ


1. प्रतियोगिता दर्पण - अक्टूबर 2011.
2. सैद्धांतिकी - अप्रैल 2013.
3. साहित्य परिचय - रामशकल पांडे
4. शिक्षण कला एवं नवीन पद्धति - एस. एस.माथुर.


❖❖❖

# बाल पोषण पर महिला आधुनिकता का प्रभाव

**सीमा पाण्डेय**

## भूमिका

महिलाओं के प्रति दृष्टिकोण में हमेशा से ही दो आयाम देखें जाते रहे हैं एक दृष्टिकोण उन्हें सदा बन्दनीय पूज्यनीय तथा पुरुषों के समकक्ष समझता आ रहा है तो दूसरी ओर उन्हें द्वितीय श्रेणी के नागरिक के रूप में भी देखा जा रहा है।

पिछले कुछ दशकों में महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों की कहनियाँ हृदय विचारक रही है। उन्हें भयंकर यातानाओं का शिकार बनना पड़ा है। आज कल कोई भी पत्र पत्रिकाओं में ऐसा नहीं देखा जाता है जिसमें महिला उत्पीड़न की एक न एक भयंकर घटना की चर्चा न छपती हो।

इसके मूल कारण के तह में जाकर विभिन्न परिस्थितियों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक हैं महिला आधुनिकता का बाल पोषण किस रूप में प्रभाव पड़ता है यह अध्ययन के आधार पर देखा जा सकता है। महिलाओं के बारे में बृहद जानकारी प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल और वर्तमान संदर्भ में देखा जा सकता है क्योंकि किसी एक खास कालखण्ड के आधार पर इसकी समुचित व्याख्या संभव नहीं है। अपितु सम्पूर्ण रूप से अध्ययन की आवश्यकता है।

वर्तमान अध्ययन महिला आधुनिकता का बाल-पोषण पर प्रभाव को देखने के क्रम में महिला आधुनिकता को वर्तमान संदर्भ में देखना आवश्यक है।

आज की नारी अपने बल पर किसी भी उपलब्धि को प्राप्त कर सकती है। पुरुषों के सहयोग की आवश्यकता जब रह ही नहीं गई, तब उनके नियंत्रण की बात भी बेतुकी लगती है। आज की नारी प्रशंसा सुनकर भूलावे में आने वाली नहीं अपने अधिकार को प्राप्त करने के लिए वह किसी भी परिस्थिति का सामना करने को तैयार है। वह ऐसे विध्न को नकारती है। जिससे सिर्फ कर्त्तव्य की बात की जाती है। आर्थिक क्षमता प्राप्त करके नारियों का आत्मनिर्भर बनने की मन प्राण से चेष्टा कर रही है और यह स्थिति उनकी प्रगति का बहुत बड़ा आधार है।

आधुनिक नारी नव जागरण के इस युग में प्रगति के आलोक में नयन खेलकर देख रही है। जीवन के विविध क्षेत्रों में उसे पुरुष के समान ही उत्कर्ष तथा विकास के अवसर हैं। अंग्रेजी शिक्षा तथा पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क में उसने सदियों का पुरातन वस्त्र उतार फेंका है। स्वावलम्बन तथा आत्मसम्मान की भावना उसमें प्रमुख है। आधुनिक नारी में शिक्षा चेतनता तथा स्व-व्यक्तित्व है। पाण्डेय (1962) अपने व्यक्तित्व के उत्थान एवं उसकी प्रतिष्ठा के लिए आज की नारी कृत संकल्प है। अपने अधिकारों के सम्बन्ध में उसे दृढ़ विश्वास है कि वे भिक्षावृति से न मिले है न मिलेंगे। क्योंकि उनकी स्थिति आदान-प्रदान योग्य वस्तुओं से भिन्न है।

वर्मा 1956 आज की नारी को यह बोध है कि प्रकृति के विधान ने नहीं, बल्कि मनुष्य के विधान ने उसे छोटा बनाया। पुरुषों की स्वार्थी एवं अनुदरक प्रवृत्ति ने समानता एवं न्याय के सारे सिद्धान्तों को अपने हित के अनुकूल निर्मित किया। आज विकास करती नारियों को पग-पग पर बाधा उपस्थित हो रही है। लेकिन वह सभी चुनौतियों का सामना करती हुई स्वच्छन्द भाव से आगे बढ़ रही है।

किसी भी देश की आधी शक्ति नारी के पास है। देश के समुचित उत्थान के लिए नारियों का सहयोग अपेक्षित है। भारतीय परिवेश के लिए नारियों की जागरूकता की परम आवश्यकता थी। इस सम्बन्ध में मार ग्रेट कजन 1939 ने कहा है कि "भारतीय नारी के सामने प्रधान लक्ष्य था नारी उत्थान एवं मुक्ति" वर्तमान संदर्भ में नारियों की स्थिति में जो परिवर्तन आया है उसका कारण भौतिक संसाधनों के प्रति आकर्षण बढ़ने के कारण आया है। शिक्षा विस्तार हुआ है। तो संस्कृति विलुप्त हो रही है। हर क्षेत्र में परिवर्तन आया है।

**शोध छात्रा, मनोविज्ञान विभाग, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा**

आज भ्रूण हत्या भी की जाती है इसका सार उत्तरदायित्व दूसरे को दिया जाता है जबकि महिलाएँ स्वयं उसमें लिए पायी जाती है। इस संदर्भ में बहुत सारे अध्ययन भी किये गये हैं।

रविन्द्र नाथ ने कहा है कि "अन्याय करने वाले से अधिक दोषी अन्याय सहने वाला होता है।" भारतीय नारी में अपरिमित शक्ति है वह उसे जगाकर दृढ़ संकल्प लेकर परिस्थिति को कोसने के बजाय अगर सुधार का प्रयास करें तो किसी में इतनी शक्ति नहीं की वह उसका शोषण कर पायेगा।

महिला आधुनिकता के संदर्भ में उपयुक्त मनोवैधानिक एवं समाजशास्त्रियों के विचार के साथ ही महिलाओं को अपनी क्षमता का सद्पयोग करना होगा। आज का दौर एक संक्रमण काल से गुजर रहा है जिससे समाज का हर वर्ग के साथ ही महिलाएं उससे अछूता नहीं है। शोषण अत्याचार में भी उनका हाथ होता है। उन्हें भी अपनी मनोवृत्ति को बदलना होगा।

आजकल महिलाएँ बहुराष्ट्रीय कम्पनियों में भी विभिन्न पदों पर कार्य करती है अगर उन्हें कलाइंट मैनेजर के पद पर नियुक्त किया जाता है तो उन्हें अपनी दिनचर्या उसी के अनुरूप बनाकर चलना पड़ता है। आत्म विश्वास से लबरेज चेहरे और सलीके से पहने कपड़ों में कोई भी लड़की हो या लड़का हर किसी को आकर्षित करता है। खूबसूरती को हमेशा प्राथमिकता दी जाती है।

मीडिया हाउस में जनसम्पर्क के पद पर कार्यरत महिला के मुताबिक मीडिया जैसे ग्लैमर्स फील्ड में खूबसूरती का सफलता में बहुत बड़ा योगदान होता है। इस फील्ड में टिके रहने के लिए टैलेन्ट के साथ ही खूबसूरत होना तथा सुन्दर दिखने की ललक ठीक है लेकिन यह ललक द्वंद्व पार कर जाए तो बीमारी का रूप ले लेती है। मनोविज्ञान की भाषा में इस बीमारी को बॉडी डिस *माफिक* डिस ऑर्डर कहते हैं। हर कोई सुन्दर दिखना चाहता है। लेकिन इसके लिए पेनिक होना या सब कुछ एक साथ पा लेने की ललक नहीं होनी चाहिए। किसी को भी इसके लिए क्रमानुसार कोशिश करनी चाहिए और परेशान नहीं होना चाहिए परेशानी समस्या बढ़ाती है घटाती नहीं (पारीख)।

प्रस्तुत: अध्ययन के अन्तर्गत यह देखने का प्रयास किया जा रहा है कि बाल पोषण पर महिला आधुनिकता का किस रूप में प्रभाव पड़ता है। यहां इस पृष्ठभूमि में यह पाक कल्यान की जाती है कि उच्च आर्थिक स्थिति की महिलाओं में निम्न आर्थिक स्थिति की महिलाओं की अपेक्षा बाल-पोषण अधिक अनुकूल पायी जायेगी।

**विधि:-** जनसंख्या में आर्थिक स्थिति का मापन करने के लिए व्यक्तिगत सूचना पत्र के द्वारा स्थिति की जानकारी के साथ ही महिला आधुनिकता प्रश्नावली के साथ अध्ययन किया जायेगा।

**क्षेत्र:-** बिहार के मुजफ्फरपुर जिला अन्तर्गत बोचहाँ प्रखण्ड के महिलाओं को प्रयोग्य के रूप में समिलित किया जायेगा।

**प्रतिदर्श:-** प्रतिदर्श के अन्तर्गत तीन सौ महिलाओं को समिलित करने की योजना प्रस्तावित है।

**संयग एवं मापनी:-** महिला आधुनिकता मापनी ठाकुर एवं कुमारी किरण के द्वारा हिन्दी में निर्मित के साथ ही व्यक्तिगत सूचना पत्र का प्रयोग किया जायेगा।

**परिमाण:-** आर्थिक स्थिति का मापन व्यक्तिगत सूचना पत्र के आधार पर प्राप्त प्रदत्तों के विश्लेषण से किया जा रहा है जिससे यह स्पष्ट होता है कि दोनों ही आय समूहों के महिलाओं में महिला आधुनिकता का बाल-पोषण पर किस रूप में प्रभाव है, स्पष्ट हो रहा है। प्राप्त प्रदत्तों के आधार पर मनोवृत्ति प्राप्तांकों का मध्यमान 195.96 तथा निम्न आय समूहों के मनोवृत्ति प्राप्तांकों का मध्ययान 184.15 पाया गया है।

दोनों ही समूहों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उच्च एवं निम्न आय समूह के महिलाओं में बाल-पोषण एवं महिला आधुनिकता मनोवृत्ति प्राप्तांकों के मध्यमानों का अन्तर 11.81 पाया गया है। दोनों ही समूहों का टी अनुपति 3.58 जों 298 डी. एफ. के लिए .01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित होता है। अत: यह निष्कर्ष लिया जा सकता है कि ऊपर वणिर्त प्राक कल्पना सत्यापित हो रही है। जिसे सारिणी संख्या एक में देखा जा सकता है।

***सारिणी संख्या-1***

| *संख्या* | *मध्यमान की प्र. त्रुटि* | *मध्यमान उच्च.* | *प्र. का अन्तर* | *मध्यमानों के अन्तर* | *मध्यमानों की प्र. त्रुटि* | *टी अनुपात* | *साथर्कता स्तर* |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| 150 उच्च आर्थिक | 195.96 | 2.62 | 21.20 | 11.81 | 3.32 | 3.58 | .01 |
| 150 निम्न आर्थिक | 184.68 | 2.06 | 17.68 | | | | |

सारिणी में वर्णित दोनों ही समूहों के सांखिकीय परिणामों के तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट हो रहा है कि उच्च आय समूह के महिला आधुनिकता मनोकृति प्राप्तांकों का मध्यमान 195. 96 तथा निम्न का 184.68 पाया गया है जो यह स्पष्ट करता है कि बाल–पोषण पर इसका स्पष्ट रूप से प्रभाव देखा जा सकता है। निष्कर्ष स्वरूप यह पाया जाता है कि बाल–पोषण पर महिला आधुनिकता का प्रभाव पड़ता है साथ ही आर्थिक स्थिति का स्पष्ट में प्रभाव पाया गया है।

## Reference:-


1. Parikh Samir- Hindustan 18, 2007
2. Thakur. L.E Kumari Kiran (2011)- Altitude towards women modernity scale, B.R.A.B.U Muzaffarpur .
3. Goode, W.J. Hah P.K. (1952) – Method in social Research New York MC. Graw Hill.
4. Gedge Evelync and Choksi Mithon (1929)- The women in modern India
5. D.B. Tara pore watasons and Co, Kitab Mahal Bombay P.4
6. Gillin and Sillin (1962)- CultralAnthropology, P. 76
7. Hatt P.K. (1940) – SocialAltitude andAntisemitism Unpublished Master"s thesis University of Washington Huns. Dr. Sutdeo (1968)-
8. Upnayskar Chaitursen KE Nari Patna First edition, Bharti Granth Neketan Delhi P.2
9. J.S. Slot kin - SocialAnthropology P.76
10. Kapoor, Dr. Pramila (1972)- Nabbharat times 11 June 1972।


❖❖❖

# बिहार की कृषि: प्रगति, समस्याएँ एवं प्राथमिकता

**विमलेश कुमार पाण्डेय**

## परिचय

बिहार एक कृषि-प्रधान राज्य है। किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी यहाँ अद्ध-सामांतवाद कृषि क्षेत्रों में फैला हुआ है, जिसके फलस्वरूप भूमि का अधिकांश भाग कुछ बड़े कृषकों के पास है, जो कृषकों एवं खेतिहर मजदूरों का भारी शोषण कर रहे हैं। खेतिहर मजदूर को भारी परिश्रम के बाद भी न्यूनतम मजदूरी नहीं मिल पाती है। इस राज्य के कुल आय में कृषि क्षेत्र का योगदान अन्य क्षेत्रों की तुलना में अधिक हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से कृषि क्षेत्र के सापेक्षिक महत्व में धीरे-धीरे कमी हो रही हैं। ऐसा भारतीय अर्थव्यवस्था में भी पाया जा रहा है। बिहार में कृषि प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूप में अधिकांश जनसंख्या के जीपन यापन का साधन रही हैं। यहाँ की कृषि प्रकृति पर निर्भर है जिसमें विशेष रूप से वर्षा निश्चित नहीं है। कभी अधिक व कभी न्यून हो जाती है। इसी कारण बिहार की कृषि को मानसून का जुआ कहा जाता है।

***उद्धेश्य:-***प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रमुख उद्धेश्य यह दर्शाना है कि बिहार की कृषि व्यवस्था की समस्याएँ क्या है? तो प्रगति की क्या समस्याएँ है तो दूसरी ओर यह भी बताने का प्रयास किया गया है कि उसकी क्या प्राथमिकताएँ है। इस शोध-पत्र के माध्यम से यह भी प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है कि बिहार के विभाजन के बाद उसकी प्रगति कैसे सम्भव है। इस हेतु यथा सम्भव सुझाव भी दिए गए है।

## विश्लेषण

राज्य विभाजन के पश्चात कृषि की भूमिका राज्य की प्राकृतिक संपदा में भूमि और जल मुख्य हैं। वनों एवं खनिज अवयवों की उपस्थिति नगण्य है। परिणामत: बिहार की अर्थव्यवस्था में गैर कृषि क्षेत्रों के विकास की गति काफी धीमी हैं। उद्योग में अवसरों की कमी, शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों में समन्वय का अभाव तथा कमजोर बुनियादी ढाँचे ने कृषि की महत्ता को बरकरार रखने में योगदान किया है। प्राकृतिक संपदाओं पर मनुष्य एवं जानवरों की संख्या का काफी दबाव है। इन सभी कारणों से राज्य में पिछड़ी खेती, प्रति व्यक्ति कम आय अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक गरीबी का बोलवाला है।

बिहार में कृषि छोटे कृषकों पर आधारित है, 84 प्रतिशत किसानों के पास एक हेक्टयेर से भी कम जमीन है, अत: बिहार में कृषि-विकास की रणनीति लधु किसानों पर आधारित होनी चाहिए। कृषि के मुख्य घटक-फसल, पशुधन एवं मत्स्य का समीकृत विकास जरूरी है। सर्वप्रथम पिछले कुछ वर्षो में इन तीनों घटकों की प्रगति का संक्षिप्त अवलोकन करना अनिवार्य है। तत्पश्चात कृषि विकास की समस्याओं एवं कृषि के त्वरित विकास के लिए प्राथमिकताओं का उचित चयन भी महत्वपूर्ण है।

## कृषि की प्रगति

1. फसल क्षेत्र :- 90 के दशक में तीन प्रमुख फसलों धान, गेहूँ एवं मक्का के उत्पादन में वृद्धिदर बहुत ही अच्छी रही। धान एवं मक्का की उत्पादकता में वृद्धि मुख्य श्रोत रहा, जबकि गेहूँ में क्षेत्र-विस्तार का महत्वपूर्ण योगदान रहा। लेकिन शेष फसलों में उत्पाद वृद्धि संतोषजनक नहीं कही जा सकती है जबकि 80 के दशक में इन फसलों के अतिरिक्त ईख, मसूर, तिलहन के उत्पादन में भी काफी वृद्धि हुई थी।
2. फल व सब्जी:- मुख्य फलों एवं सब्जियों जैसे बैगन, टमाटर, आम, प्याज, गोभी, जीची आदि के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। बिहार के उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों में इन वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि-दर बाकी दो क्षेत्रों में फलों एवं सब्जियों की खेती पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

**शोध छात्र, अर्थशास्त्र विभाग, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा**

3. पशुधन एवं मत्स्य:- प्रमुख पशुधन पदार्थो में दूध-उत्पादन की वृद्धि सामान्य रही तथा अब भी हम दूसरे राज्यों से काफी पीछे है। लेकिन मत्सय उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। आज हम मत्सय उत्पादन में अन्य राज्यों से काफी अच्छे हालात में है। मगर आध्रप्रदेश केरल,पश्चिम बंगाल आदि राज्यों से हम काफी पिछड़े हुए है।

## कृषि क्षेत्र में नवीन संसाधनों का उपयोग

भारत में हरित क्रांति लाने में रासायनिक खाद, बीजों की नई किस्मों, तथा सिंचाई की महत्वपूर्ण भूमिका हैं। मशीनीकरण तथा कृषि रसायनों का उपयोग भी सहयोगी भूमिका निभा रही है। बिहार में खाद का उपयोग 1990 में महज 22 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर से बढ़कर सदी के अंत में 90 कि. ग्रा. प्रति हेक्टेयर हो गया है। साथ ही साथ विभिन्न क्षेत्रों में तथा जिलों में इनके उपयोग के स्तर में काफी असमानता है। बिहार में 1990 में कुल फसल क्षेत्र का 50 प्रतिशत भाग सिंचित था। यह प्रतिशत 2004-05 तक बढ़कर 58 प्रतिशत हो गया हैं। यहाँ यह बताना आवश्यक होगा कि कुल सिचित भूमि लगभग स्थिर है तथा सिंचाई के उपयोग की सधनता भी स्थिर है।

अधिक उपजाऊ किस्मों का प्रयोग बढ़ा है, धान, गेहूँ एवं मक्का में अधिक उपजाऊ बीजों का उपयोग लगभग 70 प्रतिशत भूमि पर हो रहा है। ट्रेक्टर तथा पंपसेट की उपलब्धता भी पिछले दो दशकों में दुगुनी हुई है। प्रति हजार शस्य भूमि में ट्रेक्टर की उपलब्धता भी 20 थी अब यह संख्या 50 के आसपास हैं। कीटनाशकों एवं खरपतवार नाशकों में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।

### *समस्याएँ*

राज्य में कृषि का विकास कुछ मूलभूत समस्याओं जैसे-शिक्षा, स्वास्थ्य, ग्रामीण संस्था एवं बुनियादी ढाँचे की जर्जर स्थिति से भी प्रभावित हुआ है। इन क्षेत्रों तथा ग्रामीण क्षेत्रों की प्राथमिकता कृषि के विकास को प्रभावित करने में मुख्य भूमिका निभाएगी। सीधे तौर पर कृषि के विकास में आ रही समस्याओं का विवरण निम्नलिखित प्रकरणों में दिया गया है।

**भूमि संसाधन:-** राज्य की 41 प्रतिशत से अधिक भूमि बाढ़ संभावित क्षेत्र है। जलग्रहण भी काफी अधिक क्षेत्रों को प्रभावित करता है। दियारा, चौर तथा टाल क्षेत्र में इन कारणों से खरीफ मौसम में परती रहते है। इन क्षेत्रों के समन्बित विकास के लिए एक उपयुक्त रणनीति बनानी चाहिए। इसी प्रकार करीब 40 प्रतिशत क्षेत्रों में सूखे की आशंका बनी रहती है। इस तरह की अनिश्चिता उत्पादन-क्षमता तथा उत्पादकता को ऋणात्मक ढंग से प्रभावित करती है। इन मूलभूत समस्याओं के निदान के लिए काफी पूँजी-व्यय की आवश्यकता होगी इसके अतिरिक्त कुछ और समस्याएँ है।

**जल संसाधन:-** बाढ़-सूखा तथा पानी एवं पानी के निकास का अकुशल एवं अपर्याप्त प्रबंधन पानी की बहुतायत के बावजूद एक समस्या के रूप में कृषि को प्रभावित कर रहा है। इसे ठीक करने के लिए सुचारू एवं समयबद्ध योजना की जरूरत है। सतही सिंचाई व्यवस्था की स्थिति काफी दयनीय है। भूमिगत जल संसाधनों के शोषण ने राज्य में सिंचाई के विकास में काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। राज्य में भूमिगत जल संसाधन के विकास की काफी संभावनाएँ है। अत: भूमिगत जल संसाधनों के वैज्ञानिक आधार पर विकास को वरीयता दी जानी चाहिए।

**बीज व खाद का उपयोग:-** नई किस्मों का उपयोग काफी हो रहा है, लेकिन इनकी विस्थापन दर बहुत ही कम है। राज्य बीज निगम तथा दूसरी सार्वजनिक इकाईयां बीजों की मांग को पूरा करने में असमर्थ रही है। कृषि विस्तार पद्धति भी इन समस्याओं को दूर करने में असफल रही है। लेकिन कृषि विकास के लिए इस क्षेत्र का पूनर्जीवन आवश्यक है। राज्य में प्रति हेक्टेयर खाद का उपयोग बढ़ा है। लेकिन 90 के दशक में खाद का उपयोग काफी असंतुलित हुआ है, जो कि कृषि की सत्ता के लिए एक चुनौती है। बिहार में कृषि अन्य कृषि उन्नत राज्यों की तुलना में अस्थिर है।

**संस्थान तथा प्रशासनिक व्यवस्था:-** कृषि एवं ग्रामीण विकास से संबंधित सभी संस्थान, चाहे सरकारी हों या स्वायन्त, व्यावहारिक रूप से ठप हो गए है। इन संस्थानों को सुचारू रूप से चलानेवाले नियम-कानून अपनी महत्ता खो चुके हैं। विशेषतया सिंचाई, सहकारिता कृषि विपणन, मत्स्य, मृदा-क्षरण, पशुधन, भूमि-राजस्व आदि विभागों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता हैं। कानून व्यवस्था के अतिरिक्त सरकार के विभिन्न विभागों में समन्वयता एवं समग्रता के अभाव तथा मंत्रालय कृषि एवं ग्रामीण

विकास के कार्यो में संलग्न है। अपने अस्तित्व को बरकार रखने के लिए सभी को संसाधनों की आवश्यकता होती है।

## प्राथमिकताएँ: निवेश व नीतियाँ

बिहार के समग्र विकास के मूलभूत सामाजिक तथा भौतिक (सड़क,उर्जा,संचार) बुनियादी ढ़ाँचा का विकास सर्वोपरि है। दसवी योजना में शेष निवेश इन बुनियादी ढाँचे के मजबूत करने के पश्चात ही किया जाना है। हलॉकि यह सर्वथा तर्क संगत है, लेकिन लीक से हटकर है। इस तरह के कार्यान्वयन में कठिनाई आ सकती है अत: निम्नलिखित प्रकारणों में हम कुछ कृषि से संबंधित निवेश की प्राथमिकताओं को निर्दिष्ट कर सकते है:

- कृषि से संबंधित निवेश में बाजार के विकास को उच्च प्राथमिकता दिया जाना चाहिए। विशेषतया उच्च मूल्य वाले फलों सब्जियों, जलीय पदार्थो जूट आदि के विपणन पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।
- कृषि अनुसंधान एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ संसाधनों की निंतात कमी है। कृषि अनुसंधान में निवेश कम-से-कम वर्त्तमान स्तर से दुगुनी करने की आवश्यकता है। संसाधनों की उपलब्धता के साथ-साथ कार्य-संस्कृति को बढ़ावा दने की भी समान आवश्यकता है।
- जैसा कि विदित है, राज्य में कृषि विस्तार सेवा की हालत चिंताजनक है। राज्य में कृषि के विस्तार को नई प्रेरणा नए कार्यक्रम नए चेहरे तथा नई व्यवस्था की जरूरत है।
- सिंचाई की प्राथमिकता सदैव उच्च रहेगी बड़े तथा मध्य सिंचाई के क्षेत्रों में पहले से उपलब्ध क्षमता का पुनर्जीवन तथा क्षमता के अनुसार समुचित उपयोग पर निवेश करना चाहिए। लधु सिंचाई के क्षेत्र में नई क्षमताओं का विकास तथा उसकी देखभाल पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।
- राज्य में कृषि की विविधता को प्रोत्साहित करने पर विशेष बदल दिया जाना चाहिए। कृषि के बहुमूल्य अवयवों-पशुधन, मत्स्य, फल व सबजी के उत्पादन एवं विपणन पर निवेश को प्राथमिकता मिलनी चाहिए।
- विभिन्न फसलों एवं पदार्थो के विकास के लिए अनुकूल क्षेत्रों की पहचान कर इन क्षेत्रों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। पशु के स्वास्थ्य पर भी निवेश की नितांत आवश्यकता है।
- राज्यों कृषि की सांख्यिकीय पद्धति व व्यवस्था बिलकुल ठप पड़ गई है। जिसके कारण उचित एवं तर्कसंगत निर्णय लेने मे असीम कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। अत: इनका पुनर्विकास एवं पुनर्जीवन आवश्यक है।

## नीतियाँ :

भूमि एवं जल से संबंधित नीतियों व्यवहारीकरण आवश्यक है। भूमि की बटाई, भूमि तथा जल संसाधनों के दोहन तथा प्रयोग के लिए नियम पक्रिया, सामूहिक संसाधनों का प्रबंधन इत्यादि के लिए उचित मार्ग-दर्शिका जरूरी है।

- ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि-ऋण की व्यवस्था भी लगभग क्रियाहीन ही है व्यवस्था के दोष सर्वज्ञात है, निराकरण को अमल में लाने की आवश्यकता है।
- कृषि-विपणन से संबंधित कानून भी पुराने एवं अप्रासंयिक हो गए है। बहुत सारे क्षेत्रों के लिए कोई नियम-प्रावधान अस्तित्व में है ही नहीं। वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य तथा क्षेत्रों में बदलाव को ध्यान में रखाते हुए समुचित विपणन-प्रावधान बनाने की आवश्यकता है।
- गैर कृषि क्षेत्रों, कृषि परिसंस्करण तथा मूल्य संवर्द्धन की कोई समग्र नीति नहीं है, भविष्य में इन क्षेत्रों का विशेष महत्व है।
- कृषि तथा ग्रामीण विकास की योजनाएँ क्षेत्रीय आधार पर तैयार करने की आवश्यकता दिन प्रतिदिन बढ़ रही हैं। हमें अपनी पुरानी पद्धति सब कुछ सबके लिए की नीति का परित्याग करना होगा।

### *निष्कर्ष*

उपर्युक्त समस्त तथ्यों के अवलोकनोपंरात हम कह सकते है कि बिहार में कृषि उन्नति की अशीम सम्भावनाएँ है। हमें हरित क्रांति का क्षेत्र रहे इस बिहार के क्षेत्रों में क्रांति की स्वार्णिक स्थिति को बरकरार रखने की

कोशिश करनी चाहिए। यहाँ मिट्टी को लवणीकरण, भूजल स्तर में गिरावठ, खर-पतवारों की अधिकता, कीटनाशकों का अतयधिक उपयोग जैसे समस्या व्यापक पैमाने पर है। हमें यहाँ पर्यावरणीय दशाओं के अनुकूल खेती को संरक्षण देना होगा। अनाज के नये किस्मों को आर्गेनिक खेती से जोड़ना होगा। हमारा प्रयास यह भी होना चाहिए कि हम खेती की तकनीको का प्रसार बिहार के हर क्षेत्रों में समानरूप से करें। बिहार के दर्जनों विभाग एवं मंत्रालय व्यर्थ में कृषि के विकास में संलग्न है इनके एकीकरण की आवश्यकता है ताकि सीमित साधनों का समुचित प्रयोग हो सके।

## संदर्भ ग्रंथ सूची


1) राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय, पूसा एवं विरसा कृषि विश्वविधालय राँची द्वारा प्रकाशित सर्वेक्षण रिपोर्ट।
2) चेंजिंग एग्रेरियन स्ट्रक्चर इन इंडिया-जी. एस. भल्ला
3) भारतीय अर्थव्यवस्था- रूद्रदन्त एवं के. पी. एम. सुन्दरम एस. चाँद एण्ड कम्पनी लि. नई दिल्ली।
4) बिहार की अर्थव्यवस्था-डॉ. पी.सी.वर्मा तिरूपति उर्मिला पल्लवी प्रकाशन पटना
5) बिहार का वृहत्त भूगोल-डॉ. ए. के. गौतम।
6) सूचना एवं जनसंपर्क विभाग, बिहार सरकार की प्रमुख पत्रिकाएँ।
7) प्रतियोगिता दर्पण जून-2006 एवं जून-2008
8) योजना जनवरी-2007 तथा फरवरी-2008
9) कुरूक्षेत्र एवं भारत -2007
10) विभिन्न समाचार पत्र, जैसे-दैनिक हिन्दुस्तान, प्रभात खबर, राष्ट्रीय सहारा, दैनिक जागरण आदि।


❖❖❖

# The Religious Culture of the Old Jaipur

**Vikas kumar**

In Jaipur, religion has always played an essential part in human life. It has been a crucial factor in shaping and moulding the society.[1] Though, it was much dependent on the political and social atmosphere of a particular age, which has to be understood in a certain manner. In the sphere of religious activities and establishing new conceptual ideas regarding religion Jaipur has its own approach and understandings. In this research work we shall look at the religious culture and folk deities of the region observing their immense impact on the people of this arena. We shall also comprehend the changing situation of the region in the sphere of culture and religion.

This region of Jaipur is full of different deities and semi gods, some of which are related to the pan Hindu religion but some of them are merely the gods of the particular region. The definitions and understandings of such gods have been discussed in the chapters accordingly.

A remarkable feature of Jaipur is the big number and variety of the temples. There are more than one thousand temples, and the city and its people are well-known for their devoutness; like Benaras, Vrindaban etc; are famed for their sacredness. The rulers of Jaipur too have always been inclined towards the holiness and not only this they have also been noted for the extensive acceptance displayed towards other beliefs. There are thus many religious representations in Jaipur; the Muslims alone figuring almost one fifth of the entire population showing the religious harmony in a certain manner. Among the Hindus, there is the preponderance of Vaishnavas or believers in Vishnu and his diverse manifestation.[2] Vishnu, the preserver, is one of the gods of the Hindu Trinity. Then there are the Shaktas or the devotees of Shakti (or Devi), the ensemble of Shiva or Mahadeva. After these may be brought up in point of numbers the Jains, the Dadu Panthis, Jogis and Sadhus of different divisions and the Arya SamaJis.

Jaipur, the city enthralling to the modern tourists, is a city of temples, more than a mere sight-seeing centre to a visitor. With all its varied fare, medieval as well as modern, it is looked upon by them as a moral and sacred town, a place of pilgrimage consecrated by such Vaishnavite temples which relieve a devotee from the clumsiness of the materialistic life.

The ancient name of Jaipur was Dhundharpur. It is said that it was kept on the name of a demon Dhundhar. Jaipur is the seat of district supervision and the capital of Rajasthan state. The place was initially named as Jainagar after its founder Sawai Jai Singh II. In wake of time it obtained the present name. It is situated in the eastern part of the Rajasthan and lies between 26 degree and 22 minute and 27 degree 52 minute north latitudes and between 74 degree 55 minute and 76 degree 50 minute east longitudes.[3]It is bordered on the north by Sikar district of Rajasthan and Mahendragarh district of Haryana, on the south by Tonk district, on the east by Alwar and Sawai Madhopur districts and on the west by Nagaur and Ajmer districts.[4]

Thus Jaipur seems to be a fusion of the many cultures all around and hence the influence of many local religions and religiosity is observed in the region as the masses living in villages created their own new deities in the guise of folk heroes and founded various folk religions. We understand Folk religion as consisting of ethnic or regional religious traditions under

**Ph.D, Student, Delhi University**

the supremacy of a religion, but outside of official doctrine and practices.[5]Folk religion has been understood as "the totality of all those perceptions and practices of religion that subsist among the people apart from and beside the strictly theological and liturgical forms of the official religion.[6] The term "folk religion" is usually held to include two related but separate subjects. The first is the religious dimension of folk culture, or the folk-cultural dimensions of religion. The second refers to the study of syncretism between two cultures with different phases of formal expression.

Thus in this region of Jaipur, PabuJi, HarbuJi, RamdevJi, MehoJi, GogaJi, etc; mostly Rajputs were considered as demi gods.[7] They were broadly venerated by the majority mainly living in villages. The hereditary followers of some of them were the Thoris, and the Dhedhs. These instances provided prospect to other low caste people also to get the blessings of these folk deities. Inspired by the sacrifice made by these Rajput heroes, for saving the cows for instance, castes like the Jats and Gujars also defied their historical personages and glorified their acts of similar sacrifice or other deeds of courage. Teja Ji.[8] for the Jats and Deva Ji for the Gujars are two such examples. Saint Mava Ji is yet another example from the area recognized as Bagad (Dungarpur – Banswara). Even the 'Satis' and brave warriors were worshipped by people of all societies simliarly.

It has been observed that Goga Ji was worshipped even by the Mohammadens. Hindu women also assumed that their children will be cured of all diseases and would lead a happy and long life if they passed underneath the 'Tajiyas' on the event of the Moharram.

The Mother goddess, though not so significantly worshipped in temples, has been the family deity of almost all Hindu families. As Kul-devi she is worshipped and privileged, while as bestower of long married life, she is worshipped by all Hindu married women and virgins, annually on the occasions of *Teez* and *Gangaur* festivals.

In Jaipur, Parvati also called Devi or Mata is another name of Shakti, whose followers form the sect of Shaktas, Just as among the Vaishnavas, there is a group who think that Laxmi (wife of Vishnu) is the only worthy deity who can protect man, so does this sect of Shkatas, which is only an offset from the main stock of Shaivas and believe that Devi is the only entity worthy of worship and capable of yielding salvation, she is also worshipped under the name of Kali or Mahakali and has her shrine at Amber where she is known by the name of Sheela Devi (the goddess of the slab).[9] A goat is sacrificed to her every morning, and her icon with eight hands riding on a lion and killing the demon called Mahishasur, is the most awe-imposing. Her famous shrines are in Kalkattaand Nagarkot (in the Himalayas).

The influence of the Shakti sect is evinced there on every family. Devi or Mata also called Kuldevi of the Kacchwah is Jamvay, whose major shrine is near Ramgarh about ten miles to the north-east of Amber. Just as there are different names, incarnations and forms of Vishnu and Mahadeva, so are there of Parvati. Nava Durgas (nine goddesses), also called mavilis are the nine different deieties of the sect, and according to the Tantric tradition the goddesses have power to assume any of these form to help her devotees. The Shaktas and Shaivities conjointly have another class called Ban Margas, who believe that salvation can be obtained by the use of psychic forces through their own peculiar methods, to which the use of hymns, wines, flesh, and woman is necessary. There are still few of them to be found in Jaipur.[10]

During the period under discussion it was Sawai Jai Singh of Jaipur who took a leading position to see the appropriate functioning of various religious sects in his territory. As he was himself a scholar and was well versed in the Vedic religion, he endeavored his best to adjust and bring about a religious harmony of all faiths.

There have been many different sects and cults in the region of Jaipur as there are four principle sects of Vaishnavas: as

1.Ramanuja, 2.Nimmarkars 3.Madhvas 4.Gokulasthas. The followers of all are found in Jaipur. The Nimmarkars are the oldest sect but from the point of view of numbers, the Madhwas and Gokulsthas rank first. The Ramawats and Ramanandis with their different sects, as Kabir Panthis, relate to the first named sect; their chief shrines in Jaipur are those in the Galta and that of Balanand Ji, Ramchandera Ji etc.[11]

The Ramanujas are worshippers of Rama, while the three others (Nimmarkars, Madhwas and Gokulas) are worshippers of Krishna. Sawai Jai Singh himself interfered in religious matters and persisted on the Vedic principles to be followed. He also tried to adjust the inner discipline of various sects and him self being a philosophical scholar was perhaps able to induce all concerned of his ideas and views about the particular religious rites. He had also got obtained written undertakings from most of them. 'Sammati Patras' were also accepted from renowned leaders of religions of his period bringing out their opinions on definite matters There are many evidences available of the scholastic deliberations about the soul and God,[12] the rights of Shudras and the devotees etc.[13]Mahants were also fined heavily if they were not found of good conduct. Kishan Chandra Sharma, Mahant of Madan Mohan Ji's temple, was fined Rs. 15000/-. The Mahants who absconded, were summoned before the Maharaja in person. [14]

The main features that stand confirmed by these details are that Maharaja Sawai Jai Singh had the highest regard for the Vedic Dharma and that he also tried to standardize the regulations pursued by various other sects. Though he was very attentive towards the co-existence of all religious sects in his territory, he nevertheless liked to be assured that each of them followed their doctrines strictly.

There are many other evidences of the patronages of these gods and semi gods. Certain copper plates and stone edicts may also be quoted to show the patronage given to all Hindu sects by the then rulers of the states.[15]

As already shown, an intrinsic harmony did exist among the various Hindu sects of the time, and their deities could be freely accommodated in a single structure. A section of the Nimmarkas is also found serving as militia in Jaipur, and are stationed in Torawati; they look like the Nagas of the Dadu Panthi sect. Initially all these sects had no distinction of castes, any man who was converted a Vaishnava was considered as a brother, and even now the same law is accepted with more or less force though the caste system has implemented its effect, so that Brahamans have got the prevalence in all the affairs. While taking the Mahaprasad (the edibles approved and tasted by the lord), all members of the sect can sit at the same place as members of the Grand brother hood, no matter to what caste they belong, and are sanctified by the ceremony. For many centuries a very great controversy existed between the Vaishnavas and the Shaivitees (folllowers of Mahadeva), but time has gradually toned down the resentment of feeling, and now each sect respects the deity proper to the other as well as his own.[16]

There are also some seasonal fairs held in Jaipur and Rajasthan which reflect the religious culture of the region in a peculiar way. Another Popular saying in Rajasthan is "Teej Tyohara Baori, Le Doobi Gangaur", meaning that the cycle of festivals finishes with Teej in the month of Shravan and the year beginning from this festival is rounded up with Gangaur. Teej has its own significant place among the festivals organized in this region. It is practically the festival of the rains during which the monsoon is good and extensive. Teej is a festival for girls, daughters and daughter in -laws. They all are offered sweets and garments on this particular day. Swings are fixed for the ladies and newly married girls return to their parents' home to enjoy the swinging in familiar surroundings. There are three Teej festivals organized in a year and fairs are held in these occasions. So many decorated horses, camels and liveried attendants give company to the

idol of Teej in procession. These interesting details and information provide a vibrant idea about the religious culture of Jaipur.

## End Notes


1. Jawallia, Brij Mohan, *Socio-Economic Conditions in Rajasthan* (Based on Documents 1650-1750) Book Treasure, Jodhpur, 2002. pp.79-80.
2. Pareek, Nand Kishor, *Jaipur:Royal Court and the Seraglio*,Subodh Sahitya Sadan Jaipur,2000.p.289.
3. Gupta, Savitri, *Rajasthan District Gazetteers:* Jaipur, Directorate, District Gazetteers, Government of Rajasthan, Jaipur, 1998, pp. 23-24.
4. *Ibid.*,
5. Yoder, Don, "Toward a Definition of Folk Religion", *Western Folklore*,vol. 33 no.1,January 1974, pp.1–15.
6. *Ibid.*,
7. Jawallia, Brij Mohan, *Socio-Economic Conditions in Rajasthan*, pp.79- 80.
8. *Ibid.*, p. 80.
9. Pareek, Nand Kishor, *Jaipur: Royal Court and the Seraglio*, p. 285.
10. Goswami, G,S, Jaipur: The Pink City of India, Garg Book Company, Jaipur,1970.pp. 17-18.
11 Pinch, William R, *Peasants and Monks in British India*, University of California Press, California,1996, pp.81-82.
13. Gupta, R.D, "Priya Dasa", *Bulletin of the School of Oriental and African Studies*, vol. 32, no. 1,1969,pp. 57–58.
13. Ibid., p. 554.
14 Hawley, John Stratton , Juergensmeyer, eds, *Songs of the Saints of India*, Oxfor University Press, London, 2007, pp. 45-48.
15. Goswami, G,S, Jaipur: The Pink City of India, Garg Book Company, Jaipur,1970.pp. 23-24.
16 Pareek, Nand Kishor, *Jaipur:Royal Court and the Seraglio*, p. 40, 43.


❖❖❖

# Dr. Ambedkar on Buddhist Conversion

**Tej Pratap Azad**

It is very difficult to renounce one's ancestral religion to embrace Buddhism or any other religion. It is not easy to rebel against the parents, the family and the entire surrounding in search of the truth. It is to invite sorrows and sufferings, troubles and dangers, and hence this is done by only those who have the courage of conviction to face all the hardship and hindrances coming in the way. Thus their sense of right and wrong, their will power, sacrificing quality, courage to face allround dangers and hazards and ambition to defeat the nefarious designs of antagonistic forces against their following the right path, should be brought to light for others to see and act. Ambedkar was attracted towards Buddhism from his very childhood as he was presented a book by A.K. Kaluskar on the life of Buddha. Till 1935-36 Ambedkar had an urge for Hindu Sangathan. He proposed some reforms to remove caste system, but he failed in his serious efforts to have the remedy for the malady. Ambedkar could not appreciate the weaknesses of finding out the true and original teachings of Buddha on the basis of historical Research. Buddha was a historian, he had been unfortunately consigned to oblivion due to non availability of his biography based on authentic records. Prof. Herman Oldenberg, a German Scholar who has studied life, doctrine and order of Buddha seriously and sympathetically and who had demolished the skeptical theory of solar Buddha put forward by M. Senart, under the headings "The character of Tradition, legend and Myth" writes: there is no lack of current legendary narratives which the Buddhists relate concerning the founder of their faith. Can we learn anything of the life of Buddha from them? Some have gone further and have asked : Had Buddha ever lived? or at least Buddhism must have had a founder : Has that Buddha ever lived, whom those narratives seem to present to us, though in a super-human form and in miraculous surroundings? Any how Gautam Buddha is the father of Buddhism. His teachings are authoritative and binding on all Buddhists. The Buddhist is duty-bound to try to find out what the original teachings of Buddha were. If he fails in this task and yet persists in calling himself a Buddhist, he must be honest enough to admit that what he believes is may not be the original teachings of Buddha; may, they may even be quite different from that which Buddha taught. Now historical criticism has proved quite conclusively that the original teachings of Buddha can never be known what is now claimed to be his teachings may or may not be so. But most authorities seem to speak with one voice that the Buddhism, which is presented to the world is quite different to that which Buddha preached. For example Dr. Edward Conze in his eminently readable book "Buddhism, Its Essence and Development" has this to say : The truth is that the oldest stratum of the existing scriptures can only be reached by uncertain inference and conjecture. One thing alone does all these attempts to reconstruct an original Buddhism have in common. They all agree that the Buddha's doctrine was certainly not what the Buddhists understood it. Mrs. Rhys Davids, for instance purges Buddhism of the doctrine of "not self" and monasticism. To her some worship if "The man" is the original gospel of Buddhism . H.J. Jennings, in cold Blood, removes all references to reincarnation from the scriptures and claims thereby to have restored their original meaning Dr. P . Dhalke, again ignores all the magic and mythology with which traditional Buddism is replete, and reduces the

**Research Scholar, Univ. Deptt. of History, T.M. Bhagalpur University, Bhagalpur**

doctrine of the Buddha to a quite reasonable agnostic theory. (P 29).. From his part Dr. Conze Frankly and honestly States : "I confess that I do not know what, the Gospel of Buddhism was". It seems that the teachings of Gautam Buddha were preserved in the memories of his disciples. Shortly after the death of Buddha, a Council was held at Rajgaha so that Buddha word might be recited and agreed upon. But in this council there were differences of opinions or rather conflicting memories. The council, it appears, decided to give preferences to the opinion to Kayshapa and Ananda, prominent disciples of Buddha. The very most therefore, which later Buddhist literature can claim for their source is the teaching of Gautam Buddha as interpreted by Kayshap and Ananda.

After the death of Buddha, that the Buddhists could overcome their founded trust in human memory and destruct of the written word (Edward Conze, Buddhism its essence and development (P. 29)), and even when started writing down and compiling of their canon, as it has come down to us, they paid scant regard to just about everything the historian requires in order to asses the authenticity. Dr. Conze remarks Buddhism is a body of tradition. The most, important of the Raj Texts, so important, in fact that it may be taken as the Bible of Buddhism is the Tri-Pitaka. It is generally conceded to be among the earliest recorded Buddhist literature and is placed at the 1st Century B.C. It therefore depends on a long, prior tradition Neglecting the weakness of non availability of the original teachings of the Buddha, why Ambedkar embraced Buddhism? Ambedkar loved Buddhism? Ambedkar had an enquiring mind. He assessed Hinduism and suggested certain social reforms in it. Most of them related to the inequality and caste system in Hinduism. Ambedkar developed disgust for poverty and more for self imposed poverty. Once Ambedkar remind the Brahmins of asangaha admired sereral social reformers who reminded the Brahmins of asangraha. The untouchables might have tried to seek happiness in poverty only Ambedkar could not have tolerated the idea of untouchables, remaining poor even after leading the worst kind of life for thousand of years in the past. Ambedkar wanted to choose a religion having a capacity of absorbing Social, Economic and Political justice. The ideology of religious conversion of Dr. Ambedkar should be propagated in every nook and cranny of the country to put and end to caste system. So far as caste system continues, social equality will also remain a day-dream. The solution of the Dalit problems lies in the awareness amongst people through proper education, the awareness of fact that all people belong to one caste, the caste of human beings (Mr. Joshi, Gandhi, Nehru, Tagore and Ambedkar, Abhivyakti Prakashan, Allahabad 1996). At present the neo-Buddhists (Dalits) following Ambedkar are in a position of: "out of the frying pan into the fire" as an English saying goes. Even Ambedkar had come under fire from all sides by interpreting Buddhism in his own way and converting to it. His book Buddha and his Dhamma was criticized bitterly.

Ambetkar's Buddhism is based on hatred, Buddha's on compassion. He preached non Dhamma for motives of social reform. This is the need of the hour that his ideas be put on the touch stone of modern methodology of objective research and criticism lest the dalit should be a prey to perils and pitfalls in the future.

## References


1. Islam and Buddhism in the Modern world. (P.a)
2. Buddhism its essence and development. (P. 29)
3. Ambedkar on Buddhist conversion and its impact. (P.96)


❖❖❖

# Parent Child Relationship as Related to Achievement Level, Gender and Religion

**Prof. Bharati Roy & Dr. Anita Arora.**


## Abstract

The present study aimed at examining the parent-child relationship as related to achievement level, gender, and religion. The study was conducted on eighty (40 boys and 40 girls) school students studying in class Xth of Ranchi. Students were classified into two groups namely-high achievers (students obtained over 70% marks) and low achievers (students obtained less 50% marks). Parent –child Relationship Questionnaire (PCRQ) developed by Singh(1981) was administered on students. Analysis of Variance was used to see the main and interaction effects of achievement level, gender and religion on parent-child relationship. Level of achievement , gender and religion did not produce its statistically significant impact on parent-child relationship, but interaction of achievement level and gender(AXB), gender and religion (BXC) showed statistically significant effect on parent-child relationship.


***Key words:*** Parent-child relationship, academic achievement.

## Introduction

Family atmosphere is a very important factor, which contributes to the parent child relationship. Family atmosphere may be characterized by the relationships that already exist in it and moreover by the status of each family member specially the parents. Psychologists believe that child's personality largely depends upon his interaction with parents and family members. A better understanding between parents and child develops a sound personality of the child. There is considerable amount of research showing that parental attitudes, child rearing behaviors and parent child relationships are related to diverse aspects of children's development.

It is the right of each and every child to get the full opportunities for his alround development. A child gets all opportunities in a parental home to develop physically, mentally and culturally and fulfill his economic, social, religious and educational needs. In addition the beliefs, values and attitudes the societies are filtered through the parents and transmitted to the child in a highly personalized selective fission. Every child is dependent on parents and finds himself / herself face to face with a world that gives and takes , which expects adoption and sacrifices life. Parents should provide stimulation attitude and insight that support the development of each child's potential with the youngest of children the adult is totally responsible for providing materials and playing with the child as child's attention span increase. During this time family bonds play very important role in development of child particularly both mother and father have to be true nurses and teachers. Home where the parents exhibit love and affection is the best place for education and first school of child. Without mother's nourishment

**University Department of Psychology, Ranchi University, Ranchi**

and father's care children are likely to suffer a lot , were considered the important factor which promote the educational achievement of the children. Characteristic behavior of parents as experienced by their children is taken as the measure of parent-child relationship .

Academic achievement is the core of the wider term education growth includes growth in all aspects. Achievement is the proficiency of performance in any skill or knowledge. Academic achievement refers to the pupil's attainment of knowledge and skills developed in school subjects which are assessed by competent authorities with the help of achievement tests in the form of examination. Academic achievement is a multi-dimensional activity. It generally refers to levels of success of the proficiency in academic work. It indicates what a child has learnt or acquired in particular subject. Academic achievement as a dependent variable is the result of multiple intrinsic and extrinsic factors such as, intelligence, personality structure, family background factors (Koskinan and Rosman,1974). Academic achievement has always been considered to be a very important factor in the educational life of an individual, because good academic record over years predicts future success of a person.. Hillard and Both (1969) studied the relationship between the mother –child relationship and academic achievement . It was found that mothers of achievers were more accepting than mothers of under achievers. Hicks (1965) found that the average and high achievers perceived the father –son relationship as warm and accepting allowing the child to devote more time and attention to his needs for self-actualization. The less parental deprivation and higher availability of father were found to be selected to high academic performance , particularly if the father enjoyed intellectual activities. Park, Young –Shin, Kim and Uichol (2006) found positive relationship between students and parents tend to have higher academic achievement. Xiao and Chen (2004) stated that there is a positive and significant association between parent child relationship and academic achievement. Adedokum and Balochweid (2008) observed that the student with positive and supportive relationship with their parents / mothers were found to perform better in their academic performance compared to their other peer groups. Hyum Sik Kim (2011) reported that children of divorce experience setbacks in Math's test scores and show problem with inter-personal skills and internalizing behavior during the divorce period .They are more prone to feeling of anxiety, loneliness, low self- esteem, and sadness. All these have an adverse impact on academic achievement.

Related research reviews not only help to make an aware of pitfalls that have been experienced by the researchers, but it also widens the Investigator's look , knowledge, insight and experience with regard to the subject. The purpose of present study is to investigate parent child relationship as related to achievement level ,gender and religion.

***Sample:*** A sample of eighty students of class xth were selected on stratified random basis for the present study. The stratification was based on level of achievement ( high achievers and low achievers), gender (boys and girls) and religion (Hindus and Muslims).So, 2x2x2 factorial design was used in the study. There were eight strata and each stratum consisted 10 cases ,altogether,80 students were taken. High achiever group consisting of students who obtained above 70%marks and low achiever group consisting of students who obtained below 50% marks in the same examination.

***Tools:*** Following tools were used in the present study.

***Personal Data Questionnaire(PDQ):*** This questionnaire was used to elicit information related to achievement level, gender, religion ,class etc. of the subject.

***Parent- Child Relationship Questionnaire (PCRQ):*** This scale was developed by Singh (1981), used to measure parent

– child relationship .The scale includes six dimensions namely, loving, dominating, rejecting, protecting, punishing and discipline. The student's score will indicate the degree of parent-child relationship on a particular scale. High scores indicating greater degree of parent-child relationship and low scores indicating low relationship.

The purpose of the study was to see whether parent –child relationship was associated with academic achievement, gender and religion. With this point of view results were tabulated and interpreted.

Table 1 presented the summary of analysis of variance which showed the main and interaction effect of achievement level, gender and religion on parent –child relationship.

***Table 1:*** *Summary of Analysis of Variance*

| Sources | SS | Df | Mean Squares | F | P |
|---|---|---|---|---|---|
| AchievementLevel(A) | 1.51 | 1 | 1.51 | 0.06 | NS |
| Gender(B) | 10.52 | 1 | 10.52 | 0.44 | NS |
| Religion(C) | 23.11 | 1 | 23.11 | 0.97 | NS |
| AxB | 374.11 | 1 | 374.11 | 15.77 | < .01 |
| AxC | 9.11 | 1 | 9.11 | 0.38 | NS |
| BxC | 214.51 | 1 | 214.51 | 9.04 | <.01 |
| AxBxC | 55.82 | 1 | 55.82 | 2.35 | NS |
| BSS | 688.99 | 7 | 98.43 | 4.15 | < .05 |
| WSS | 1708.5 | 72 | 23.73 | | |
| Total | 2397.49 | | 79 | | |

In the main effect the first variable that is achievement level did not show its significant effect on parent –child relationship (F ratio-0.06). It means parent –child relationships were not associated with academic achievement . High and low achievers did not differ significantly on parent –child relationship. Second variable was gender. Gender did not produce its significant impact on parent-child relationship (F ratio-0.44). It means parent-child relationships were not associated with gender. Boys and girls did not differ significantly on parent-child relationship. In third variable religion there was no significant difference between Hindus and Muslims on parent-child relationship (Fratio-0.97). It revealed that religion had no effect on parent-child relationship. Hindus and Muslims children had same parent-child relationship.

The interaction effect between achievement level and gender (AxB) showed statistically significant difference at .01level (F ratio-15.77). It revealed that high and low achieving groups of boys and girls differed significantly on parent-child relationship. The interaction effect between achievement level and religion(AxC) was insignificant (Fratio-0.38). It indicated that high and low achieving groups of Hindus and Muslims did not differ significantly on parent –child relationship. The interaction effect between gender and religion (BxC) produced statistically significant difference at .01 level (Fratio-9.04). It means Hindu and Muslim boy and girl groups differed significantly on parent-child relationship. The interaction effect of achievement level, gender and religion (AXBXC) did not show statistically significant effect on parent-child relationship (F ratio-2.35).

In the light of above analysis the conclusion may be emerged out that parent- child relationships were not associated independently with achievement level , gender and religion. But in interaction effect high and low achieving groups of boys and girls ,Hindu and Muslim boys and girls produced statistically significant impact on parent-child relationship.

***Conclusion:*** The parents are protecting in nature irrespective of high and low achievement of their children. Equal symbolic punishment is given to both high and low achievers by the parents. Irrespective of achievement the parents equally reject the both for their undue demands and undesirable behavior. The high as well as the low achievers receive equal object punishment for their mistakes. The parents are equally demanding in their children's school achievement ,discipline and don't allow to challenge the authority of the elders. The parents are equally indifferent

and liberal in their attitude towards both high and low achievers. Irrespective of the level of achievements of their children the parents bestow equal symbolic reward for their good behavior and let them feel proud of their good work.Irrespective of level of achievement the parents equally reward the children for their good deeds. The neglecting behavior of the parents is the same towards the high and low achievers. Parents should motivate the child in his studies irrespective of his achievement. Parents should encourage the child in the field in which he has interest. Parents should counsel their wards instead of giving them symbolic or object punishment , so that the child develops confidence in himself and hence can enhance his achievement.

## References


Adedokum, O.A.& Balschweid ,M.A.(2008). The mediating effects of self-esteem and delinquency on the relationship between families, social capital and adolescents educational achievement. *Educate*, 8

Hicks, J.W.(1965). The father-son relationships as perceived by low, average and high achieving ninth grade boys. Reported in Stehbens ,J.A. (1967). Perception of parental attitudes by students varying in intellectual ability and educational achievement. Michigan: University Micropilms Ins. Ann Arbor.

Hillard, T. & Both , R. M. (1969). Maternal attitudes and the non-achievement Syndrome. *Personal and Guidance Journal*. 47(5), 424-428.

Kim, H.S. (2011). Children of divorce fell behind peers in math social skills. University of Wisconsin Madison Published in *American Psychological Review*.

Koskinan , M. & Rosman, B. L.(1974). Social, emotional, cognitive and demographic determinants of poor school achievement. *Journal of Educational Psychology*. 60, 267-276.

Park,Young-Shin ,Kim and Uichol (2006) . Family, parent-child relationship and academic achievement in Korea. Indigenous, Cultural and Psychological Analysis. Korea.Inha University.

Xiao, F. & Chen, M. (2004).Parental involvement and studentsacademic achievement: A meta analysis. *Educational Psychological Review*.13,1-22.

# Child Labor in Indian Carpet Industry and Effectiveness of Labeling Scheme

***M. Rashid Malik & **Dr Rekha Prasad**


## Abstract

This paper aims to examine the issue of child labor in Indian carpet industry. The survey method was selected for this study. A structured questionnaire, containing both close and open ended questions was used for data collection. The study utilizes qualitative as well as quantitative approach to analyze the effectiveness of various social labeling schemes and makes an effort to find the areas of concern. We found that children are no longer employed in the carpet industry and it is no longer an issue of any relevance. The study shows that social labeling schemes have been very effective in eradicating child labor from the industry but have not been very helpful in changing the image of carpet industry as child labor-ridden industry as it was reported in 1990s.


***Keywords:*** Child Labor, Carpet Industry, Social Labeling, India.

## Introduction

Carpet production in India is an age-old and well-established industry predominantly in the cottage sector. India's handmade carpets enjoy a worldwide reputation. Owing to export-led growth, the labour intensive carpet industry in India has emerged not only as major foreign exchange earner, but also as an important provider of employment (Sharma et *al., 2000)*. It has a large and diversified production base, with an estimated 300,000 looms, and provides employment to 15,00,000 weavers and others engaged in carpet-related activities with enormous spin-off and spread effects indicating the backward and forward linkages (Bhattacharya & Sahoo, eds., 1996).

The Indian hand-made carpet industry is a significant contributor to the country's rural economy. The strength of the industry is the small and medium sized exporters with tremendous export potential and the highly talented crafts persons who have been weaving intricate designs of exclusive floor coverings, (Bowonder *et al.* 2005).Carpet industry contributes to the national economy in several ways and provides employment to the rural poor and the economically backward sections of the society. A major portion of the weavers belong to the backward classes or other minority communities. Capital investment in this industry is meager. But the returns are immense in terms of foreign exchange, (Bowonder *et al*. 2005). Apart from earning foreign exchange, the industry provides employment to a large number of people mostly in rural areas and helps in generating supplementary income for their families.

## Child Labor

Historically, children in India have worked in the carpet looms with their own families as a way of learning the family apprenticeship. However, since the mid 1970s under the increased export pressure, child labour in the industry increased tremendously. Export boom' continued until the early 2000s and has since entered into a new phase which is characterized by an overall decline in the production and exports of hand knotted carpets, (Venkateswarlu *et al.* 2006). The reason often given by employers for hiring children is that their 'nimble fingers' enable them

***Research Scholar, FMS, BHU, Varanasi**
****Professor, FMS, BHU, Varanasi**

to weave better carpets than adults. However, there is strong evidence to suggest that this is merely an excuse for using child labour as studies have found that some of the best carpets, those with the highest density of knots, have been woven by adults, (Tegmo-Reddy & Leyla, 1997). But Darbanhosseiniamirkhiz *et al.* (2011) argue that Children work as part of family profession as the hand woven carpet industry is a decentralized industry in which skills and methods have been passed on from one generation to another.

The Child Labour (Prohibition and Regulation) Act of 1986 forbids children (except those working as part of family labour) from being employed in any of the carpet production processes in India. In addition to enacting this law the government of India, following a Supreme Court directive in 1996, has launched a scheme (National Child Labour Project) to wean children away from hazardous occupations and processes and to rehabilitate them in special schools meant for child laborers.

In spite of these laws, several reports described large numbers of children working illegally in the carpet industry of India during 1990s. The reported large scale violations of child rights have caught the attention of many around the world. Being an export oriented industry the process of production has been subjected to close scrutiny. The incidence of child labour has been found to be more prevalent in the production of hand knotted carpets versus other varieties of carpets. The demand for hand knotted carpets in the international market has declined due to change in consumer tastes in favor of cheaper, less durable and modern design carpets rather than more costly, long lasting and traditional design carpets. As a result, the demand for Tufted and Tibetan carpets and durries, which are less labour intensive, is steadily growing (Venkateswarlu *et al.* 2006).

## Social Labeling in Carpet Industry

In order to address the issue of child labour in carpet industry, the concept of 'social labeling' was introduced in the 1990s. The concept was mainly an outcome of heightened awareness about child labour and international pressures to curb its use.

According to Sharma, (2003), social labelling is an initiative introduced in the nineties with a view to eliminating the exploitation of child labour in carpet production in India. Social labelling consists of labelling carpets or company, either embodying a guarantee to consumers that the carpet has been manufactured without using child labour or a commitment towards the elimination of the child labour. Presently, social labelling in India is confined to the carpet industry, which is essentially an export-oriented industry. Social labelling acts as a signal in the market, informing consumers about the social conditions of production, and assuring them that the item or service they purchase is produced under equitable working conditions (Hilowitz, 1997). It is praised as a market based and voluntary, and therefore a more attractive instrument to raise labour standards (Basu, Chau, & Grote, 2006). Labelling programmes attempt to reduce child labour firstly by providing manufacturers with a disincentive to employ children. They try to remove children from the labour force of a particular industry by starting from the consumer and moving back in the marketing chain to affect the production process (Hilowitz 1997).

The four existing social labelling initiatives in the carpet industry in India are:

(a) RUGMARK,
(b) KALEEN,
(c) STEP and
(d) CARE and FAIR.

RUGMARK and Kaleen labels are affixed to individual carpets, while STEP and CARE & FAIR are company certification programmes.

### *RUGMARK*

RUGMARK label was the first labelling programme introduced in the carpet industry in India in 1994. The RUGMARK Foundation is registered under the Indian Companies Registration Act. The Foundation consists of manufacturers, exporters,

NGOs and development organisations. This combination of diverse groups gives the necessary credibility to this labelling scheme and, in particular, the target markets. The RUGMARK label certifies that carpets have been manufactured/ exported without the use of illegal child labour.

### *KALEEN*

Unlike RUGMARK, KALEEN labelling programme is a government initiative, promoted by the Carpet Export Promotion Council (CEPC), under the ministry of textiles. The CEPC is the apex body of the industry in India to promote carpet exports. It introduced the Kaleen label in 1995 for carpets to be exported as a hallmark of commitment towards the eradication of child labour and the welfare of weavers in the carpet industry.

### *STEP*

STEP is a labeling initiative started by members of the carpet trade in Switzerland in October 1995. To provide a better link between Indian exporters and Swiss importers and consumers of carpets, the STEP India office was established in 1996. Unlike Rugmark and Kaleen, Step is a company certification programme.

### *CARE and FAIR*

Like the STEP initiative, CARE and FAIR is a company certification programme and not a product labeling initiative. However, unlike the other three labeling initiatives, CARE and FAIR does not divert its funds on inspections and monitoring of the carpet production as it relies on moral commitment of its members. The office in India is located in the core carpet belt at Bhadohi. CARE and FAIR reflects the concern of several carpet importers and retailers in Germany about the conditions prevailing in the carpet industry and the need to rectify it. CARE and FAIR sponsors rehabilitation projects in India, intended to benefit the weaver households including the child labour. The member exporters in India are expected to work for attaining the aims and objects of CARE and FARE India. As suppliers to the German importers, the Indian exporters are bound by a written agreement and are expected to honor their commitment. Hence, there is no felt need to carry out any inspection of looms.

## Review of Literature

### *Child Labor*

This review focuses on two specific aspects which are related to child labor and the impact of social labeling on child labor which are of particular interest in the context of this article.

Deborah, Anker, Ashraf, and Barge (1998) estimated that in the Indian hand-knotted carpet industry about 22% of the total workforce consists of children which are equal to as many as 130,000 children. A study by Sharma (2003) provides estimates of the incidence of child labor in both looms under social labeling and non-labeling. The incidence of child labor in looms not covered under any social labeling initiative is estimated to amount to about 24% while this varied between 7% to close to 18% in looms covered under social labeling initiatives.

In a backward society where the child mortality rate is quite high, Eswaran (1996) has found an explanation for the incidence of high fertility rates and lower investment in the education of their offspring (and hence the high incidence of child labour) in parents' need for old age security. He has therefore suggested improving the health care services and legislating for compulsory education to eradicate child labour from the system. Basu and Van (1998) have shown that, if child labour and adult labour are substitutes and if child leisure is a luxury commodity to the poor households then unfavorable adult labour markets, responsible for low adult wage rates, are the driving force behind the incidence of child labour. There exists a critical level of adult wage rate, and any adult worker earning below this wage rate considers himself to be poor and not to have the luxury of sending his children to school; he is forced to send them to the job market to supplement low family income out of sheer poverty.

According to Venkateswarlu *et al*. (2006) children working in carpet

looms tend to fall into 1 of 3 main forms of labour: family labour, local hired labour or migrant hired labour. In their study they found that the majority (58%) of children working on the looms belong to the family labour category. Hired labour, both local and migrant, account for 42% (33.19% were local and 8.85% were migrants). The interventions of local NGOs and the government have had some positive impact in addressing the problem of child labour, especially in core carpet region. The situation, in respect to child employment, is not significantly different between the social labeling units and non-labeling units. In the extension and periphery areas people have little knowledge about these initiatives. Findings of their study clearly indicate that compared to the 1990s there has been a decline in the magnitude of child labour in the carpet industry. It follows from the Basu–Van (1998) paper that labour market interventions that raise adults' wages are expected to mitigate the problem of child labour. Dessy (2000) has advocated the imposition of compulsory education as a means to combat the incidence of child labour. He has shown that, in an economy where the benefits of having children are outweighed by costs of rearing them, a policy of free education with no compulsory education laws may lead the economy into an underdevelopment trap with a high fertility rate and a greater incidence of child labour. On the other hand, a compulsory education policy could be expected to eradicate the existence of the evil from the system.

### *Social Labeling*

The literature related to social labeling is just evolving, and mainly restricted to theoretical articles. Basu, Chau, and Grote (2006) provide a theoretical model of North–South trade (Carpet weaving—a business which is susceptible to child labor—takes place in South- developing countries while carpets are mostly used in North- developed countries) and explore the impacts of social labeling on the four often-noted objectives: child labor employment, consumer information, welfare, and trade linkages. They highlight the market responses to social labeling when product market competition between the North and South is based on both comparative cost advantage and the use of child labor as a hidden product attribute. Trade sanctions on unlabeled products deteriorate Southern terms of trade, but do not affect the incidence of child labor in any way. Furthermore, a threat to sanction the import of unlabeled Southern products discourages the South from maintaining a credible social labeling program. In general, the level of monitoring in place critically determines the employment effects of social labeling. A different model is offered by Baland and Duprez (2007). They find that when most producers in the South are eligible to obtain the label, its effectiveness is considerably reduced by a displacement effect. This effect implies that adult laborers replace child laborers in the export sector, while child laborers replace adult laborers in the domestic sector. The label is then not able to create a price premium for the labeled goods as compared with unlabeled goods. However, when there is only a small fraction of producers with access to the label, then the labeled producers generally gain as opposed to the losing non labeled producers. The impact on child labor is in general ambiguous, depending on the strength of the income and substitution effects. Brown (2006) theoretically analyzes the economic mechanics and consequences of product labeling. When product labeling is applied to child labor, she finds that even in the optimistic case in which consumers pay a labeling premium that exceeds the additional cost of adult-only technology, there is no net reduction in the labor force participation of children. Children are better off only when the price premium (i.e., a transfer from the consumers in the North to the children in the South) is used for their benefit.

Besides these theoretical papers, there are a number of empirical papers highlighting selected policy issues. Thus, Hurtado (2002) discusses the legality of government-sponsored social labeling

initiatives under WTO agreements. He first presents the basic characteristics, potentials, and shortcomings of labeling initiatives and then suggests a drive toward government sponsorship as a way to correct the shortcomings. Sharma (2003) examines the impacts of the labeling initiatives vis-a' -vis child labor. He looks at working mechanisms of labeling NGOs and highlights the major strengths and weaknesses of social labeling. Chakravarty and Grote (2009) find in their study that frequent monitoring by labeling NGOs had a positive effect on the reduction of child labor. However, there is always the danger that households who are driven by food poverty either shift their children to less visible sectors (e.g., from carpets to handicrafts), or across the production chain (e.g., from weaving to spinning), or move into the informal sector where conditions are likely to be more exploitative. In fact, it was found that a number of children are moved to the intermediate sector of carpet production, such as the spinning industry which is not monitored by the NGOs. With respect to monitoring, it was also observed, that Rugmark inspectors took initiative to monitor the weaving of carpets but not the other intermediate sectors such as washing, dyeing, and spinning carpets. It can be summarized from the literature review that there is no clear cut evidence on how social labeling impacts child labor. The theoretical as well as the empirical literature comes to ambiguous results on the possible outcomes for working children and their families.

## Problem Statement

Neera and Burra (1995) found in their study that children constitute 75 per cent of the labour force in carpet making. While the Carpet Export Promotion Council (CEPC) and the Indian government considers this to be a grossly exaggerated estimate. According to Venkateswarlu et *al.* (2006) problem of illegal child labour in the industry has almost disappeared and is no longer an issue of any relevance. There are divergent views about the impact of social labeling initiatives in addressing the problem of child labour in the carpet industry, though they helped to create a favorable environment for reduction of child labour from the industry. Baland and Duprez (2007) find in their model that when most producers in the South (developing countries) are eligible to obtain the label, its effectiveness is considerably reduced by a displacement effect. There is no recent study conforming or refuting the above claims. Hence the present study assumes the significance.

## Research Question

The following three important questions arise from this survey:

- Does the issue of child labor still a nightmare for the Carpet industry?
- Whether social labeling helped in reducing the child labor?
- Whether social labeling been able to make positive image of the industry?

## Objectives

- To examine the issue of child labor in carpet industry.
- To analyze the effectiveness of the Labeling Scheme in changing the image of the industry.
- To suggest the measures to eliminate the child labor from the industry.

## Methods of Research

The survey method was selected for this study. In this study 209 enterprises from carpet Industry, who were registered with All India Carpet Manufacturers Association as on May 12, 2012, were chosen as the sample frame. 65 (25.9%) enterprises were surveyed from the high concentrated areas of Bhadohi district including villages like Ghosia, Khamaria, Gopiganj, Ghatampur, Raj Nagar, and Shivpur and Bhadohi city. Area wise simple random sampling technique was used to collect data. Primary data was collected with the help of structured questionnaire of multiple choices. The exploratory cum descriptive research design method is used in the present study. The tools used in the

analysis of data collected include descriptive statistics using Microsoft Excel.

## Analysis and Findings

The purpose of the present study is to examine the issue of child labor in Indian carpet industry and analyze the effectiveness of social labeling schemes. A comprehensive review of the literature on social labeling and its impact on child labor was performed to identify the key aspects of the relationships between social labeling and child labor. Out of 209 exporters, a total of 65 (25.9%) responses were received. Of the 65 respondents, 24 (36.9%) were Proprietor/Owner, 22(33.8%) were Partner and 14 (21.5%) were Managers. Remaining 7.8% respondents were Directors, Merchandiser and Export Executive. The detail of the types of respondents is shown in Table 1.

***Table1: Respondent Category***

| | ***Frequency*** | ***Percent*** |
|---|---|---|
| Proprietor/Owner | 24 | 36.9 |
| Partner | 22 | 33.8 |
| Manager | 14 | 21.5 |
| Merchandiser | 1 | 1.5 |
| Export Executive | 1 | 1.5 |
| MD/Director | 3 | 4.6 |
| Total | 65 | 100.0 |

Out of total 65 carpet organizations that completed the questionnaire, 24 (36.9%) were established before liberalization (1990-91) and remaining 41 (63.1%) were established after liberalization (1990-91) (Table 2). Most of the carpet organizations (70.8) that we investigated were in urban areas of Bhadohi city and remaining 19 (29.2%) were in rural areas of Bhadohi District. (Table3).

***Table 2: Year of Establishment***

| | *Frequency* | *Percent* |
|---|---|---|
| Before 1990-91 Liberalisation | 24 | 36.9 |
| After 1991 Liberalisation | 41 | 63.1 |
| Total | 65 | 100.0 |

***Table 3: Area –wise distribution of Carpet Organizations***

| | *Frequency* | *Percent* |
|---|---|---|
| Urban | 46 | 70.8 |
| Rural | 19 | 29.2 |
| Total | 65 | 100.0 |

Based on the criteria of investment given in the Micro, Small and Medium Enterprises (MSME) Act 2006, we have tried to find out the categories of Carpet organizations. As per the MSME Act 2006, a manufacturing organization that invest up to 25 Lakhs comes under Micro enterprise, a manufacturing organization that invest between25 Lakhs to 5 crore comes under small enterprise and a manufacturing organization that invest between 5 to 10 crore comes under Medium enterprise. It may be observed from table 4 that majority of Carpet organizations (52.3%) were small enterprises, followed by micro enterprises (12.3%) and medium enterprises (4.6%). Out of 65 respondents who completed the questionnaire, 20 (30.8%) had not provided investment detail of their organizations.

***Table 4: Distribution of Carpet Organizations by Investment***

| *Investment in Rs* | *Frequency* | *Percent* |
|---|---|---|
| Up to 25 Lakh (Micro) | 8 | 12.3 |
| 25 Lakh to 5 Crore (Small) | 34 | 52.3 |
| 5 to 10 Crore (Medium) | 3 | 4.6 |
| Not replied | 20 | 30.8 |
| Total | 65 | 100 |

***Table 5: Does the Child labor work in Carpet Industry***

| | *Frequency* | *Percent* |
|---|---|---|
| Yes | 3 | 4.6 |
| No | 60 | 92.3 |
| Not applicable | 2 | 3.1 |
| Total | 65 | 100.0 |

A number of initiatives have been undertaken by the Indian government, NGOs, carpet industry, and International agencies like ILO, UNICEF, and UNDP to address child labor

problem. Following all these initiatives by various organizations, including that of the government, there have been claims in recent years especially from the government and the carpet industry that the problem of illegal child labour in the industry has almost disappeared and is no longer an issue of any relevance, (Venkateswarlu et al 2006).

In our study also 92.3% of respondents indicated that children are no longer employed in the carpet industry (Table 5). It may be observed from table 6 that 90.8% respondents unanimously agreed that child labor has been completely eliminated from the carpet industry. Those who said children still work in the industry, were of the opinion that children work as the family member not as hired laborers and they constitute only 5 to 10% of total work force. They work to learn the art of carpet making. The reason given was that carpet weaving is an art and passes through generation to generation. Bowonder *et al.* (2005) also argue that carpet industry is a de-centralized industry and is a generational craft where skills are passed on from one generation to another.

***Table 6: Has the Child labour been completely eliminated from the carpet industry***

| | *Frequency* | *Percent* |
|---|---|---|
| Yes | 59 | 90.8 |
| No | 4 | 6.2 |
| Not applicable | 2 | 3.1 |
| Total | 65 | 100.0 |

***Table 7: Has the Labeling Scheme helped in changing image of the industry***

| | *Frequency* | *Percent* |
|---|---|---|
| completely changed | 7 | 10.8 |
| slightly changed | 25 | 38.5 |
| No change | 28 | 43.1 |
| Can't say anything | 5 | 7.7 |
| Total | 65 | 100.0 |

We tried to find out the effectiveness of Social Labeling schemes in changing the bad image of carpet industry about the child labor. It may be observed from the Table 7 that 43.1% respondents think that there is no change in the image of the industry by the introduction of labeling schemes. 38.5% respondents said that labeling schemes only slightly changed the image of the industry, while 10.8% were of the opinion that they completely change the bad image of the industry.

## Conclusion

In the extension and periphery areas people have little knowledge about these initiatives. There are still many enterprises which are not member of any social labeling scheme. There is a need to make the carpet manufacturers and exporters aware of the social labeling schemes and their role in increasing the exports. It essentially implies that keeping the child labor away from carpet industry through social labeling would be successful if the national government could ensure basic consumption needs (at least the subsistence level of consumption) for its population. Government interventions that raise adult wages will prevent children coming into the labor markets. Better health care services and old age security will motivate parents to keep their children in the schooling system rather than to send them to earn bread and butter. The newly introduced compulsory and free education also will ensure that the children are not engage in any occupation until they attain a minimum age and education as it makes obligatory upon the parents to send their children to schools. Government should give incentives to the families of the children previously employed in the industry so that they do not move to other less monitored industries. In this way displacement phenomena will not take place and the children's life will be better off. Government as well industry should take measures to regain the lost goodwill and to improve the image of the industry. Social labeling alone will not be able to address the problem.

## References

Baland, J.-M., & Duprez, C. (2007). Are fair trade labels effective against child labour? CEPR Discussion Paper No. 6259.

Basu, A. K., Chau, N. H., & Grote, U. (2006). Guaranteed manufactured without child labor: The economics of consumer boycotts, social labeling and trade sanctions. Review of Development Economics, 10(3), 466–491.

Basu,K. and P. H. Van (1998) "The Economies of Child Labour", *American Economic Review,* Vol. 88, pp. 412–427.

Bowonder,B. Swamy, J. & Mastakar, N. (2005), Regaining Competitiveness using an ICT platform in a Traditional Industry: Adoption of Computer Aided Design for Carpet Weaving, available at http://inderscience.metapress.com/content/ep4x7x8a6wmcab7q/, retrieved on 1-8-2013.

Brown, D. K. (2006). Consumer product labels, child labor and educational attainment, *Contributions to Economic Analysis & Policy*, 5(1), 1–27.

Chakrabarty, S., & Grote, U., (2009), Child Labor in Carpet Weaving: Impact of Social Labeling in India and Nepal, *World Development*, 37, (10), 1683–1693

Darbanhosseiniamirkhiz, M., Shabanifar, S., Ismail, W.K.W., (2011), Adoption of Technology in the Hand Woven Carpet Industry: The Case of Alinasab Carpet Company, *Australian Journal of Basic and Applied Sciences*, 5(10), 551-559.

Deborah, L., Anker, R., Ashraf, S., & Barge, S. (1998). Is child labour really necessary in India's carpet industry?. In R. Anker, S. Barge, S. Rajagopal, & M. P. Joseph (Eds.), Economics of child labour in hazardous industries of India. New Delhi: Hindustan Publishing.

Dessy, S. E. (2000) "A Defense of Compulsive Measures against Child Labour", *Journal of Development Economics*, 62, 261–275.

Eswaran, M. (1996) "Fertility, Literacy, and the Institution of Child Labour", CRESP Discussion Paper No. 36, University of British Columbia.

Hilowitz, T. (1997). Social Labelling to Combat Child Labour: Some considerations. *International Labour Review*, 136(2), 215–232.

Hurtado, C. L. (2002). Social labelling and WTO law. *Journal of International Economic Law*, 5(3), 719–746.

Neera & Burra, (1995): Born to Work: Child Labour in India, Oxford University Press, New Delhi.

Sharma, A. N. (2003). Impact of social labelling on child labour in carpet industry. *Economic and Political Weekly*, 37(52), 5196–5204.

Sharma, A. N., Sharma, R. and Raj, N. (2000), The Impact of Social Labelling on Child Labour in India's Carpet Industry, ILO/IPEC Working Paper.

Tegmo-Reddy, Leyla (1997): 'The ILO and Child Labour (With Special Reference to the Carpet Industry' in Child Labour in the Carpet Industry, V V Giri National Labour Institute, Noida.

Venkateswarlu,D., Ramakrishna, RVSS & Moid, M.A. (2006), Child Labour In Carpet Industry In India: Recent Developments, Report of International Labour Rights Fund.

❖❖❖

# Emerging Market Economics

**Rakesh Kumar**

Emerging markets are nations with social or business activity in the process of rapid growth and industrialization. based on data from 2006 there are around 28 emerging markets (according to 2010 data there are more than 40 emerging markets) in the world, with the economies of China and India considered to be the largest. According to *The Economist* many people find the term outdated, but no new term has yet to gain much traction. Emerging market hedge fund capital reached a record new level in the first quarter of 2011 of $121 billion. The ASEAN–China Free Trade Area, launched on January 1, 2010, is the largest regional emerging market in the world.

## Terminology

In the 1970s, "less economically developed countries" (LEDCs) was the common term for markets that were less "developed" (by objective or subjective measures) than the developed countries such as the United States, Western Europe, and Japan. These markets were supposed to provide greater potential for profit, but also more risk from various factors. This term was felt by some to be not positive enough so the *emerging market* label was born. This term is misleading in that there is no guarantee that a country will move from "less developed" to "more developed"; although that is the general trend in the world, countries can also move from "more developed" to "less developed". Originally brought into fashion in the 1980s by then World Bank economist Antoine van Agtmael, the term is sometimes loosely used as a replacement for *emerging economies*, but really signifies a business phenomenon that is not fully described by or constrained to geography or economic strength; such countries are considered to be in a transitional phase between developing and developed status. Examples of emerging markets include Indonesia, Iran, some countries of Latin America, some countries in Southeast Asia, most countries in Eastern Europe, Russia, some countries in the Middle East, and parts of Africa. Emphasizing the fluid nature of the category, political scientist Ian Bremmer defines an emerging market as "a country where politics matters at least as much as economics to the markets".

The research on emerging markets is diffused within management literature. While researchers including C. K. Prahalad, George Haley, Hernando de Soto, Usha Haley, and several professors from Harvard Business School and Yale School of Management have described activity in countries such as India and China, how a market emerges is little understood. In the 2008 Emerging Economy Report, the Centre for Knowledge Societies defines Emerging Economies as those "regions of the world that are experiencing rapid informationalization under conditions of limited or partial industrialization." It appears that emerging markets lie at the intersection of non-traditional user behaviour, the rise of new user groups and community adoption of products and services, and innovations in product technologies and platforms. The term "rapidly developing economies" is being used to denote emerging markets such as The United Arab Emirates, Chile and Malaysia that are undergoing rapid growth.

In recent years, new terms have emerged to describe the largest developing countries such as BRIC that stands for Brazil, Russia, India, and China, along with *BRICET* (BRIC + Eastern Europe and Turkey), *BRICS* (BRIC + South Africa), *BRICM* (BRIC + Mexico), *BRICK* (BRIC + South Korea), Next Eleven (Bangladesh, Egypt, Indonesia, Iran, Mexico, Nigeria, Pakistan, Philippines, South Korea, Turkey, and Vietnam) and CIVETS (Colombia, Indonesia, Vietnam, Egypt, Turkey and South Africa). These countries do not share any common agenda, but some experts believe that they are enjoying an increasing role in the world economy and on political platforms. It is difficult to make an exact

**Research Scholar, Department of Economics, BRA Bihar University, Muzaffarpur**

list of emerging (or developed) markets; the best guides tend to be investment information sources like ISI Emerging Markets and *The Economist* or market index makers (such as Morgan Stanley Capital International). These sources are well-informed, but the nature of investment information sources leads to two potential problems. One is an element of historicity; markets may be maintained in an index for continuity, even if the countries have since developed past the emerging market phase. Possible examples of this are South Korea and Taiwan. A second is the simplification inherent in making an index; small countries, or countries with limited market liquidity are often not considered, with their larger neighbours considered an appropriate stand-in.

In an Opalesque. TV video, hedge fund manager Jonathan Binder discusses the current and future relevance of the term "emerging markets" in the financial world. Binder says that in the future investors will not necessarily think of the traditional classifications of "G10" (or G7) versus "emerging markets". Instead, people should look at the world as countries that are fiscally responsible and countries that are not. Whether that country is in Europe or in South America should make no difference, making the traditional "blocs" of categorization irrelevant. The *Big Emerging Market* (BEM) economies are (alphabetically ordered): Brazil, China, Egypt, India, Indonesia, Mexico, Philippines, Poland, Russia, South Africa, South Korea and Turkey. Newly industrialized countries are emerging markets whose economies have not yet reached first world status but have, in a macroeconomic sense, outpaced their developing counterparts.

Individual investors can invest in emerging markets either through ADRs (American depositor Receipts-stocks of foreign companies that trade on US stock exchanges) or through exchange traded funds (exchange traded funds or ETFs hold basket of stocks). The exchange traded funds can be focused on a particular country (e.g., China, India) or region (e.g., Asia-Pacific, Latin America).

The FTSE Group distinguishes between Advanced and Secondary Emerging markets on the basis of their national income and the development of their market infrastructure. The Advanced Emerging markets are classified as such because they are upper middle income GNI countries with advanced market infrastructures or high income GNI countries with lesser developed market infrastructures.

## References


- Gowdy, J., *Coevolution Economics: The Economy, Society and the Environment*, Kluwer, Boston, 1994.
- Hayek, F. A. *Individualism and Economic Order*, The University of Chicago Press, Chicago, 1948.
- Larry J.: *Business Valuations, Advanced Topics*, Westport, CT, Quorum Books, 1997.
- Lindblom, C. E.: *A Strategy of Decision: Policy Evaluation as a Social Process*, New York, The Free Press, 1970.
- Loomes, G.: *Current Issues in Microeconomics*, New York: St. Martin's Press, 1989.
- Magnussen, L., *Evolutionary and Neo-Schumpeterian Approaches to Economics*, Kluwer, Boston, 1994.
- Mann, L.: *Decision Making, A Psychological Analysis of Conflict, Choice and Commitment*. New York, Free Press, 1977.
- Marris, R. L., and Wood, A.: *The Corporate Economy*, London: Macmillan, 1971.
- Meyer, M. W.: *Theory of Organizational Structure*, Indianapolis, 1977.
- Nelson, Judy A.: *Feminism, Objectivity and Economics*, London and New York, Routledge, 1996.
- Pennings, J. M.: *Decision Making, An Organizational Behaviour Approach*, New York, Markus Wiener Publishing, 1983.
- Pesendorfer, W.: *The Foundations of Positive and Normative Economics*, New York, Oxford University Press 2008.
- Rappaport, A.: *Creating Shareholder Value, The New Standard for Business Performance*, New York, Free Press, 1986.


❖❖❖

# Emerging Business Models in E-Commerce

**Prashant Saurabh**

Right now more than 20,000 multinationals are operating in emerging economies. According to the Economist, Western multinationals expect to find 70% of their future growth there—40% of it in China and India alone. But if the opportunity is huge, so are the obstacles to seizing it. On its 2010 Ease of Doing Business Index, the World Bank ranked China 89th, Brazil 129th, and India 133rd out of 183 countries.

The Internet of Things (IoT) has the potential to establish transformative business models. As the internet is now reaching beyond IT departments and traditional internet-enabled devices, business models across industries will also change as they adjust to the new realities of what can be delivered in everything from city-wide transit systems to smart homes. The business models themselves are thus changing, and IoT products will help with that shift.

## Retail Model

The most common and most profitable digital business model is that of the *traditional retailer*. The traditional retailer profits by selling products and services directly to buyers at a mark-up from the actual cost. Nearly all bricks-and-mortar retailers employ this complementary business model online, and there are many online-only retailers that employ this business model. The retail strategies employed by digital retailers and physical retailers are often very different.

The *traditional retail* business model translates easily to a digital environment, but there are several aspects of the digital model that differentiate it from the bricks-and-mortar model. For example, a digital retailer can expand its product selection to hundreds of thousands of stock keeping units (SKUs), where the physical retail store is limited by its shelf space. The digital retailer can also stay open 24 hours a day, every day of the year, whereas most physical retail stores cannot afford to keep the lights on every hour of every day. Finally, the digital retailer doesn't have to worry about the infrastructure that comes from physical stores, including the utilities, building maintenance, real estate, and staff overhead required to keep hundreds of stores open.

That isn't to say that the digital retail model doesn't have its own issues to deal with. For example, a digital retailer must develop a robust warehousing and distribution infrastructure with very tight integration with the postal service and companies like FedEx and UPS. Digital retailers often have to pass along shipping costs to customers, whereas the physical retailer builds the cost of shipping and distribution into product pricing.

The customer service skills for a digital retailer are very different from the physical retailer, with an emphasis on phone and online communication, and a majority of support coming after the sale instead of before the sale. Finally, digital retailers must be much more dynamic in terms of pricing and selection because the competition is a single click away.

### *Variations on the Traditional Retail Model*

Not all traditional retailers operate in the same way. There are three common variations: low cost, cost plus, and premium retailers.

### *Low Cost Retailer*

Low cost retailers generally sell to the mass market with a strong emphasis on price over quality or other premium product/service attributes. Low cost retailers typically offer a high

**Research Scholar, P.G. Department of Commerce, V.K.S.U., Ara**

number of SKUs at the best possible price. By emphasizing price, the low cost retailer operates on very low margins and must have the market power to negotiate deep discounts from its suppliers, coupled with significant operational efficiencies.

Amazon and Wal-Mart serve as the best examples of low cost digital retailers. Wal-Mart benefits from its vast size in the physical retail space, leveraging its volume operations in the digital space. Amazon has created its own efficiencies using digital technology, and doesn't have to support physical stores, allowing the company to maintain its price leadership online.

### Cost Plus Retailer

Cost plus retailers generally sell to a segmented mass market, trying to maintain comfortable margins instead of focusing on price, and justifying those margins through quality, service, and selection. Most cost plus retailers choose specific product segments, such as computers and electronics or office supplies, and develop a level of expertise that mass market retailers cannot match. Others may offer a broad product offering but emphasize shopping experience or a higher level of customer service.

Staples and Best Buy represent the best examples of cost plus retailers that focus on specific product categories, while Target is a good example of a cost plus retailer that offers a broad array of products. Each of these represent physical retailers that have successfully transferred their retail expertise to the digital space. Newegg is an example of a digital-only company that is successful as a cost plus retailer.

### Premium Retailer

Premium retailers target highly segmented markets with an emphasis on prestige, quality, and performance much more than price. In fact, many premium retailers find that higher prices positively correlate to the prestige of the brand. In many cases, the premium retailer sells its own branded products instead of reselling other brands. The premium retailer cannot simply mark up Product X when another retailer sells Product X at cost-plus unless it adds some value that justifies the premium price. Instead, premium retailers manufacture their own or work with contract manufacturers to develop name brand products for sale at premium prices.

Williams-Sonoma and Victoria's Secret are examples of premium retailers that have successfully transitioned their physical brands to the digital world. Each has developed its own mainstream premium product category by selling quality, private-label products. Gilt Groupe is an example of a digital premium retailer that has created an outlet to sell other premium brands to a targeted group of customers.

### Strengths and Weaknesses of the Traditional Retail Model

Relative to other digital business models, the *traditional retail* model is fairly simple to execute. Customers understand the retail business model, companies have clear value propositions, and the market presents very high revenue potential to traditional retailers. But the model also has its weaknesses as a result. The high revenue potential ensures that a company will operate in a crowded marketplace with a lot of competitors. This makes it difficult to differentiate from the competition and leads to generally low profit margins (with obvious exceptions like the *premium retail* business model).

Along with a crowded marketplace and the difficulty in differentiation, there is a double-edged sword for traditional retailers in terms of switching costs. In general, switching costs for customers are extremely low. It takes little or no effort ñ particularly online ñ for a customer to switch from one company to another. But low switching costs also provide an opportunity, making it easy for the traditional retailer to poach customers from the competition. Weighing these strengths and weaknesses, traditional retailers spend most of their time fighting for sales volume and trying to build customer loyalty.

### The Traditional Retail Business Model Canvas

Alexander Osterwalder and Yves Pigneur, authors of *Business Model Generation*, have developed the popular business model canvas. The canvas is described as ìa shared language

for describing, visualizing, assessing, and changing business models.î It's made up of nine building blocks that help focus attention on key attributes of a business.

The business model canvas is most useful when looking at specific companies, but I've attempted to create a template canvas for the *traditional retail* business model. While the building blocks will change slightly depending on the company, some blocks are more important than others to the traditional retailer regardless of the company.

### Key Partners

For the *traditional retail* business model, key partners include major brand manufacturers, regional and national suppliers, and local governments. To appeal to a wide variety of consumer tastes, traditional retailers must have access to national name brands and plenty of products. Local governments can strongly influence the choice of retail locations as well as provide tax incentives. Digital retailers are particularly interested in local government actions with regard to sales tax rates.

### Key Activities

Traditional retailers spend significant time and effort shaping the shopping experience (through store layouts and/or website design) and finding opportunities to increase share of wallet and overall order size. Marketing efforts are focused on point-of-sale, up-selling, and cross-selling, encouraging customers to purchase more than what they originally began shopping for. Key for the traditional retailer is determining the correct merchandising mix, offering exactly the right products in the right sizes and colours, along with complementary products. Finally, retailers are now focusing on purchase and customer analytics to better understand buying habits and tastes.

### Key Resources

Successful traditional retailers are able to leverage their brand recognition among customer segments, which is built up through awareness marketing activities. Retailers today focus on optimizing supply chain operations and managing real estate. For digital retailers, the most important resource is brand recognition.

### Value Propositions

The *traditional retail* business model emphasizes convenience as the value proposition. Beyond that, each variation offers a different value proposition: price for the low cost retailer, value and quality for the cost plus retailer, and quality and prestige for the premium retailer.

### Customer Relationships

For the traditional retailer, customer relationships depend on the style of retailer. The low cost and cost plus retailer generally focuses on self service or pre-sale service, while the premium retailer emphasizes personal assistance and post-sale service. Digital retailers focus almost exclusively on self service.

### Channels

The traditional retailer sells through two main channels: bricks-and-mortar retail stores and their own company websites. Sometimes these retailers work with other mass merchants to distribute their own branded products.

### Customer Segments

Most traditional retailers target the mass market, but some choose to target specific segments, such as consumer electronics, home goods, and office supplies. Premium retailers always target specific segments within the mass market, although they often build brands that appeal to the mass market.

### Cost Structure

Because of low margins, traditional retailers are very cost driven. They attempt to create economies of scale to overcome significant fixed costs associated with a large retail footprint. The digital retailer flips much of this upside down with relatively low fixed costs and the ability to grow sales without significantly increasing costs. Premium retailers are more value driven than cost driven.

### Revenue Streams

The largest source of revenue for the traditional retailer is from profit on the sale of products or services. Some retailers also collect rebates and incentives from manufacturers in return for premium shelf space (or website placement) and promotion.

### *Critical Success Factors for the* Traditional Retail *Business Model*

Given all of the above, there are a few critical success factors that can be found in the most profitable traditional retailers. This is true for the physical retailer or the digital retailer. First is the merchandising mix, the lifeblood of most retailers. Merchandising simply comes down to having the right products available in the variations that customer want most. Next is the value proposition, which is inherent in how the retailer positions its brand and markets itself.

Through the use of analytics, companies can optimize the merchandising mix and target its up-selling and cross-selling efforts, as well as learn more about the shopping habits of its target customers. Analytics are a much more important factor in digital retailing, although physical retailers are also learning. Lastly is the ability to foster customer relationships that promote self service, although this factor is less important for premium retailers. These are the critical factors that make companies employing the *traditional retail* model successful.

Starting an online retail business requires patience, diligence and the right online business tools. The E-commerce landscape delivers a wide range of business benefits, including operating a store 24 hours each day. Delivering a simple shopping experience will keep customers coming back to complete purchases. For someone just starting, online retail business can provide a strong environment for building a business. Shopify offers a range of tools to help business owners start and sustain a successful business.

## How to Start an Online Retail Business

One of the most important components of opening a business is the online retail store business plan. The business plan establishes a framework and roadmap for developing the business and directing business activities. Writing an online retail store business plan requires several components that address the marketing, financial and advertising activities business owners will pursue. In addition, the plan includes an executive summary that explains how the business will reach success. Business plans also offer business owners an opportunity to create a business profile that venture capitalists can review; it serves as a vehicle to obtain funding.

Once the business plan is in place, business owners can identify the appropriate business structure. The Internal Revenue Service offers a range of helpful information that can assist people with selecting the appropriate structure. Once the business owner chooses a business structure, they must then file the incorporating documents with their state or county. This establishes the business as a legal entity.

Filing the documentation that legally establishes the business takes care of the offline process. Business owners can then choose an appropriate domain name and set up their website. Following the launch of the website, marketing and advertising efforts should begin, although many people build up a "buzz" about their products using social media tools prior to launching the website. The online retail store business plan should provide the foundation for developing the marketing strategy. Starting an online retail business also requires that business owners select the appropriate business model.

### *Online Retail Business Model*

The online retail business model provides a foundation for delivering products to consumers and generating revenue. Online retail business opportunities are numerous and choosing the appropriate business model for selling products can make or break a business opportunity. For example, the E-commerce model delivers a catalogue through a website that provides a shopping cart. The website serves as a catalogue that customers can review and select items to purchase. The E-commerce online retail business model requires an online shopping cart solution. Shopify offers an e-commerce hosting package that delivers important tools, including email, a domain name and unlimited bandwidth.

### *Online Retail Business Opportunities*

Multiple online retail business opportunities exist and selecting the appropriate model depends significantly on what a business owner wants to accomplish and how involved they are willing to be. If a business owner is just starting, online retail business prospects deliver a range of moneymaking opportunities, from selling handcrafted products to sourcing products from distributors. For example, some business opportunities allow business owners to sell products and have them drop shipped if the business owner does not have a warehouse to store goods. Other opportunities require the business owner to house products, arrange for their purchase and manage the distribution process.

## Advisory Model

An e-commerce advisor (e-com advisor) is a professional who assists online companies in managing their daily businesses with the help of financial and marketing computer applications. E-com advisors implement solutions that propel profits in electronic commerce (e-commerce) and enhance business productivity. In e-commerce, these advisors may be vendors or in-house professionals who are experts at back-office direct billing and real-time transactions, among many other tasks. The business platforms they offer to e-commerce companies speed up and organize just about every type of online transaction contained in the business, resulting in cost containment and improved business outcomes. Applications replace the need to hire extra accounting staff.

### *Made-to-order Manufacturing Model*

Made-to-order manufacturing model is used when someone requests the item, so that the item can be customized as desired by the person who requested it. Most fast-food purchases, such as burgers or sandwiches, are made to order; the food has been cooked, and items are warm, but the final product is not assembled until the customer has actually ordered it. This way, if the customer has any special requests, the staff is able to accommodate them. As another example, a woman could purchase a made to order dress; this dress would be sewn to the size she requests, and would use the fabric and pattern she desired. Also called build to order.

Manufacturing has been getting smaller, cheaper, and more flexible for years. It's now possible to make products as sophisticated as smart cel-phones, PDAs, toys, clothing, books, and even houses in almost any shape or form you want down to very small numbers. The mass production barrier has fallen, so that today, it's possible for a home inventor, hobbyist, or crafter to create almost anything by assembling one-off manufactured components, either from a service or from affordable home-fabrication equipment (or a combination of these).

Once upon a time, almost everything was made to order — one unit at a time. In the early to mid 19th century, though, that changed, along with the industrial revolution, and it became much cheaper to "mass produce" products. Over time, these economies of scale became so great that more and more expensive-to-prototype devices became commonplace.

Eventually, we became very dependent on these objects, so their mass-production model imposed a kind of material conformity on society: we drove mass-produced cars, talked on mass-produced phones, watched mass-produced televisions, cooked on mass-produced stoves, wore mass-produced clothing, and eventually used mass-produced computers.

Manufacturing production was centralized and the economy focused on selling millions of identical objects to millions of customers.

However, ever since the computer was invented, the trend has been slowly reversing. Programmable machines can make many different parts instead of just repetitively churning out the same ones. For many years the cost and flexibility advantages of this were taken up by industry, because the equipment was still very expensive. But by the turn of the 21st century, most manufacturing equipment for most kinds of consumer products had gotten down to the budget of a small shop or a very serious hobbyist.

At the same time, the growth of free software, free culture, and open hardware have produced enormous libraries of design data from which new designs can be made

With internet trends like "social networking," "crowd-sourcing", and the ubiquity of network access for small businesses, there is new trend of easy-to-use online service manufacturers. With open hardware designs, enabled by free software design tools, these services become a way to materialize free designs into custom, made-to-order hardware.

We still have some way to go before products cost as little to prototype as they do to manufacture in quantity, but today "quantity" may mean 10 or 100 units, not tens of thousands. And for many "print-like" products, the cost of a single prototype may be less than twice the marginal cost. Whereas once, there were enormous entry barriers to creating any new product, today the only real barrier is how much time and effort you want to spend on creating a custom design. The actual cost of tooling for manufacturing is becoming — if not quite negligible — at least very affordable.

### *Split It, Fab It, Assemble It, Programme It, Use It*

Many designs involve a relatively limited range of fabricated components, which are then assembled. A typical cell phone, for example, combines a printed circuit board (PCB), several integrated circuit "chips", an assortment of discrete electronic components, a few wires (not very many), a rechargable battery module, a rubber or plastic keypad, and a metal or plastic chassis. Fancier phones (all the new smartphones) also have a colour LCD display, which is probably the single most limiting mass-produced element you would have to use.

Today, a cel phone could be designed to an open hardware design, the parts fabricated using online made-to-order manufacturing services, and then assembled at home. The resulting hardware could have a free software operating system and a smart phone "stack" such as Android could be installed on it, allowing you to essentially design your own smartphone from scratch, with exactly the capabilities you want, and any external appearance that you like.

The discrete components are highly standardized and available from many different manufacturers. They are mass-produced, have many different applications, and are unlikely to disappear from the marketplace. Most likely, I would buy these from someone like Mouser Electronics, but there are many different suppliers. The battery, battery clips, wire, and mounting screws would be acquired in the same way. For mechanical components (small spur gears or bearings) you might look at Stock Drive Products, Berg, or Small Parts. Or you might go to your local hardware store.

## References


Albert, Ethel, Theodore, Denise & Shelby, Peterfreund : *Great Traditions in Ethics,* Delhi, Eurasia, 1987.

Ball, C. & Dunn, L. : *Non-Government Organization: Guidelines for Good Policy and Practice,* London, The Commonwealth Foundation, 1995.

Benería, Lourdes. *Gender, Development, and Globalization, Economics as if All People Mattered,* New York and London, Routledge, 2003.

Cheruniam, F. : *Global Economy and Business Environment,* New Delhi, Himalaya Publishing House, 2001.

Dunfee, T. : *That Bind: A Social Contracts Approach to Business Ethics,* Boston, HBS HBS Harvard Business School, 1999.

Fukuyama, Frances : *Trust: The Social Virtues and Creation of Prosperity,* London, Hamish Hamilton and Free Press, 1995.

Sims, Ronald R. : *Ethics and Corporate Social Responsibility: Why Giants Fall,* New York, Praeger Publishers, 2003.

Tietenberg, Tom, *Environmental Economics and Policy,* New York, HarperCollins, 1994

Tinbergen, Jan.: *On the Theory of Economic Policy*; Amsterdam, North-Holland 1952.

Utting, P. : *Business Responsibility for Sustainable Development*, Geneva, 2000.


❖❖❖

# Historic Aspects of Stenography

**Praveen Bhardwaj**

Language is broadly used in two forms: written and oral (i.e phonetic). Whereas a beautiful language-script is essential for its written form, a relatively easy, short and facile script (shorthand) is necessary for speedy transmission of thoughts. Shorthand, that is to say, the script which aims at the maximum speed in the transmission of thought is, in a sense, the last stage of the history of writing.

Writing is not an end in itself. We need systems of writing not only as beautiful or fine as possible, but as well fitted to the purpose for which they are required. When constructing any system or Theory of Shorthand, speed must be the supreme guide and accuracy the valid test.

## Utility of Shorthand

The utility of shorthand is not new to human history. It has been used for more than 2500 years. Notari (reporters) used to report the speeches of Roman Senators. Shorthand was used to write the sermons of religious leaders of the Church. George Bernard Shaw wrote all his literature in shorthand. King Julius Caesar is also known to have written in shorthand. There are stories of writing Mahabharata by Lord Ganesha taking dictation from Vyasa also indicates a system of Shorthand writing in ancient India. In Mughal period Qatibs (reporters) were appointed to take down Shahi Fermans (orders of king).

## Development of Modern Shorthand

Shorthand is an abbreviated symbol writing method that increases speed as compared to a normal method of writing a language. Shorthand is an 'art' that is totally different from the other languages. The art of stenography means to write a communication in shorthand and then transcribe it in the respective language script. The process of writing in Shorthand is called stenography. This word is made up of two words namely Stenos & graphy/graphie/graphe. Steno means narrow and graphie means writing. The word graphy/graphie is derived from Graphein which means the art of writing. Thus the art of stenography includes type-writing and shorthand writing, That's why these are twin-arts. It is also called brachygraphy or tachygraphy (tachys means swift, speedy depending o whether compression or speed of writing is the goal. It is a system of rapid writing that uses signs/words/word-group abbreviations to achieve the correct transcription of speech and a more simplified and efficient technique of writing. The speed of Shorthand is usually four to seven times that of ordinary writing.

In brief rapid system of writing may be used in transcribing or recording the spoken word. Such systems, many having characters based on the letters of the alphabet were also used in ancient times, The shorthand systems of Tiro, Ciecero's were used for centuries. Modern system started from 1588 when Timothy Bright published his 500-odd symbols for words. This book named 'An Art of Shorte Swift & Secret Writing'. It is supposed to be the first book of modern shorthand principles published in the name of Bright Character, which was based on phonetic principle. A French system was developed by Jacques Cossard in 1651 . John Willis published The Arte of Stenographie, there after dozens of system came before 1837, when shorthand system of Sir Isaac Pitman was introduced,

## Sir Isaac Pitman Shorthand System

In all approximately 3000 systems of shorthand were introduced in all over the world.

**Ph.D Scholar, Singhania University, Rajasthan**

In England only approximately 460 systems were introduced and failed before Isaac Pitman's system was introduced. This system was introduced in 1837, which superseded Taylor system. Sir Isaac Pitman was English teacher, he improved his system from time to time. His system was based on pronunciation that is why it succeeded a lot as compared to other systems. Pitman's system has been used all over the English-speaking world and has been adapted to other languages including 'Latin'. This system used phonemic orthography which means 'sound writing' in Greek. One of the reasons this system allows fast transcription is that vowel sounds are optional when only consonants needed to determine a word. The record of fast writing with Pitman shorthand is 350 words per minute during a two minute test by Nathan Behrin in 1922. This shows the success of this system.

## Gregg Shorthand System

Pitman shorthand system was being used word-wide including America by the year 1888, when John Robert Gregg published 'Gregg' shorthand. This system like Pitman was phonetic but has the simplicity of being light-line. Pitman system used thick and thin lines for related words whereas Gregg used only thin lines of different length. No position writing is introduced in this system resembling the ideas of Pitman's shorthand . This system failed to gain much popularity in India because of its long hand Roman style, contrary to the writing systems in Indian languages. Many attempts were made in the year 1929, the Anniversary Edition in 1948, 1963, The Diamond Jubilee Edition and in 1978, the 90th Anniversary Edition were the attempts to make it simpler. But long outlines took maximum time that slowed the speed of writing. So, with each effort to make it simpler, could not help. Thus this system could not become popular.

## Sloan-Duployan Shorthand System

Mr. J. M. Sloan of Paris brought out an adaptation to English of the French system of Duployan in 1884, which was later named after him. It is a phonetic system with paired consonants long & short lengths representing 28 sounds of the French language. The vowels are indicated by circles of different sizes and shapes, which can be written in any direction. Sloan retained the geometric symbols of original Duploye with a few changes. Several adaptations of Duployan were developed for writing English including those by Helen Pernin, J. Mathew Sloan, Denis Perrault, Carl Brandt and Ovorge Galloway. Unlike other Duployan shorthands, Sloan-Duployan uses a thick or heavy stroke to indicate the addition of 'R' sound to a letter. Although not found in the other Duployan shorthands contrastive thick and thin strokes are common in other shorthand like Pitman shorthand, where a heavy stroke would indicates the voiceless and a light stroke indicates a voiceless version of the same consonant.

This system failed to gain much popularity because Pitman's shorthand was already more reliable than this system of shorthand.

## Simple (Pitman) Shorthand system

The latest system of Simple (Pitman) Shorthand was published in 1987 after a long outstanding research and experimentation by Dr. G. D. Bist, the first ever Ph.D of Stenography in the world. The author has Limca & Guinness record holder for the highest shorthand writing speed of 250 words per minute. Based on the linguistic study, this system rectifies the deficiencies of pitman's system. The linguistic classifications of Diphthongs, Triphthongs, Diaphones and Triphones logograms and grammalogues, Alternative forms of R,L,W,Y,H and Sh, St loops , compound consonants etc. This system is best suited for bilingual stenography in Indian languages.

## Conclusion

Thousands of shorthand systems were evolved all over the world but in connection with the English language

particularly Pitman system was popular and and still in use. The basic reason of its success was; it was based on pronunciation. Before this system maximum systems failed in Britain. In 17th century Sanskrit was being taught in England, which was phonetic language. The success of this system was the study of Sanskrit language in England in 17th century. The academicians noted that Sanskrit is based on pronunciation and has great accuracy. They also understood it was ancient language and maximum languages were derived from this language in India. So Pitman system was evolved keeping in mind Indian Sanskrit language. Though with some minor deficiencies this system is the best one in all prevailing systems. Simple (Pitman) Shorthand may be treated a latest accurate version in all respect.

## Refrences


1. Stenographia Duploye by Sloan-Duployan in the year 1860
2. History of Shorthand: A select list of shorthand systems
3. The Teacher's Manual in Stenography by Dr Gopal Dutt Bist
4. Pitman Shorthand Instructor by Sir Isaac Pitman.
5. Simple Shorthand by Dr. Gopal Dutt Bist.


❖❖❖

English

# Inter-Semiotic Translation: Shakespeare on Screen

**Yashodhara Prasad**

In his classical article James S. Holmes referred to the relations between translation studies and other disciplines. He considered two possibilities: translation studies as a branch of other disciplines using their concepts, models and paradigms, and as an autonomous discipline relying on its own resources. Following in the footsteps of former researchers (e.g., Cattrysse 1992), this article considers another possibility: translation studies as a discipline that – due to its capacity to encompass inter-semiotic translation as one of its objects – can give a unique perspective on topics which are usually dealt with in the framework of other disciplines, such as literature, theatre and film studies.

The starting point for this line of thought is an argument made by the semiotician Roman Jakobson (1987, first published in 1959). Jakobson claimed that the meaning of a sign is its translation into another sign or sequence of signs in the same language, in another language or in another semiotic (e.g., visual) language. Following Jakobson, Itamar Even-Zohar (1990a, 1997) elaborated a theory of transfer, which applies to all variations of the following phenomenon: a text which was created in a cultural system A is re-created in a cultural system B.1 Even-Zohar's theory of transfer, rooted in his polysystem theory, has been used in research dealing with transfer within one language (Shavit 1986) and from literature to the cinema. An attempt to map the forms of transfer implied by his theory has been made by Weissbrod (2004). The present article applies the ideas of Jakobson and Even-Zohar to an analysis of the cinematic adaptation of plays originally written for the theatre specifically – Shakespeare's plays.

The cinema has been interested in Shakespeare since its earliest days (Rothwell 1999). Screen adaptations of his plays have served various purposes: proving the relevance of the Bard to our times, manifesting the ability of the cinema to cope with works originally written for the Elizabethan theatre and obtaining what Bourdieu called "cultural capital" (Cartmell 1999). To analyse these adaptations, the following discussion also draws on theories which have been developed outside translation studies and deal specifically with the relations between the cinema and the theatre. The use of such theories in combination with Even-Zohar's transfer theory is in line with his claim (1990a: 74) that it is only in the framework of a general theory of transfer that particular procedures pertaining to a specific form of transfer can be discovered. The present article relies on the classic works of Nicoll (1936) and Beja (1979). To examine how modern filmmakers deal with the antiquity of the Shakespearean source, a reference is made to Holmes' assumptions regarding the translation of texts created in the past (1988b, first published in 1971). Rather than indulging in literary, theatrical and cinematic issues as such, the focus is therefore on cinematic adaptations of Shakespeare's plays as a case of inter-semiotic and inter-temporal translation.

The concepts which are basic to Even-Zohar's transfer theory (1990a, 1997) are "system", "repertoire" and "model". A "system" is conceived as a network of relations between cultural phenomena which occupy different positions vis-a-vis each other. A culture tends to function as a macro-system comprising many partly overlapping systems (e.g., the theatre, the cinema). The system's products (e.g., theatrical plays, films) are created with the help of the system's repertoire. The repertoire supplies the producer with single elements as well as models – "ready-made" combinations of elements and the rules of combining them. The use of existing models makes both the creation and consumption of products easier. A model serves as a "recipe"

**Associate Professor, Department of English, J.D. Womens' College, Patna**

for the creation of the complete product. If the product is a text, the model at its base determines the genre to which it belongs. However, the term also applies to certain aspects of a text, e.g., the photography or lighting when the text under study is a film. A change in the model is brought about by adding/ removing one or more elements and by combining models.

The use of the repertoire (e.g., preferring some models to others) is determined mainly by norms (Toury 1995: 53-69) – instructions for actual behavior which reflect the values and ideologies prevalent in a cultural system or some part of it. In the case of transfer – the re-creation in a system B of a text originating in a system A – the norms guide the producer to reconstruct the source closely, adapt it to the existing repertoire of the target system or make some compromise between these two extremes.

Shakespeare's plays originated in a specific cultural system: 16th-century English theatre. While the playwright used contemporaneous models, he generally deviated from them and introduced additional complexity. In Hamlet, for example, he transformed the then common play of vengeance into what we now call a "Shakespearean tragedy". This article discusses the adaptation of Shakespeare's plays to other systems, remote in many respects: English, American and Japanese cinema of the 20th and 21st centuries. It also refers to television adaptations, specifically those made for the BBC.

Since translation studies and Even-Zohar's transfer theory do not deal specifically with the relations between the cinema and the theatre, an additional theoretical framework is needed. The present article relies on the works of Nicoll (1936) and Beja (1979) which seem to retain their validity despite the time that elapsed since their first publication. In performing a play, either Shakespearean or other, the starting point for both the theatre director and the filmmaker is the original written text.

One turns it into a stage performance, and the other – into a film. Every performance, theatrical or cinematic, implies an interpretation of the play. The very fact that living actors read the dialogue, using intonation and body language, involves interpretation – theirs or the director's – even if the script used is very close to the original play. Following Even-Zohar's and Toury's line of thinking, the interpretation probably involves models and norms pertaining to the target system. The cinematic performance is bound to differ from the theatrical one because the two rely on different repertoires. The question which arises is whether there are any essential differences between the two media, or art forms, which give rise to the different models and norms. According to Nicoll and Beja, such differences do exist.

The cinema shares two important constituents with the theatre – the mise en scène (the term referring to everything situated in front of the audience or camera – setting, actors, costumes, etc.) and sound (dialogue, music, various noises). However, it differs from the theatre in its use of photography, including shooting from low, high or diagonal angles, from short or long distance; moving the camera from place to place; combining black and white with colour and so on. In the process of editing, it is possible to affect the final product by manipulating the order of the shots and how they are combined (Giannetti 2005). The theatre has other capacities. As every performance is a live and one-time occurrence, the actors can improvise and communicate with the audience. However, the most significant difference between the cinema and the theatre according to Nicoll is in how they depict reality. A film can create an effective illusion of a real world. The camera can be taken to real places. It can photograph masses of people (e.g., an army) and large objects (a ship, a plane) or magnify very small things (an ant crawling, a tear being shed from an eye). Moreover, the picture can show everything in detail. Therefore, the cinema can make even an imaginary world look real.

In the theatre it is more difficult to create an illusion of a real world. Reality cannot be brought to the stage. As a consequence, reality in the theatre is often presented artificially and schematically: a forest is represented by a tree made of cardboard; a fluttering sheet symbolises a stormy sea and so on. The most extreme manifestation of artificiality is the use of masks to substitute human facial expressions, which cannot be discerned from a distance. According to Nicoll,

the greatness of the theatre lies in this "limitation". The characters are easily understood as types, and the events as allegorical.

Not hindered by the concrete and specific, the theatre can give expression to the most abstract and general ideas. For example, King Lear can be performed as a play about old age and ingratitude. In the cinema, realism may easily shift the focus to questions such as who was Lear, where and when did he live, and so on. While dealing with Shakespeare's plays, it should be taken into consideration that they were originally intended for the Elizabethan theatre. This means that the theatrical models used were very different from contemporary ones (Astington 2001). The use of settings and decorations was minimal. The spoken words were supposed to activate the imagination of the audience. All performances took place during the day, and if the enacted events were set at night or in a dark place, the darkness had to be imagined. Women were not allowed to act on stage, and their roles were performed by young boys whose voices had not changed yet. The spectators were physically close to the stage, and since they did not sit in the dark as they do today, the actors could easily communicate with them. From the point of view of a modern spectator, in this theatre and in contemporary performances which try to simulate it, the lack of realism – which is not necessarily a disadvantage according to Nicoll – was at its extreme.

## References


- Bentley, Gerald E. *Shakespeare's Life: A Biographical Handbook*. New Haven, Conn.: Yale University Press, 1961.
- Chute, Marchette. *Shakespeare of London*. New York: E. P. Dutton, 1949.
- Cohen, Derek. *Shakespeare's Culture of Violence*. London: Macmillan, 1993.
- Greene, Robert. *Groats-Vvorth of Witte, Bought with a Million of Repentance. The Repentance of Robert Greene, 1592*. Edinburgh: Edinburgh University Press, 1966.
- Gurr, Andrew. *Playgoing in Shakespeare's London*. 2nd ed. Cambridge: Cambridge University Press, 1996.
- Harrison, G.B.. *Introducing Shakespeare*. 3rd ed. London: Penguin Books, 1991.
- Holden, Anthony. *Willam Shakespeare: The Man Behind the Genius*. Boston: Little, Brown, 1999.


❖❖❖